भगवत्सेवा का सिद्धांतशुद्ध प्रकार (एक प्रश्नोत्तरी)

?

!

गोस्वामी
श्याम मनोहर

समर्पण

मानव की स्वभाव सुलभ लज्जा अथवा भीति के कारण हम अपने गुनाहों को सार्वजनिक रूप से कदाचित स्वीकार न कर पाते हों, यह किसी भी मनुष्य के लिए समझने जैसे बात है। किसी भी परिस्थिति में जो क्षम्य नहीं है वह बात है – अपने गुनाहों या अपसिद्धान्तों को सिद्धान्त रूप में प्रतिष्ठापित करना अथवा स्वीकार करना। जो मनुष्य ऐसे कुकृत्य करता हो उसका अन्तरात्मा उसके हृदय को कचोटता ही रहता है। ऐसे पुष्टिमार्गियों के हृदयों को कचोटने वाले उस अन्तरात्मा को यह ग्रन्थ समर्पित करते हुए ...

गोस्वामी श्याम मनोहर

अनुवादक के दो बोल

महाप्रभुजी-श्रीप्रभुचरण की महती कृपा से प.पू. श्री श्याम मनोहर जी गोस्वामी (किशनगढ़ पार्ला) कृत 'भगवत्सेवानो सिद्धांतशुद्ध प्रकार' का हिंदी अनुवाद प्रस्तुत करते हुए संतोष और कृतार्थता का अनुभव हो रहा है।

महाप्रभुजी श्रीवल्लभाचार्यजी का सिद्धांत अपने सेव्यप्रभु की निजगृह में सेवा का है जिसमें ''तत्सिद्धयै तनुवित्तजा'' ''गृहेस्थित्वा स्वधर्मत:'' आदि बहुत से वचन प्रमाण हैं। कालांतर में यह भगवत्सेवा सार्वजनिक और अर्थ कमाने के साधन के रूप में विकसित हो गई। इसमें दीक्षादाता दोषी है या दीक्षार्थी, यह एक अलग विवेचन का विषय है। भूल से या अज्ञानवश किए गए कार्य की क्षमा संभव है पर भूल को दोहराते रहना, यहां तक कि उस पर वितर्क-कुतर्क कर भूल को ही सिद्धांत के रूप में सही प्रमाणित करना अक्षम्य अपराध है। भूल से या अज्ञानवश हम पुष्टिप्रभु और महाप्रभुजी के अपराधी नहीं बन बैठें इस हेतु से पूज्य श्रीश्याममनोहरजी द्वारा प्रस्तुत पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवा का सैद्धांतिक और तार्किक विश्लेषण न केवल हमें इस जघन्य अपराध से बचाने में सक्षम है अपितु पुष्टिपथ पर भटकने से रोकने में भी सक्षम है।

श्रीमहाप्रभुजी के मार्ग में भगवत्सेवा स्वयं के तन-धन और परिजन के साथ ही हो सकती है यह तो ग्रंथ के आरंभ में दी गई अभिप्रायामृतावली से सिद्ध है।

यह भी सुविदित और सुस्पष्ट है कि महाप्रभुजी के परवर्ती उत्तराधिकारियों की हवेलियों के मंदिरीकरण, न्यायालयों में स्वमार्गीय सिद्धान्तों के सम्यक अर्थान्वयन के अभाव और गर्हित स्वार्थों की पूर्ति के लिए बाह्याडंबरों भरे भक्ति के दिखावे तथा धन-लिप्सा के लिए कथा-पंडालों के वैभवी आयोजनों ने पुष्टिमार्गी प्रभु-भक्ति और भगवत्सेवा की उदात्तता को नष्टप्राय कर दिया है। सार्वजनिक हवेलियों को सत्संग भवनों में परिवर्तित कर देने के पूज्य श्रीश्याममनोहरजी के सुझाव पर श्री अमृतलाल व्यास, हिम्मतनगर द्वारा उठाई गई शंका-कुशंकाओं का खंडन और समाधान पूज्य श्रीश्याममनोहरजी द्वारा किया गया था।

पुष्टिसिद्धांतचर्चासभा, मुम्बई (10 से 13 जनवरी,1992) के दौरान कार्यसूची की निर्धारित शर्तों के अनुसार सिद्धांताभिमत विषयों के लिखित भावानुवाद चर्चासभा के समक्ष प्रस्तुत करने के मुद्दे पर श्रीहरिरायजी महाराज, जामनगर द्वारा किए गए हीले-हवाले, छल-छद्म व शाखाचंक्रमण का गोस्वामी श्रीश्याममनोहरजी ने पूर्वाचार्यों के वचनों को उद्धृत क़रते हुए अकाट्य प्रमाणों के साथ न केवल निरास किया है बल्कि श्रीमहाप्रभुजी द्वारा प्रतिष्ठापित शुद्ध सिद्धांतों को भी व्याख्यायित

कर सुस्पष्ट किया है। इस दृष्टि से यह पुस्तक वाल्लभमत के अध्येताओं, शोधार्थियों और समालोचकों का पथ भी निर्वात-निष्कंप दीपशिखा की भांति सदैव आलोकित करती रहेगी।

इस ग्रंथ के हमारे हिंदी अनुवाद में यथावश्यक संशोधन, संवर्धन और संदर्शन स्वयं पूज्य श्रीश्याममनोहरजी ने किया है जिसके लिए हम सदैव आपश्री के ऋणी रहेंगे।

आशा है कि हिंदीभाषी वैष्णव जनता भी इस ग्रंथ में प्रकट हुए नीर-क्षीर विवेक को हृदयंगम करेगी।

- अनुवादक

* * *

अभिप्रायामृतावली

(जो कटोरी (गहने) धरिके सामग्री आई सो तो भोग ठाकुरजी आप ही के द्रव्यकुं आरोगे सो आप ही को भयो। जो श्रीठाकुरजी को द्रव्य खायगो सो मेरो नाहिं अरु मेरो सेवक भगवदीय होयगो सो देवद्रव्य कबहूं न खायगो। जो खायगो सो महापतित होयगो। ताते वा

(1) प्रसाद में भोजन करिवेको अपनो अधिकार न हतो, या के लिए गोअनकों खवायो अरु श्रीयमुनाजी में पधरायो (यह सुनिके सब वैष्णव चुप होय रहे) (श्रीमहाप्रभु:घरुवार्ता-3)

(2) धनादि कामना पूर्ति के लिए जो शास्त्रविहित श्रवण-कीर्तन-अर्चन आदि किये जावें हैं उनकुं कर्ममार्गीय समझने। उदरपोषणार्थ आजीविकाके उपार्जन के रूप में जो श्रवण-कीर्तन-अर्चन आदि किये जावें उनकुं तो खेतीबारी की तरह लौकिक कर्म ही कहनो चाहिए। मलप्रक्षालनार्थ गंगाजलकुं प्रयोग में लावे जेसो वो निषिद्धाचरण है, और ऐसो दुष्कृत्य करने वालो पापभागी भी होवे है।
(श्रीप्रभुचरण, भक्तिहंस)

(3) अपने सेव्य स्वरूप की सेवा आप ही करनी। और उत्सावादि समयानुसार, अपने वित्त अनुसार करने, वस्त्राभूषण भांति-भांति के मनोरथ करी सामग्री करनी।
(श्रीगोकुलनाथजी-चतुर्थेश: 24 वचनामृत)

(4) जब संतदास को सगरो द्रव्य गयो तब श्री ठाकुरजी की सेवा में मंडान श्रीठाकुरजी के द्रव्य से राखे और श्रीठाकुरजी के द्रव्य में तें चौबीस टका पूंजी करि कोड़ी बेचते। सो श्रीठाकुरजी की पूंजी में तें तो कासिद को दियो न जाय, सो कमाई को टका दिये। तब इनकी मजूरी को राजभोग को न भयो सो महाप्रसाद हू न लिए। टका के चून को न्यारो

राजभोग को धरते, सो राजभोग जानते, महाप्रसाद लेते, और नित्य को नेग बहुत श्रीठाकुरजी के द्रव्य सों होतो, तातें आपुनी राजभोग को की सेवा सिद्ध न भई (जाने) कासिद को दियो सो नारायणदासको को लिखें जो तुम्हारी प्रभुता ते, एक दिन राजभोग को नागा पर्यो जो मेरी सत्ता को भोग न धर्यो! या प्रकार संतदास विवेकधैर्याश्रय को रूप दिखाये, विवके यह जो

श्रीगुसांईजी को हुंडी पठायी-आपुनी सेवा न भयी-सो राजभोग को नागा माने। धैर्य यह जो श्रीठाकुरजी के द्रव्य से खान पान न किये। आश्रय यह जो मन में आनन्द पाये-दु:ख क्लेश न पाये।
(श्रीहरिरायजी द्वितीयेश: भाव प्रकाश 84 वैष्णव: की वार्ता-76)

(5) पारिश्रमिक के रूप में वित्त दे के कोई दूसरे के द्वारा सेवा कराई जावे तो चित्त में अहंकार तो बढे परन्तु वो भगवान में कभी चोंट नहीं सके। भगवत्सेवार्थ कोई दूसरेसूं पारिश्रमिक धन लिये जावेपे तो, जैसे पंडा-पुरोहितनकुं यज्ञयागादि को फल नहीं मिले परंतु यजमानकुं ही मिले, वैसे ही सेवाकर्ता की सेवा निष्फल बन जाय है। यजमान, जैसे, दक्षिणा दे के पुरोहितन के द्वारा यज्ञयाग करा लेवे, वैसे ही भगवत्सेवा (आजकल जैसे पुष्टिमार्गीय हवेलीन में वैष्णवगण गुसांई-मुखिया-भीतरिया-समाधानी की बटालियनसूं करवा लेवें हैं वा तरह: अनुवादक) करा लेवे में क्या बुराई? वहाँ कर्ममार्ग में वो विहित होवे से पुरोहितनसूं कर्म सम्पन्न करा लेनो आपत्तिजनक नहीं है। भक्तिमार्ग में परन्तु, या तरहसूं भगवत्सेवा करालेवेको कहीं विधान उपलब्ध न होवेसूं, कोई दूसरेकुं धन दे के सेवा करनो अनुचित ही है। भक्तिमार्ग में तो भगवदुक्त प्रकार (निज घर में निजपरिजन के सहयोग द्वारा निजी तन-मन-धनसूं ही) भगवत्सेवा करनी चाहिए।
(सुरतस्थ 3/2 गृहाधिपति श्रीपुरुषोत्तमजी:सिद्धा:मुक्ता:विवृ:प्रकार:2)

(6) अत्र गृहस्थानविधानेन, स्वगृहाधिष्ठित-स्वरूप-भजन-परित्यागेन अन्यत्र तत्करणे भक्तिः न भवति, इति सूचितं भवति अर्थात यहाँ सेवापयोगी स्थान के रूप में निज घर को विधान उपलब्ध होवेसूं, अपने घर में बिराजते ठाकुरजी की सेवा छोड़ के कोई दूसरी जगह (अर्थत हवेलीन्में, जैसे आजकल, भेंट-सामग्री चढाके नित्य या मनोरथों की झांकी कर लेनो वैष्णवनने पुष्टिमार्ग में परम धन मान लियो है वैसे) भगवत्सेवा करवेवालेनकुं कभी भक्ति सिद्ध नहीं हो सके है।
(श्रीवल्लभात्मज-श्रीबालकृष्णजी:भक्तिवर्धिनीव्याख्या 2)

(7) लौकिक अर्थ की इच्छा राखिके जो भगवद्भजन में प्रवृत्त होय सो सर्वथा क्लेश पावे है। इतने कछू लाभ के लिए पूजादिक में प्रवृत्त होय सो पाखंडी और देवलक को जाय है। तासूं लाभपूजार्थ सिवाय जामें निषेध नहीं है ऐसी रीतिसूं मेरो लौकिक सिद्ध होय ऐसी इच्छा सूं जो भजन में प्रवृत्त होय सो लौकार्थी को जाय। (श्रीनृसिंहलालजी महाराज:ए सिद्धान्तमुक्तावलि-टीका श्लोक, 16-17)

(8) श्रीउदयपुर दरबारकुं आशीर्वाद! याके द्वारा सूचित कियो जावे है कि चल-अचल सम्पत्ति के आर्थिक तथा स्वामित्व की व्यवस्था के बारे में योग्य व्यक्तिन्की एक सलाहकार समिति नियुक्त कर ली गई है। सेवा आदि विषयन्में पुरातन तथा प्रवृतमान प्रणालि के अनुसार काम कियो जायेगो और यदि पुरातन परम्परा को बाध न होतो होयगो ओर समिति कोई तरह के सुधार की इच्छा रखती होयगी तो ऐसे सुधार भी स्वीकारे जायेंगे। और श्रीठाकुरजी को द्रव्य अपने व्यक्तिगत उपयोग में नहीं वापर्यो जायेगो, जैसी की परम्परा आज भी है ही, ओर याकुं निभायो जायेगो। तो भी मेरे पूर्वजनके समयसूं चले आ रहे मेरे स्वामित्वके हक्क वा ही तरह कायम रहेंगे। या ही तरह आय-व्ययकुं भी उन-उन बहीखातान्में लिख्यो जायेगो जैसे कि हाल में लिख्यो जा रेयो है।

(निली. गोस्वामीतिलकायत श्रीगोवर्धनलालजी महाराज: डिक्लेरेशन मिति भाद्रशुक्ला पंचमी सं.१९४८-ता:५-९-१८९३)

(9) महाराज को जो आमदनी वैष्णव आदि सूं होय है वा में सूं घर खर्चा के रूप में महाराज ठाकुरजी की सेवा को खर्च निभावे है। ठाकुरजी के लिये चल या अचल सम्पत्ति अलगसूं निकाल के वामेसूं ठाकुरजी की सेवा को खर्च निभायो नहीं जावे। ठाकुरजी के वैभव को, नेग-भोग को, आभूषण-वस्त्र आदि को महाराज स्वयं अपनी आमदनी के अनुसार निभावे हैं - ठाकुरजी के सन्मुख भेंट धरी न जा सके - ठाकुरजी की भेंट देवमंदिर में भेजनी पड़े है। महाराज वा भेंट को अपने उपयोग में ला नहीं सके।

(नि.ली. अमरेलीवाले गो. वागधीशलालजी के आम-मुखत्यार: अमरेलीवाली हवेली व्यक्तिगत है या सार्वजनिक मुद्दे पर सन् 1909-10 में गायकवाड, बड़ौदा राज्य की कोठी में दी गई जुबानी।

(10) जैसे अपने पूर्वपुरुष स्वयं अपने धर्म के सत्यस्वरूप तथा शुद्धाद्वैतसिद्धान्त कुं पूर्णतया समझ के वैष्णव धर्म को यथार्थ उपदेश लोगनकुं देते हते, और मध्यवर्ती काल में जो सम्पत्ति आदि के कारणनसूं हमने बहुत हद तक छोड़ दिये हैं, या कारणनसूं अधिकांश लोगन में साधारण सेवा और केवल वित्तजा भक्ति की ही रूढि के अनुसार जानकारी बच गई है।
(नि.ली. श्रीदेवनन्दनाचार्यजी-पंचमेश द्वारा मुम्बई के वैष्णवनकुं लिखित पत्र आश्रम अप्रैल 87 के अंक में प्रकाशित)

(11) वकील : यदि कोई भी पुष्टिमार्गीय मंदिर में, वैष्णव श्रीठाकुरजी की सेवा और नेग-भोग के लिए, और श्रीठाकुरजी की सेवा को निभावे के लिए भेंट आदि दे के वित्तजा सेवा करते होंय और वा मंदिर में तनुजा सेवा भी करते हों तो वो मंदिर पुष्टिमार्गीय नहीं होवे ऐसो आपको कहनो है?

पूपा. महाराजश्री : पुष्टिमार्गीय वैष्णव के लिए स्वतंत्रतया तनुजा या वित्तजा सेवा करने की कोई प्रक्रिया नहीं है। और ऐसी सेवा की जाती होय तो वाकु साम्प्रदायिक मंदिर नहीं कह्यो जा सके है

(सूरतस्थ 3/2 गृहाधिपति नि.ली.पूपा.गो. श्रीब्रजरत्नलाल जी महाराज नडियाद की हवेली वैयक्तिक है या सार्वजनिक विवाद में पुष्टिमार्ग के विशेषज्ञ साक्षी रूप में दी जुबानी)

(12) ..... या ही तरह अपने यहाँ जो सन्मुख भेंट धरी जाय है वो भी देवद्रव्य होवे हैं, और वा सामग्रीकुं काम में नहीं लियो जाये। श्रीगोकुलनाथजी और श्रीचन्द्रमाजी के घर में आज भी ये नियम पाल्यो जाय है। वहाँ जो सन्मुख भेंट आवे है, वाकुं कीर्तनिया - महावनिया ले जावे है। वो वल्लभकुल को श्रीयमुनाजी को पंडा है। दूसरा कोई वाकू अनुकरण करे तो वो अनुचित है ----- हम श्रीनाथजी के सामने जो सन्मुख भेंट धरे हैं, वो श्रीमहाप्रभुजी की पादुकाजीकुं धरें हैं, फिर भी वो आभूषण में वापरी जावे है, सामग्री में नहीं। सन्मुख भेंट देने में बहुत अनाचार होवे है। या तरह सूं आयो द्रव्य देवद्रव्य बने हैं ---- वाकुं लेनेवाले की बुद्धि बिगड़े बिना नहीं रहे हैं।

(नि. ली. गो. श्रीरणछोड़लालजी महाराज, राजनगर: वचनामृत 484-87)

(14/क) आज मोकों अपने हृदय के उद्‌गार कहवे दो, मेरो हृदय जल रह्यो है, मन्दिरन में मात्र द्रव्यसंग्रह की प्रवृति बच गई है, और वो ही अनर्थ की जड़ है। ऐसे मंदिर के अस्तित्व से कोई लाभ नहीं। हमारो सम्प्रदाय सामूहिक नहीं वैयक्तिक है। सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक अवश्य है पर सार्वजनिक नहीं। करत कृपा निज दैवी जीवनपर या उक्ति में निज शब्द को प्रयोग किया गयो है। दैवी जीव कहीं भी हो सके हैं, परन्तु सार्वजनिक रूपसूं नहीं। आज हम पुष्टि को नाम लेवे के भी अधिकारी नहीं है। अपने मंदिर कहाँ है। आजको हमारो जीवन चार्वाक

जीवन हो रह्यो है। क्या हम, आज जा प्रकार को सम्प्रदाय है, वाकु जिवानो चाहे हैं,? यदि स%चे सम्प्रदाय को चाहते हो तो स्वरूप सेवा घर - घर में पधराओ एवं नाम सेवा पर भार रखो। भक्ति की प्राप्ति स्वगृहनमें सेवा करिवेसूं ही होगी। आजके इन मन्दिरसूं कोई लाभ नहीं है। क्योंकि इनमें द्रव्यसंग्रह की प्रधानता आ गई है, और जहाँ द्रव्य इकट्ठा होय है वहीं अनर्थ हो जावे है। आज सम्प्रदाय को विकृत स्वरूप यासूं ही है।

(नि. ली. गो. श्रीकृष्णजीवनजी महाराज, मुम्बई-मद्रास: '''वल्लभविज्ञान'' अंक 5-6 वर्ष 1965)

(14/ख) हम श्रीवल्लभाचार्यजी की आज्ञा का पालन कहाँ कर रहे हैं? अपने यहाँ गृहसेवा कहाँ है? केवल मन्दिर में दर्शन सूं क्या लाभ हैं? श्रीमहाप्रभुजी की आज्ञा है, कृष्णसेवा सदा कार्या यदि श्रीमहाप्रभुजी मन्दिरन् को मुख्य मानते तो अपनी तीन परिक्रमा में अनेक मन्दिर स्थापित कर देते। श्रीगुसांईजीने गिरधरजीकुं सातस्वरूप के मनोरथ करते समय या प्रकार की चेतावनी दी थी। मन्दिर स्थापन करते समय उनकूं डर हतो कि घरमेंसूं ठाकुरजी मन्दिर में पधार जायेंगे। मेरे पिताजी ने कल (ऊपर उद्धृत 14-क वचन) जो कह्यो वह अक्षरश: सत्य है। तुम अपने घर में ठाकुरजी को पधराओ और सेवा करो।

(14/ग) पुष्टिमार्गीय प्रणालिका के अनुसार ट्रस्ट होने उचित नहीं है। श्री आचार्यचरण ने प्रत्येक ब्रह्मसंबंधी जीव को आज्ञा दी है गृहे स्थित्वा स्वधर्मत: (भक्तिवर्धिनी) अर्थात घर में रहके स्वधर्माचरण करनो चाहिए। गोस्वामी बालक भी आचार्य होने के बावजूद वैष्णव भी हैं। अत: आचार्यश्री की उपरोक्त आज्ञा को पालनो उनको भी कर्तव्य है ... अत: मेरा तो मानना यही है कि, आचार्यचरण के सिद्धांत के अनुसार वैष्णवनकुं स्वयं के घर में ठाकुरजी की सेवा करनी चाहिए और धर्मग्रन्थन को पठन-पाठन करनो चाहिए। नहीं कि मन्दिर में जा के ... ट्रस्ट तो पुष्टिमार्गीय प्रणालिकासूं संगत होने वाली बात नहीं बल्कि अपनी प्रणालिका भंग करने वाली बात है।

(दहिसर में गोवर्धननाथ हवेली ट्रस्ट के संस्थापक पूपानिली. गो. श्रीव्रजाधीशजी महाराज: (14/ख) वल्लभविज्ञान अंक 5-6 वर्ष 1965, (14/ग) नवप्रकाश अंक 8 वर्ष 8)।

(15/क) ओर जब जनरल पब्लिक ट्रस्ट है तब ठाकुरजीकुं गोस्वामी के संबंधसूं पृथक करके, ठाकुरजी को सब सम्पत्ति अर्पण करके, अर्थात भेंट करके रिलीजियस एंडामेंटके रूप में भये ये ट्रस्ट हैं। ऐसी अवस्था में इन ट्रस्टनसूं जो नेग भोग चलायो जावे है, वो देवद्रव्यसूं चलायो जा रह्यो है। देवद्रव्य को उपभोग करने वाले अन्त में देवलक ही होवे है। श्रीमदाचार्यचरणने प्रभु की सोने की कटोरी गिरवी रखकर जब भोग आरोगायो तब आपने वा द्रव्यसूं समर्पित सारोको सारो प्रसाद गायन को खवा दियो। ये है साम्प्रदायिक सिद्धांत। या प्रकार के आदर्श रूप सिद्धान्तनको जा प्रकार से विनाश होवे, आचार्यनकुं देवलक बनायो जाय, वा प्रथाकुं जितनी शीघ्र सम्प्रदायसूं हटा दी जाय, उतनो ही श्रेय यामें गोस्वामी समाज तथा वैष्णव समाज को निहित है।

(15/ख) भगवत्सेवा सम्प्रदाय की आत्मरूप प्रवृत्ति है। आचार सेवाको अंग है, सेवा के अनुकूल आचार को पालन कियो जानो चाहिए। आचार पालनकुं प्रमुखता दे के भगवत्सेवा को त्याग भी उचित नहीं है। भगवत्सेवा जैसे भी बने करो ... गुरु घर में मत भेजो ... यदि हम भगवदद्रव्यकुं पेट में डालेंगे तो वो अपराध है। ग्रंथन के अध्ययन के प्रति हमकुं समाजकुं आकृष्ट करनो चाहिए।

(नि.ली.गो. श्रीदीक्षितजी महाराज, मुम्बई, किशनगढ़: (15/क) आचार्योच्छेदक ट्रस्ट प्रथा से पुजारीपन की स्थापना घोर सिद्धांत हानि एवं घोर स्वरूपच्युति लेख पृष्ठ सं 7.

(15 / ख) श्रीवल्लभविज्ञान अंक 5-6 वर्ष 1965 में प्रकाशित वक्तव्य)

(16 / क) जैसे स्वरूपसेवा स्वार्थबुद्धिवश और लौकिक कार्य समझ के नहीं करिवेकी श्रीमहाप्रभुजी की आज्ञा है, वैसे नाम सेवा भी वृत्यर्थ नहीं करनी चाहिए, ऐसी आज्ञा श्रीमहाप्रभुजी निबन्ध में करें है .. वृत्यर्थ सेवा करिवेसूं प्रत्यवाय दोष लगे हैं, जैसे गंगाजमुनाजल को उपयोग गुदाप्रक्षालनार्थ नहीं कियो जा सके वैसे ही सेवा को उपयोग भी वृत्यर्थ नहीं करनो चाहिए।

(16 / ख) तन और वित्त प्रभु के लिए वापर्यो जाय तो मन भी प्रभु में अवश्य लगे ही है। अतएव श्रीवल्लभने उपदेश किया है कि, तत्सिद्धये तनुवित्तजा मानसी जो परा है वो सिद्ध करनी होय तो तनुवित्तजा सेवा आवश्यक है। तन और वित्त कहीं एकत्र लगाया जाय तो चित्त भी वहाँ दिन रात लग्यो रह सके है। दलाली को व्यवसाय करने वाले के व्यवसाय में केवल तन सूं श्रम किया जावे है, परंतु वामें वित्त स्वयं को लगायो नहीं जावे है। अतएव बाजार के भावन की घटबड़ में दलालकुं तनिक भी मानसिक चिंता होवे नहीं .. कोई ब%चा को पिता केवल ट्यूशन फी देके बाद में समझ ले है कि, ब%चा परीक्षा में पास हो ही जायेगो। इन तीनों को फलप्राप्ति होवे नहीं, क्योंकि तनुजा-वित्तजा दोनों नहीं लगी। अब तनुवित्तजा दोनों लगावे वाले के चित्तप्रवण होवे के उदाहरण देखे: एक दुकानदार दूकान और मालकी खरीद में पूंजी लगा के व्यापार शुरू करे सुबहसूं रात तक वहाँ उपस्थित रहके जब तन भी व्यापार में लगाये है तो या कारणनसूं दिनरात वाकु व्यापार के ही विचार आते रहें: अ%छी तरह व्यापार कैसे करूं-कैसे व्यापार बढे .... अत: पुष्टिमार्ग में प्रभु में आसक्ति सिद्ध होवेके लिए मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया समझा गई है कि भावपूर्वक भक्तकुं तनुवित्त द्वारा सेवा करनी चाहिए।

(पू. पा. गो. श्रीगोविन्दरायजी महाराज, पोरबंदर: (16/क) सुधाधारा पृ.114 (16/ख) सुधाबिन्दु पृ.73)

(17) वल्लभमत में यह सिद्धान्तत: गलत हैं और ऐसे देवस्थान-के चढावाको प्रसाद भी खायो नहीं जा सके है, क्योंकि वहाँ

देवलकत्व ही प्रधान है। आज के युग को देखते भये जहाँ न्यास करनो आवश्यक है, वहाँ उपर्युक्त सिद्धान्तकुं ध्यान में रखते ही न्यास करनो आवश्यक है देवलकवृत्तिसूं आचार्य स्पष्ट कहे हैं कि नर्कपात होयगा।

(नि.ली.गो.रणछोड़ाचार्यजी प्रथमेश: हमारी धार्मिक स्थिति का वर्तमान स्वरूप एवं भविष्य की व्यवस्था हेतु प्रतिवेदन (दि: 25-2-81 पृ 12)

(18) क्योंकि श्रीनाथजी उसके भोक्ता हैं, किन्तु वैष्णव-वृन्द तथा सेवकगण भी वा महाप्रसाद लेने तक के अधिकारी नहीं है। यह आचार्यचरण के इतिहाससूं प्रत्यक्ष प्रमाणभूत है। वाके महाप्रसाद लेवे को केवल गाय को अधिकार है। अन्यथा वा देवद्रव्य के उपभोग करिवेसूं निश्चय ही अध:पतन है ... सब प्रकार के दान चढावा वसूल करने का उल्लेख कियो गयो है, वो भी सम्प्रदाय के सिद्धांत सूं नितान्त विरूद्ध है। अपने सम्प्रदाय की प्रणाली के अनुसार जो अपने सम्प्रदाय के सेवक है, उनका ही द्रव्य गुरु शिष्य के संबंधसूं लेकर सेवा में उपयोग कराया जा सके है सम्प्रदाय में सब प्रकार के दान चढावान को उपयोग सेवा में नहीं किया जाय है और कदाचित कहीं किया जाता होय तो वो सम्प्रदाय के नियमसूं विरुद्ध होवे के कारण बन्द कर देनो चाहिये।

(पू. पा. गो. श्रीघनश्यामलालजी सप्तमेश .... श्रीनाथद्वारा ठिकाने के प्रबन्ध की दिल्ली योजना की आलोचना दि: 1/2/56)

(19/क) प्रश्न देवद्रव्य कायकुं कहे हैं? देवद्रव्य को मतलब, देवको द्रव्य, ऐसो द्रव्य या पदार्थ जो देवको ही उद्देश्य बनाके अर्पण कियो जातो द्रव्य। गुरू कूं उद्देश्य बनाके अर्पण किये द्रव्यकुं गुरुद्रव्य कह्यो जाय है। प्रभु की प्रसादी वस्तु को महाप्रसाद कहें है ...... या प्रकार मन्दिर में ठाकुरजीकु सन्मुख में भेंट धरे जाते द्रव्य कुं और ट्रस्टी की आफिस में आते द्रव्यकुं तो स्पष्ट शब्द में देवद्रव्य कह्यो जा सके है, और वा द्रव्यसूं

सिद्ध होती सामग्री में भगवत्प्रसादी होवे के बाद महाप्रसादपनो तो आवे है परंतु वाके साथ में देवद्रव्यपने भी रहे ही हैं। याही कारण वैष्णवनकुं ऐसे महाप्रसादकुं देवद्रव्य समझ के ही व्यवहार करना चाहिए। ऐसे महाप्रसादकुं लेने में देवद्रव्य को बाध तो रहे ही है।

(19/ख) मन्दिर के स्थल के फेर बदल के बारे में श्री गो.पू.108 श्रीबालकृष्णलालजी ने कह्यो कि पुष्टिमार्ग में सार्वजनिक मंदिर की परम्परा नहीं है। यामें व्यक्तिगत स्वरूप, निजी स्वरूप की ही बात है। और याही कारण पुष्टिमार्ग में सेवा-प्रकार देवालय के प्रकार जैसो नहीं है। मंदिर को निर्माण भी घर जैसो होवे है। कहीं भी ध्वजा-शिखर नहीं होवे। वैष्णव भी घर में सेवा करें हैं, तथा वाकुं मन्दिर ही कहें हैं ...

(''सेवा-देवद्रव्य-विमर्श'' ग्रन्थ के सहलेखक पू. पा. गो. श्रीबालकृष्णलालजी महोदय सूरतस्थ 3/2 गृहाधीश (19/क) वैष्णववाणी अंक तीन वर्ष मार्च, 1983 (19/ख) गुजरात समाचार अंक 25-5-93 में प्रकाशित)

(20) ब्रह्मसंबंध ले के सेवा करिवेसूं प्रत्येक इन्द्रियन को भगवान में विनियोग होवे है ... मन्दिर-गुरुघर केवल उपदेश ग्रहण करिवे के लिए हैं, । सेवा अपन को अपने घर में करनी है।

(पू. पा. गो. श्रीमथुरेशजी संस्थापक, श्रीगोवर्धननाथजी मन्दिर, हॉलीवुड, एन, वाय, अमेरिका: वल्लभविज्ञान अंक 5-6 वर्ष 1965)

(21) प्रश्न : अपने सम्प्रदाय में मंदिरकुं मंदिर न कहके हवेली क्यों कह्यो जावे हैं?

उत्तर : सामान्यतया इतर हिन्दू समाज में मंदिर शब्द देवालय के अर्थ में प्रयुक्त होवे है, परंतु ऐसे देवालय के रूप में मंदिर जैसी संस्था का पुष्टिमार्ग में अस्तित्व ही नहीं है। क्योंकि पुष्टिमार्ग में अपने माथे जो प्रभु पधराये जावे है, वे प्रभुस्वरूप और उनकी सेवा हरेक को व्यक्तिगतरूप में वाकी भावना के रूप में पधराये जावे है। स्वयं के ठाकुरजी की सेवा

पुष्टिमार्गीय जीव को एकमात्र स्वयं को कर्तव्य बन जातो स्वयं को ही धर्माचरण है। पुष्टिमार्ग में सेवा सामूहिक जीवन को विषय नहीं, परंतु व्यक्तिगत जीवन को विषय है। जैसे लोक में पत्नी अथवा माताके पति अथवा पुत्र की सेवा या वात्सल्य प्रदान करवेको वाको व्यक्तिगत धर्म उत्तरदायित्व और अधिकार होवे है वा ही तरह जा सेवक के जो सेव्यस्वरूप होवे हैं वा सेव्यस्वरूप की सेवा वा को व्यक्तिगत धर्म और अधिकार होवे है। सेवा कोई सार्वजनिक कार्य या सार्वजनिक प्रवृत्ति नहीं. परंतु सेवा तो स्वयं के आन्तरिक जीवन के साथ संबंध रखनेवाली बात होवे सूं स्वयं के जीवन की स्वयं के घर में की जानेवाली धर्मरूप प्रवृति है .... अत: इतर हवेलीन की तरह श्रीनाथजी को मंदिर शब्द रूढ हो गयो होयवेसुं, प्रयोग कियो जावे है। वस्तुत: तो सामूहिक दर्शन या सेवा जहाँ की जाती होय ऐसे अन्यमार्गीय सार्वजनिक देवस्थान जैसो वो मंदिर नहीं है।

(सेवा-देवद्रव्य-विमर्श ग्रन्थ के लेखक असो.पू.पा. श्रीवल्लभरायजी सूरत 3/2 गृहगोस्वामी: पुष्टिने शीतल छांयडे पृसं.157-58)

(22) श्रीमहाप्रभुजी ने अलग-अलग मंदिरन की प्रणाली खड़ी करी, परंतु यामें जगतगुरु श्रीवल्लभाचार्यजी की एक दूर दृष्टि हती, प्रत्येक वैष्णव को घर नन्दालय बननो चाहिए ... कोई मंदिर के पड़ोस में एक बहन रहते हैं। वाकुं मंदिर की आरती के घन्टानाद सुनाई पड़े हैं। सेवाकरिवेकुं बैठी भइ वो बहन, ठाकुरजी के वस्त्र बड़े करके स्नान कराने जा रही हती कि आरती के घंटानाद सुनाई दिये। वो ठाकुरजी को वहीं वाही अवस्था में छोड़ के मंदिर की तरफ दौड़ गई। थोड़ी देर के बाद लौटके घर आई। अब विचार करो कि या तरहसूं कोई सेवा करे तो वामें आनन्द कभी आ सके क्या? यां तो प्रत्येक वैष्णव को घर नन्दालय है।

(श्रीभागवततत्वज्ञमर्मज्ञा श्रीगिरिराजजी हवेली (बडोदा) संचालिका, अमेरिका में सार्वजनिक मन्दिरार्थ स्वयं के सेव्य

श्रीगोवर्धननाथजी के स्वरूप पधराके वहाँ नवपुष्टिचेतना का संचार करिवेवाली, पूपाग़ो.सुश्रीइन्दिरा बेटीजी, वैष्णवपरिवार अंक जून 90)

(23) अति धन्यवादार्ह है कि आपने इतनी मेहनत करके सम्प्रदाय के सिद्धातनकुं कोर्ट में समझाये - हमारो यामे पूरो सहयोग रहेगो, तन मन धन से - हमारे सभी चि. बालक या कार्य में सहयोग करिवेकुं को तैयार हैं।

(पू. पा. गो. श्रीहरिरायजी (जामनगर) के सिद्धांतनिष्ठ पितृचरण निलीग़ो. श्रीब्रजभूषणलालजी महाराज, मोंकुं (प्रस्तुत सम्पादक क़ो.) भेजे दि: 26-10-86 और 7-11-86 के पत्र में)

(24) मैं तो एक ही बात कहना चाहूंगो कि समाज के भीतर ओर अपने सम्प्रदाय में इतनो अधिक सिद्धांतवैपरीत्य हो गयो है कि, गुजरात के एक गाँव में ... पुष्टिमार्ग के ही, अपने सम्प्रदाय के ही, दो मंदिर हैं, ओर मंदिर की दीवाल भी एक ही है परंतु ऐसी जबरदस्त प्रतिस्पर्धा वैष्णव समाज में पैदा हो गई है कि, मानों एक दूसरे के साथ स्पर्धा करते हों। ऐसे ईर्ष्या-द्वैष को वातावरण जब सेवा के क्षेत्र में उत्पन्न हो जावे तो वासूं बढ़कर लोकार्थित्व ओर क्या हो सके हैं! "जो शो बिजनेस" सम्प्रदाय में चल रह्यो है वाको निवारण होय एतदर्थ एक सुन्दर चर्चा सभा को आयोजन भयो है ... मेरी सविशेष विनंती ये है कि, ऐसे सभी सिद्धांतवैपरीत्यकी फजीहत यदि सर्वाधिक कहीं होती हो तो गुजरात में होवे है। भागवत में भी लिख्यो भयो है कि "गुर्जर क्षीणता गता" ... अत: सिद्धांत की सत्यनिष्ठा कहीं साधनी होय तो ... और श्रीमहाप्रभुजी पुष्टिसिद्धान्तन सद्‌जागरण की कहीं आवश्यकता होय तो ... गुजरात में ऐसी सभान् को आयोजन होनो चाहिए।

(पूपाग़ोचि. द्रुमिलकुमारजी महोदय, पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा दि: 10-13 जनवरी, 1992, पार्ले, मुम्बई) विस्तृत विवरण, पृ.317-318)

नव प्रकाश मासिक में प्रकाशन के समय

प्रस्तावना

यह प्रश्नोत्तरी कभी 'नव प्रकाश' नामक मासिक पत्र में प्रकाशित हुई थी। वह अक्षरश: इस प्रकार है :-

आज पुष्टिमार्ग में 'सिद्धांतशुद्ध सेवा प्रकार' के संबंध में बहुत मतभेद प्रवृत्त हो रहे हैं। इस लेखमालाको प्रारम्भ करने का मूल हेतु यही है कि किसी भी तरह से हम पुष्टिमार्गीयों में मुमूर्षु (मरणासन्न) बन गयी 'पुष्टिमार्गीय अस्मिता' में फिर से जिजीविषा (जीने की इच्छा) जगे, और हम सब महाप्रभु श्रीवल्लभभाचार्यजी, प्रभुचरण श्रीगोपीनाथ जी, श्रीविट्ठलनाथजी, श्रीहरिरायजी और श्रीपुरुषोत्तमजी आदि स्वसिद्धान्त स्थापक और स्वसिद्धान्तव्याख्याताओं के मुखारविन्द या लेखनीसे नि:सृत वचनो के अनुसार, स्वमार्ग में निष्ठाशील बन कर स्वमार्ग पर चलें। श्रीगुसांईजी की आज्ञा 'तस्मात्, श्रीवल्लभाख्य त्वदुदितवचनादन्यथा रूपयन्ति भ्रान्ता येते निसर्गत्रिदशरिपुतया केवलान्धन्तमोगा:' के अनुसार जो पुष्टिमार्गीय है वह तो श्रीमहाप्रभुजी के वचनों से विरुद्ध बात अथवा वर्णन कर ही नहीं सकता। उसी तरह ऐसी विरुद्ध मान्यता रखनेवाले को तो दैवी जीव ही नहीं मान सकते, तो पुष्टिमार्गीय तो मान ही कैसे सकते हैं? अतएव, इस लेखमालाके किसी भी मुद्दे की सही या गलत होने की

कसौटी श्रीमहाप्रभुजी, श्रीगोपीनाथजी, श्रीगुसांईजी के वचनों से कोई बात विरुद्ध है या अविरुद्ध है, इतनी ही हो सकती है। ये प्रश्न एक वैष्णव भाई ने मेरे सामने प्रस्तुत किये थे, यद्यपि प्रश्नकर्त्ता भाई को मैं प्रत्यक्षतया पहचानता नहीं हूँ फिर भी प्रश्नकर्त्ता भाई जो कोई भी हो, उसने जिस सावधानी से प्रश्न प्रस्तुत किये हैं, वे अतिशय अभिनन्दनीय हैं। उन्होंने जिसके सामने प्रस्तुत किये, वे भाई मेरे सामने यह प्रश्नवाली लेकर आये, अत: जिस क्रम से प्रश्न पूछे गये हैं उसी क्रम से उत्तर दे रहा हूँ। प्रश्न लगभग साठ या सत्तर के आसपास हैं, अत: यथोचित दो या चार प्रश्नों को, मैं इस लेखमाला की कडियों के रूप में देता रहूँगा। इन प्रश्नोत्तरों को प्रकाशित करने के लिए सहमति प्रदान करने वाले श्रीरसिकरायजी का हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ।

- गोस्वामी श्याम मनोहर

* * *

पुनश्च:

यह प्रश्नोत्तरी अब जबकि, ग्रन्थ रूप में प्रकाशित होने जा रही है, तब एक खुलासा और करना आवश्यक लगता है। वह यह कि, तत् तत् प्रश्नों के उत्तर अलग-अलग मूड अनुसार दिये गये हैं। यथा संभव उत्तरों की भाषा, भाव या सुर भी पाठकों को बदले हुए लगेंगे। पर जो कुछ भी कठोरता या रूक्षता अथवा कटुशब्द उपयोग में आ गये हैं वे तत् तत् प्रश्नों के पारदर्शी उत्तर देने की मेरी वैचारिक वृत्ति अथवा दुर्वृत्ति के आभारी हैं। मेरे ऊपर विश्वास रखने वाले, सहानुभूतिशील प्रत्येक पाठक को, एक बात मैं भारपूर्वक कहना चाहता हूँ। मूल प्रश्नकर्त्ता भाई के प्रति इस प्रश्नोत्तरी में प्रकट उचित अथवा अनुचित, कटुभाषा, मेरे हृदय में रहे, उनके प्रति किसी भी तरह के व्यक्तिगत कटुभावों को प्रतिबिंबित करने वाली, नहीं मान लेनी चाहिए। उसी तरह, मूल प्रश्नों के पारदर्शी समाधानों में, मेरी उचित-अनुचित कटुभाषा जो प्रकट हुई है वह किसी भी तरह, मेरे अन्दर संग्रहित अन्य अनेकानेक महानुभावों के प्रश्न, आक्षेप, अपशब्दों का, मेरे हृदय में रहे, मेरे व्यक्तिगत कटु अनुभवों का प्रतिबिंब नहीं है। तो फिर कटुभाषा की आवश्यकता ही क्यों पड़ी। उत्तरतया बहुत से कारण गिनाये जा सकते हैं:-

1. उन प्रश्नों से प्रकट होती वैचारिक धारणायें किस प्रकार अपसिद्धान्तिक हैं, उसका आभास और भाव, प्रश्नकर्त्ता की बुद्धि और हृदय में सीधे चुभ जायें।
2. श्रीमहाप्रभुजी के सच्चे सिद्धान्तों के साथ आँख मिचोनी खेलनेवालों को पकड़ कर (पहचान कर), दाव उनके सिर पर ही चढ़ा सकें।

3. 0.1 प्रतिशत भी यदि मेरी प्रस्तुति गलत हो तो, निष्ठावान विचारकों के भाव खौल उठे और मुझे गलत प्रमाणित करें।
4. अमुक-अमुक प्रश्न या आक्षेप करने वालों के प्रश्नों या आक्षेपों में, जो-जो हृदयगत भाव मुझे महसूस हुए, उनके समक्ष, ऐसी आरसी पधरा देनी कि, जिससे वे अपने-अपने, उन-उन भावों के प्रतिबिंब देख सकें। इसमें यदि मेरी शालीनता के प्लास्टर खिरते हुये दिखाई देते हो तो भी कोई बाधा नहीं पर अपने दिव्य पुष्टि सम्प्रदाय के भवन की दीवारों पर जमी हुई अपसिद्धांतों की काई तो, किसी भी तरह साफ करनी ही चाहिए।

इसके अतिरिक्त अभिप्राय वचनावली में, स्वयं या स्वयं के पूर्वजों द्वारा प्रकट किये गये विधान, आज भूतल पर विराजते कितने ही पूज्यपाद गोस्वामी बालकों को, अपने क्षुद्र आर्थिक हितों से विरुद्ध लगते हों- तो मैं लाचार हूँ कि, ऐसे कष्टदायक विधानों को प्रकट कर देने की क्षमायाचना करने के लिए, मैं बंधा हुआ नहीं हूँ। कारण एक ही है कि, जिन महानुभावों के निजी हित श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धांतों या आदर्शों से बंधे हुए नही हों, उन्हें क्या अच्छा लगता है या क्या बुरा लगता है, उसकी दरकार, जैसी आज मुझे नहीं हैं, वैसी भविष्य में भी कभी न हो, ऐसी श्रीमहाप्रभुजी के और पुष्टिप्रभु के चरणों में अभ्यर्थना करता हूँ। साथ-साथ यह प्रश्नोत्तरी ग्रन्थ रूप में प्रकाशित करने में, श्री अमित भाई और श्री मनीष भाई द्वारा उत्साह सहित लिए गये श्रम के प्रति मेरी हार्दिक कृतज्ञता अभिव्यक्त करता हूँ।

मुम्बई : वसंत पंचमी, वि.सं.2049 **गोस्वामी श्याम मनोहर**

(किशनगढ़-पार्ला)

प्रश्नकर्ता :- भगवद सेवा का सिद्धांत शुद्ध प्रकार - एक प्रश्नोत्तरी श्री अमृत लाल व्यास हिम्मत नगर

उत्तरदाता :- गोस्वामी श्याम मनोहर (किशनगढ़-पार्ला)

प्रश्न संख्या : 1

सत्संग रेडियो है और मंदिर टी.वी.है। टी. वी. देखने से बात मन में बैठ जाती है। रेडियो सुनने से 50 प्रतिशत बात समझ में आती है। टी.वी.में दिखता है और सुनाई देता है दृश्य और श्रव्य दोनों की सुविधा है। इसलिए मंदिर अधिक श्रेष्ठ है। अभी टाइम्स ऑफ इंडिया (मुम्बई संस्करण दिनांक 3-2-1989) में पी.टी. आई. का एक समाचार छपा है- It is officially accepted in the U.S. that too much television 'Makes Jack and Jill' dull at school and it is major problem for America." अर्थात् अमेरिका में सरकारी स्तर पर अब यह बात स्वीकारी जा रही है कि टी.वी. के अधिक उपयोग से वहाँ के बालकों में विद्याभ्यास की रूचि शिथिल होती जा रही है और यह अमेरिका के लिए एक बड़ी समस्या बन गई है। इसी समाचार में आगे कहा गया है कि वहाँ के बच्चों का बौद्धिक स्तर इसके कारण बिगड़ रहा है।

यह हकीकत 'बुद्धू बक्सा' ('ईडियट बॉक्स' - टी.वी. के लिए अंग्रेजी में प्रचलित एक शब्द) के बारे में ही सच हो-ऐसी बात नहीं है पर जो कोई भी वस्तु मनुष्य को - मात्र निष्क्रिय द्रष्टा बनाती हो, ऐसी प्रत्येक बात पर लागू होती है। 'बुद्धू बक्सा' (टीव्ही.) तो अब पुराने जमाने की बात होने जा रही है, नया तो वीडियो है, जो कि स्वयं के समयानुसार चलता है। इस 'बुद्धू बक्सा' के बजाय यदि विडियो को बसा लें, तो हम

अपनी सुविधानुसार जब भी दृश्य-श्रव्य दोनों का आनन्द लेना चाहें, तब ले सकते हैं।

मन्दिर आने-जाने में तो कितना कीमती समय नाहक बर्बाद हो जायेगा। इसके बजाय पूरे वर्षभर की, श्रीनाथजी की या उसी तरह प्रथम निधि द्वितीय निधि तृतीय निधि आदि निधियों की बारहमासी वर्षोत्सवसेवा की कैसेट बना लें तो, दृश्य-श्रव्य ही नहीं अपितु प्रचुर प्रमाण में अमुक-अमुक निधि स्वरूपों का और उनकी सेवा के दर्शन का लाभ भी भारत के कोने-कोने में बैठे, सभी वैष्णव को मिल सकता है। एक बार इसको बनाने में भले धन अधिक खर्च हो पर अंत में अभी चलते मन्दिरों के बजाय अधिक सस्ता और जनता के लिए व्यापक संतोष कारक ही सिद्ध होगा।

अत: मन्दिरों में तो अपरस के झगड़े के कारण, श्रीठाकुरजी के स्वरूप के पास जा नहीं सकते, पर वीडियो कैमरा में तो, टेलिफोटो लैंस या जूम की सुविधा के कारण श्रीजी के स्वरूप के जितना नजदीक पहुँच सकते हैं, इतना तो आज के मंदिरों में सर्वथा अशक्य है। अत: मंदिरों में होते भगती के दृश्य-श्रव्य के लाभ का विचार करें तो वीडियो से मिलते दृश्य-श्रव्य के लाभ को हम, अधिक आधुनिक, अधिक व्यावहारिक और व्यापक रूप से असर कारक मान सकते हैं। इसके उदाहरण के रूप में हाल ही में, स्वाध्याय आन्दोलन में वीडियो के उपयोग की महत्ता किसे पता नहीं? उसी तरह मुरारी बापू की भी रामायण की आधुनिक जनता में पड़ी हुई गहरी छाप को भी उदाहरण रूप में ले सकते हैं। यह तो दृश्य-श्रव्य के मुद्दे को दृष्टिगत रखते हुए विचार करने की बात हुई। अन्यथा मैं

तो ऐसा मानता हूँ कि पड़ोसी की बारी में झांकते रहने की पीड़ा के बजाय, विवाह करना अधिक श्रेष्ठ है।

महाप्रभु जी का स्पष्ट विधान है :- कृष्ण सेवा सदा कार्या। (सिद्धान्त मुक्तावली)। सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः (चतुः श्लोकी)। बीज-दार्ढ्य-प्रकारस्तु गृहे स्थित्वा .... भजेत् कृष्णम् (भक्ति वर्धिनी)।

सेवा किये बिना - सेवा के मात्र दर्शन का विधान, कहीं पर भी मिलता नहीं है। जैसे कि 'कृष्ण सेवा सदा दर्शनीया' अथवा 'कृष्ण सेवातु द्रष्टव्या' अथवा 'सर्वदा सर्व भावेन दर्शनीयो व्रजाधिपः' अथवा 'बीज दार्ढ्य प्रकारस्तु कृष्णं पश्येत्तु मंदिरे' कहीं भी कहा नहीं गया है। बाकी रही बात सत्संग की, तो मंदिरों में जो दर्शनार्थी जाते हैं, उनमें कितने प्रतिशत को सत्संग लाभ मिल रहा है? अधिक से अधिक दस बारह बुड्ढे-बुड्ढी झोंके खाते-खाते शयन दर्शन के पश्चात् सत्संग करते होते हैं। अतः अधिकांश दर्शनार्थियों को मात्र 50 प्रतिशत दृश्य का लाभ मिलता होता है। पूरे 100 प्रतिशत तो नहीं। भविष्य में ऐसे मंदिर अथवा वैष्णव तैयार हों, ऐसी दलील आज की तारीख में अप्रासंगिक ही है। ऐसा 50 प्रतिशत लाभ तो मात्र सत्संग हॉल से भी मिल सकता है।

प्रश्न : 2

(2/क) श्रीठाकुरजी के दर्शन बिना किसी जीव को परमानन्द की अनुभूति नहीं होती। (2/ख) इसलिए मंदिर का विचार श्रेष्ठ है।

उत्तर : (2/क) सर्वप्रथम कहा गया है कि श्रीठाकुरजी के दर्शन बिना किसी जीव को परमानन्द की अनुभूति नहीं होती।

तो क्या श्री महाप्रभु जी का सिद्धांत- गृहे स्थित्वा-भजेत्कृष्णं (भक्तिवर्धिनी) के अनुसार स्वयं के घर में बिराजते स्वरूप में साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम परमानन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्र के दर्शन नहीं हो सकते या घर पर बिराजमान सेव्य स्वरूप दर्शनीय नहीं होता? अथवा जाहिर मंदिर में, जो भोग राग शृंगार के वैभव तथा तथाकथित अपरस की मेंड-मरजाद होती है, वैसी एक गृहस्थी के घर में संभव न होने से जाहिर मंदिरों में बिराजते ठाकुरजी के साक्षात् पुरुषोत्तम होने के वोल्टेज बढ़ जाते हैं और घर में बिराजते ठाकुरजी के क्या घट जाते हैं? यदि सचमुच ऐसा होता तो पद्मनाभदास जी के यहाँ बिराजते छोला आरोगने वाले श्री मथुराधीशजी का माहात्म्य भी घट जाना चाहिए था। उसी तरह अलीखान-ताजबीबी आदि भगवदीयों के यहाँ बिराजते ठाकुर जी का माहात्म्य भी घट जाना चाहिए था।

वैभव से यदि मूर्ति या सेव्य स्वरूप के वोल्टेज बढ़ना मानें तो सबसे अधिक वोल्टेज श्री तिरूपति बालाजी में ही मानना चाहिए, क्योंकि वहाँ जितना वैभव तो अन्य कहीं भी नहीं है। जो पुष्टिमार्गीय न होने के कारण श्री तिरूपति बालाजी के स्वरूप में कुछ तारतम्य मानने में आता हो तो, पुष्टिमार्ग का अर्थ स्पष्ट करना पड़ेगा कि श्री महाप्रभुजी-श्री गुसांईजी द्वारा स्थापित किये गये सिद्धान्तों के अनुसार चलता पुष्टिमार्ग या मनघडंत चलते सिद्धान्तों के अनुसार चलता पुष्टिमार्ग?

श्री महाप्रभुजी- श्री गुसांईजी द्वारा स्थापित सिद्धान्तानुसार चलते पुष्टिमार्ग में तो प्रत्येक ब्रह्म संबंधी वैष्णव को खुद के घर में बिराजते श्री ठाकुरजी की सेवा स्वयं के तनुवित्तसे और स्वयं के परिजनों के सहयोग से

ही करनी होती है। जाहिर मंदिर में बिराजते स्वरूप की सेवा या दर्शन के संबंध में षोडश ग्रन्थ के 222 श्लोकों में अथवा तो निबंध के 433 श्लोकों में से किसी भी श्लोक में आवश्यकता तो बताई ही नहीं गयी है। अलबत्ता सर्वनिर्णय निबंध में तो ऐसा भी कहा गया है कि जो उपदिष्ट प्रकार से स्वयं के घर में भगवत सेवा न भी निभा सकता हो तो उसको जगदीशजी, पंढरपुर के विठोबा तिरूपति बालाजी आदि स्थलों में पूजा परायण होकर रहना चाहिए। भाष्य (अणुभाष्य) में एक जगह ऐसा विधान भी मिलता है कि अपने भाव का बाह्य प्रदर्शन करने से हृदय भाव शून्य हो जाता है। अत: मंत्रोपचार पूर्वक प्राण प्रतिष्ठा का प्रकार अपने यहाँ मान्य न होने से, पुष्टिस्वरूपों की भावात्मिका प्रतिष्ठा अपने यहाँ स्वीकारते हैं। और इस भावात्मक स्वरूप की सेवा को भी यदि भावात्मिका माने तो सिद्ध हो गया कि पुष्टिमार्गीय सेव्य स्वरूप का अथवा पुष्टिमार्गीय भाव से भावित सेव्य स्वरूप की सेवा का भी बाह्य प्रदर्शन क़रने से हृदय पुष्टिभाव से रहित हो जाता है। यदि जाहिर मंदिरों में बिराजते स्वरूप, हृदय को पुष्टिभाव से रहित बनाते हों तो कहने की आवश्यकता नहीं है कि ऐसे स्वरूपों के दर्शन से मिलता परमानन्द भी पुष्टिमार्गीय परमानन्द नहीं है। वह स्वरूप यदि मर्यादामार्गीय विधि से संस्कारित प्राण प्रतिष्ठा वाला हो तो उस आनन्द को मर्यादामार्गीय आनन्द की तरह बखान सकते हैं पर, प्राण प्रतिष्ठा की विधि के अभाव में वह भी मान्य नहीं किया जा सकता हैं। उसी तरह श्री महाप्रभु जी के सिद्धांत से विपरीत मनगढ़ंत रीति से चलते पुष्टिमार्ग को तो सच्चा पुष्टिमांर्ग मानना सम्भव ही नहीं है।

इसके अतिरिक्त सुबोधिनी में कहा गया है कि, भगवान के मात्र दर्शन कर

लेने से, पुष्टिभक्त को कभी भी संतोष नहीं हो सकता। उसे तो स्वयं के हाथों से सेवा करनी ही पसन्द आती है। स्वयं की वाणी से गुणगान करना भाता है, इस तरह सभी प्रकार से भगवद् अनुभव हो, तभी संतोष प्राप्त होता है। इससे सिद्ध होता है कि वर्तमान काल में केवल जाहिर मंदिरों में दर्शन कर लेने से, अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान लेने की, पुष्टिमार्ग में घुसी हुई विकृति, किसी भी प्रकार से, सिद्धांततया अनुमोदनीय नहीं है।

इससे यह भी सिद्ध हुआ कि, जाहिर मंदिरों का जो प्रकार है वह, पुष्टिभक्ति मार्गीय सिद्धांत और साथ ही साथ, पुष्टिभक्ति भावना का विघातक होने से, ऐसे जाहिर मंदिरों का विचार श्रेष्ठ नहीं है।

(2/ख) अतएव यदि मंदिर जाकर ठाकुरजी के दर्शन करने से, परमानन्द की अनुभूति होती हो तो, स्वयं के घर पधरा कर 'नित्य निरखिये नटवररूप रे' में कितनी अधिक परमानन्द की अनुभूति हो सकती है। तो फिर श्री महाप्रभुजी तथा सभी पूर्वीचार्यों के उपदिष्ट प्रकार से स्वयं के घर में ही सेवा क्यो नहीं करनी?

प्रश्न संख्या : 3

(3/क) सिख-ईसाई-बौद्ध-जैन धर्मों के मतानुसार, ईश्वर के आकार को अनिवार्य गिनने में आया है।

(3/ख) अपने मार्ग में स्वरूप सेवा मान्य है, उसके बिना मन का निग्रह हो नहीं सकता।

(3/ग) मूर्ति बिनामन एकाग्र नहीं हो सकता, यह एक सनातन सत्य है।

(3/घ) इसलिए हजारों गुरुद्वारा, देवल (देव प्रतिमा के स्थान) मंदिर बनाये गये हैं और नये बन रहे हैं।

उत्तर : 3

(3/क) प्रश्न भाग में, जो यह कहा गया है कि, सिख, ईसाई, बौद्ध, जैन मत में, उनके मत के अनुसार, ईश्वर के आकार को अनिवार्य माना गया है। इससे अधिक सत्य से विपरीत विधान और क्या हो सकता है? सिख मत के अनुसार तो परमात्मा निराकार है। ईसाई मतानुसार परम पिता परमात्मा की मूर्ति चर्च में नहीं रखी जाती पर कहीं-कहीं जीसस क्राईस्ट की रखी जाती है, वह भी सेवा-पूजा हेतु नहीं, मात्र शोभा के लिए। जैन-बौद्ध तो परमात्मा के अस्तित्व को ही नहीं मानते तो आकार को तो कैसे मानेंगे?

(3/ख) प्रश्न भाग में प्रश्नकर्त्ता भाई कहते हैं कि, अपने सम्प्रदाय में भी स्वरूप सेवा मान्य है। ये बात तो एकदम सही है, परंतु जिस पुष्टिमार्गीय वैष्णव से स्वरूप सेवा निभती नहीं हो, उसको जाहिर मंदिर में केवल दर्शन करके, स्वयं को कृतकृत्य मान लेना, ऐसा सिद्धांत श्री महाप्रभु जी श्री गुसांईजी ने किसी भी ग्रन्थ में स्थापित नहीं किया है। सेवा के विकल्प रूप में सेवायाम् वा कथायाम् वा (भक्ति वर्धिनी) ऐसे भगवत्कथा के श्रवण-स्मरण का ही वर्णन किया गया है। अथवा शरणागति की भावना वर्णित है- 'भक्त्यभावे ..... सर्वथा शरणं हरिः'। अथवा शरणागति की भावना वर्णित है- (विवेकधैयत्रिय)

(3/ग) प्रश्न भाग में कहा गया है कि स्वरूप सेवा के बिना मन का निग्रह नहीं हो सकता। एकाग्रता नहीं आती यह सनातन सत्य है।

वास्तव में जो यही एकमात्र सनातन सत्य हो तो मनोनिग्रह करने के लिए जगत भर में सनातन काल से प्रसिद्ध योग प्रणाली में भी केवल मूर्ति के ही दर्शन-पूजन का विधान क्यों नहीं मिलता? श्रीमद् भागवत में

भी मनोनिग्रह के लिए आंतर मानसी मूर्ति की ध्यान-धारणा का ही प्रकार वर्णित है। ऐसे सभी उपायान्तर (विभिन्न उपाय) विद्यमान होने पर भी श्री महाप्रभुजी के सिद्धांत से विरुद्ध प्रकार को पकड़े रहने के पीछे हेतु क्या है?

मुझे नहीं लगता कि मनोनिग्रह के लिए जाहिर मंदिरों में प्रतिष्ठापित अथवा पाट बिराजते हुए भगवत्स्वरूप कहीं भी एकमात्र उपाय तरीके मान्य किये गये हों। जल, अग्नि, हृदय, सूर्य, स्थंडिल (यज्ञवेदी) मूर्ति, शालिग्राम, चक्रांकित पट, मुद्रा, सुवर्ण, ब्राह्मण और गाय - इन सभी में से किसी भी एक में मनोनिग्रह हो सकता है। शास्त्रों में इस संबंध में स्पष्टीकरण भी करने में आया है कि मुख्यतया कर्मकाण्ड में रुचि रखने वालों को अग्नि में ईश्वर बुद्धि रखकर उपासना करनी चाहिए। योगीजनों को मनोनिग्रह के लिए स्वयं के हृदय में जो अन्तर्यामी रूप से विद्यमान होता है, उसमें अथवा स्वयं के आत्मा में परमात्मा बुद्धि रखनी चाहिए। अल्प बुद्धि वाले साधकों को प्रतिमा में भगवद् बुद्धि करनी चाहिए आदि। पर प्रतिमा में भगवद् बुद्धि रखने का यह विधान मर्यादामार्गीय है। पुष्टिमार्ग में तो श्री महाप्रभुजी की आज्ञानुसार स्वयं के घर में बिराजते स्वयं के तनुवित्तसे और परिजनों के सहयोग से सेव्य भगवत्स्वरूप में केवल भगवद् बुद्धि करने से कार्य की सिद्धि नहीं होती। उसके लिए तो भगवद्-भाव सिद्ध होना आवश्यक है। इस भगवद् बुद्धि और भगवद् भाव के मध्य तारतम्य होने के कारण ही श्री महाप्रभुजी मनोनिग्रह की अपेक्षा मानसी सेवा की महत्ता पर अधिक भार देते हैं।

अल्पबुद्धि अज्ञानी लोग जाहिर मंदिरों में बिराजमान

भगवत्स्वरूप अथवा भगवन्मूर्ति में थोड़े समय तक भगवद् बुद्धि रखकर आगे बढ़ जाते होते हैं नहीं तो शास्त्र भी निंदा करता है कि "भगवान तो वस्तु मात्र में और प्राणी मात्र में अन्तर्यामी तरीके बिराजमान हैं, फिर भी मात्र प्रतिमा में ही भगवद् बुद्धि रखने वाले, मूढ़मति-बुझी हुई अग्नि में आहुति देने की बचकाना हरकत करते हैं।" (श्री भागवत् तृतीय स्कन्ध) इसकी व्याख्या करते हुए श्री महाप्रभुजी पृथक्करण करते हैं कि प्रतिमा पूजन की यह निंदा, भक्ति भाव से रहित अधिकारियों के सन्दर्भ में की गई है। अतः यदि श्री महाप्रभुजी की आज्ञानुसार अपने स्वयं के घर में बिराजमान, स्वयं के ही तनुवित्तसे की जाती हुई सेवा से, सेव्य प्रभु में भगवद् भाव नहीं रखते तो, श्री भागवत के आधार पर श्री महाप्रभुजी भी हमें मूढमति कहकर निंदा करना चाहते हैं, यह सिद्ध होता है।

(3घ) प्रश्न भाग में, कहा गया है कि - "हजारों गुरुद्वारे, देवल, मंदिर बने हैं और नये-नये बन रहे हैं।"

भाई साहब, गाँव में तो वीडियो-पार्लर भी बहुत खुल रहे हैं, तथा रेस्टोरेन्ट और ब्यूटिपार्लर भी। अतः हजारों की तादाद में जो कुछ खुल रहे हैं उनका अन्धानुकरण करने जायेंगे तो फना (खतम) हो जायेंगे।

हजारों जो गुरुद्वारे बन रहे हैं उनका अनुकरण करना हो तो गुरुद्वारे में तो मूर्ति होती नहीं। गुरुग्रन्थ साहिब होते हैं। तदनुसार हमें भी श्री महाप्रभुजी के ग्रन्थों के मंदिर बनाने चाहिए, श्री ठाकुरजी के नहीं। उसी तर्ज पर गुरुद्वारे की तरह ही, लंगर में सब भक्त जनों को बैठाकर, मुफ्त में प्रसाद लिवाना चाहिए। पेड़ा-बर्फी-मलाई-लड्डू-मोहनथाल-कढ़ी-भात-भजिया आदि, दूध घर-अनसखड़ी और सखड़ी कतई बेचनी नहीं

चाहिए। यदि वास्तव में यह पद्धति शुरु हो तो व्यावसायिक मंदिर चलाने वाले शौकीनों में से अधिकांश मंदिर चलाने की वकालत करना छोड़ देंगे। अर्थात हम व्यावसायिक भक्ति के ढोंग करने की मनोवृत्ति पर काबू पाने में समर्थ हो जायेंगे और वर्तमान में चलती अपनी लज्जा जनक परिस्थिति में से हम छुटकारा भी पा लेंगे।

हजारों जो देवल स्थापित हो रहे हैं उनका अनुकरण करना हो तो अपने को भी देवलों में स्थापित क्रॉस का अनुकरण करके वेणु-वेत्र के क्रॉस वाले मंदिर बनाकर उनमें आरती, कीर्तन, प्रवचन और प्रत्येक रविवार को, 'सर्वसाधनहीनस्य पराधीनस्य सर्वतः पापपीनस्य दीनस्य श्रीकृष्णः शरणं मम' द्वारा पापस्वीकृतिपूर्वक दैन्य आदि के अनुष्ठानकी, नयी आराधना प्रणाली प्रवर्तित करनी चाहिए।

हजारों मर्यादामार्गीय मंदिर जो बन रहे हैं, उनका अनुकरण करना हो तो, आजकल तो मात्र सजावटी झांकी वाले मंदिरों की फैशन जो चली हुई है तदनुसार सेवा-पूजा रहित सजावटी झांकी वाले मर्यादामार्ग मंदिर बनाने चाहिए। किसी भी तरह श्रीमहाप्रभुजी के गृहसेवा सिद्धांत का खंडन करने वाली जाहिर पुष्टिमार्गीय हवेलियों का प्रकार तो बंद होना ही चाहिए।

आजकल तो प्रत्येक बात में वीडियो केसेट का प्रचार खूब बढ़ गया है, अतःनित्यऋतूत्सव-क्रम की सेवा का रंगीन वीडियो कैसेट तैयार करवाकर गांव-गांव में कैसेट लाइब्रेरी खोली जाए, तो सस्ता किराया और सिद्धपुर की यात्रा का पुण्य लाभ भी मिल सकता है।

ऐसी कैसेटों में पुन:बिनामरजाद की सेवा के प्रदर्शन की कैसेट, मनमरजादी सेवा के प्रदर्शन की कैसेट, उसी तरह श्रीगुसांईजी के निधि स्वरूपों की सेवा के प्रदर्शन की कैसेट और श्रीमहाप्रभुजी के निधिस्वरूपों की सेवा के प्रदर्शन की कैसेट तथा अपरस की कैसेट और खासा-अपरस आदि कैसेटों के विविध सीरियल बना लिए जाएं तो धन निग्रह के साथ-साथ मनोनिग्रह भी हो जायेगा, इसमें कोई दो मत नहीं है। इन्कम टैक्स की रेड पड़ने का भय लगता हो तो, ये सब प्रयोग इन्कम टैक्स से छूट के लिए किसी 'भल्लाजी उद्धार ट्रस्ट' के उपक्रम से भी किये सकते हैं।

(क) (प्रश्नों की जो लिखित प्रति प्राप्त हुई है, उसमें प्रश्न संख्या 4 से 7 तक प्रश्न प्राप्त नहीं है। अत: प्रश्न संख्या 8 को ही 4 मानकर उत्तर लिखे जा रहे है:-)

(प्रश्न 4-मूल प्रश्न 8)

4 (क) मंदिर के जो भय के स्थान (कारण) गिनाए गये हैं, वे मानव सर्जित हैं, श्री ठाकुरजी सर्जित नहीं।

4 (ख) अत: तर्क के आगे मंदिर के अस्तित्व की मौलिक अनिवार्यता को नकारा नहीं जा सकता।

4 (ग) जिन भय स्थानों का वर्णन हो रहा है वे भय स्थान प्रयास से दूर हो सकते हैं परंतु श्री ठाकुर जी के अमूल्य मंदिर बनाने के विचार को मन से दूर करना क्या बुद्धिमत्ता है?

4 (घ) पूर्वजों ने जिस हिम्मत और साहस से विपरीत परिस्थितियों में मंदिर के लिए कार्य किया उस आदर्श को लक्ष्य में रखकर उन दोषों को मिटा सकना असंभव नहीं है।

उत्तर (4)

4(क) भाग में कहा गया है कि मंदिर के जो-जो भय स्थान बताये गये हैं वे मानव सर्जित हैं, श्री ठाकुर जी सर्जित नहीं।

श्री महाप्रभुजी के सिद्धान्तानुसार पुष्टिमार्ग में सेव्य ठाकुर परमात्मा का मात्र प्रतीक नहीं, पर परमात्मा का साक्षात स्वरूप है। उस परमात्मा के संबंध में श्री महाप्रभुजी का अभिप्राय ऐसा है कि पुष्टिमार्ग-मर्यादामार्ग- प्रवाहमार्ग अथवा चर्षणीमार्ग जीवात्मा के चलने के लिए हो सकता है, पर चलाने वाला अर्थात् मार्ग प्रकट करने वाला तो परमात्मा ही होता है। अत: जो जीव जिस मार्ग पर चलता है उस जीव में परमात्मा द्वारा ही स्वयं के स्वरूप से, वाणी से, अथवा मात्र मन की इच्छा से प्रकट की गयी, वैसी-वैसी रुचि के कारण ही (वह चलना) संभव होता है। प्रभु की प्रेरणा के कारण ही जीव का अमुक-अमुक मार्ग पर चलना संभव होता है। (देखें:- पुष्टिप्रवाह मर्यादा ग्रन्थ)

'तत्त्वार्थदीप निबन्ध' में श्री महाप्रभुजी ऐसी भी आज्ञा करते हैं कि जहाँ जिसके द्वारा, जिसमें से, जिसका, जिसके लिए, जिसको, जो कुछ भी, जिस तरह, जब भी होता है, वह सब कुछ, परमात्मा की स्वयं की इच्छा के कारण ही होता है।

अत: श्री ठाकुरजी द्वारा सर्जित न हो, ऐसा कुछ भी शुद्धाद्वैत दर्शन में संभव ही नहीं है।

अतएव कहीं कुछ भय स्थान हो या अभयपद हो, जो कुछ है वह सब भगवत्सर्ज़ित है। अत: कुछ धर्मसम्मत कृत्य हो या धर्म विरुद्ध कृत्य हो, पुण्य हो या पाप हो, अन्त में तो सब भगवत्क्रीडार्थ प्रकट हुई सृष्टि में भगवत्सर्जित ही है। इस मूल मान्यता को समझेंगे तो खयाल में आयेग

कि धर्म स्थलों में धार्मिक ग्रन्थों से सर्वथा विरुद्ध ऐसे अधर्माचरण भी अन्त में श्रीठाकुरजी सर्जित ही हैं। वर्तमान में तथाकथित धार्मिक मंदिरों में पुष्टिप्रभु के व्यावसायिक उपयोग का उपद्रव या जाहिर मनोरथों में होते पुष्टिभाव के ढोंग अथवा तो श्रीठाकुरजी को आती भेंट (देवद्रव्य) से धरने में आती सामग्री का प्रसाद लेने का पाखंड भी धर्म स्थलों में धर्म ग्रन्थों से विरुद्ध अधर्माचरण को उदाहरणतया उधृत कर सकते हैं। इसी तरह अधार्मिक स्थलों में होता धर्माचरण-जैसे कि सट्टा बाजार या मटका बाजार में अलिखित रुपये पैसे के लेन-देन को भी प्रामाणिक तरीके से चुकाने की नीतिमत्ता या सत्यवादिता भी आखिर भगवत्सर्जित ही है। इसीलिए श्री महाप्रभु जी के वचन :-

1. 'गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ...... भजेत कृष्णम् (भक्तिवर्धिनी)

2. कृष्ण सेवा सदाकार्या ...... तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा (सिद्धान्तमुक्तावली)

3. भार्यादिरनुकूलश्चेत् कारयेद् भगवत्क्रियाम् उदासीने' स्वयं कुर्याद् (निबंध)

4. दाने हि न स्वविनियोगः नतु निवेदने (न.र.प्र.)

5. मेरो व्हैके जो ठाकुर जी को द्रव्य खावेगो सो मेरो नाहीं। अरू मेरो सेवक भगवदीय होयगो सो देव द्रव्य कबहु न खावेगो, जो खावेगो तो महापतित होयगो। (वार्ता)

लोके एवं भगवद्भावम् अनाविष्कुर्वन् भजेद् (अणुभाष्य)

इन वचनों से विरुद्ध कोई भी अपना कृत्य, पुष्टिमार्गीय धर्मतया मान्य नहीं हो सकता। तदुपरांत-भी ऐसे कृत्य करते हुए हम हिचकिचाते नही तो निष्कर्ष यह है कि सर्वसमर्थ प्रभु ने अपने जीवात्माको ही

पुष्टिमार्गीय नहीं बनाया अथवा तो पुष्टिमार्ग के पाँच सो वर्ष पूर्ण करने के लिए अपने को पुष्टिमार्ग में घुसा दिया है। यदि अपने जीवात्मा को प्रभु ने पुष्टिमार्गीय के रूप में बनाया होता तो स्वयं के घर में स्वयं के तन-मन-धन से और स्वयं के परिजनों के सहयोग से स्वयं के माथे बिराजते श्री ठाकुरजी की सेवा-दर्शन-प्रसाद ग्रहण करने की सद्बुद्धि सामर्थ्य और अनुकूलता भी पुष्टिप्रभु ने निश्चय ही अपने को दी होती। अथवा तो एक हेतु यह भी संभव है कि अपने इस भव (संसार) में, पुष्टिप्रभु अपने साथ पुष्टिमार्गीय संबंध में बंधना ही नहीं चाहते हों।

वरना दुनिया भर में आज प्रत्येक धार्मिक संप्रदायों में जबकि, धर्म के मूल आदर्शों (सिद्धान्तों को ढूंढ कर अनुसरने की प्रवृत्ति हर तरफ बढ़ रही है, तब हम क्यों सौ- दो सौ वर्षों के भीतर अपने मार्ग में घुसी कुप्रथाओं को ही अनुसरने का दुराग्रह कायम रखते हैं। कोई भी बुद्धिमान पुरुष यदि धार्मिक हो तो स्वयं के धर्म ग्रन्थों से विरुद्ध बातों को अनुसरने के लिए जानबूझ कर तो दुराग्रह रख ही नहीं सकता। इसके अतिरिक्त, पुष्टिमार्ग के अनुयायी अन्य धर्मों के अनुयायियों से विशेष अबुद्धिमान या मूढ हों ऐसा लगता तो नहीं है। अपने धर्म के सिद्धांत ग्रन्थों में सर्वथा वर्जित माने गये सार्वजनिक मंदिर-प्रणाली को चलाने में चलाने वाले का हेतु संभवतः धंधाकीय स्वार्थ को मान सकते हैं, परंतु सामान्य जनता की तो इसमें धन-समय-कार्यशक्ति और श्रद्धा वृथा ही नष्ट होती है। इतना होने पर भी इस तरह का दुराग्रह, विपरीत भगवत् इच्छा का ही आभारी लगता है।

इस बात के अनुसंधान में एक शंका यह खड़ी होती है कि जब

सब कुछ श्री ठाकुर जी द्वारा सर्जित है तो फिर उसका विरोध करने की आवश्यकता या औचित्य ही क्या है?

हकीकत में ऐसे स्पष्टीकरण की भाषा विरोधी भाषा लगती है, पर भाव तो भगवल्लीला को तटस्थतया निरूपण करने का ही है। क्योंकि, सब कुछ भगवत्सर्जित हो, तो उसमें यह आलेख या यह प्रश्नोत्तरी भी कोई अपवाद नहीं है (माने यह भी भगवत्सर्जित ही है)। मेरा तो प्रमुख हेतु श्री महाप्रभु जी, श्री गोपीनाथ जी, श्री गुसांई जी, श्री गोकुल नाथ जी, श्री हरिराय जी, श्री पुरुषोत्तम जी आदि प्राचीन आचार्यो के बिराजमान ग्रन्थों में वर्णित सिद्धान्तों को स्पष्टतया प्रकट करने का ही है। किसी व्यक्ति का विरोध या समर्थन करने का नहीं।

जैसे चौराहे पर जहाँ चार रास्ते फटते हों, वहाँ अलग-अलग दिशाओं की ओर चार पाटिये लगे होते हैं कि कौनसी दिशा का मार्ग कौन से शहर/गाँव की तरफ जाता है। फिर तो वहाँ से गुजरते हुए मनुष्यों अथवा वाहनों को, जिस दिशा में जाना हो, उस तरफ जाने का मार्ग उसके लिए स्पष्ट होता है। उसी तरह जिस किसी जीवात्मा को मानव देह प्राप्त होती है कि वह तुरंत पुष्टिमार्ग, मर्यादामार्ग, प्रवाहमार्ग या चर्षणीमार्ग के चौरस्ते के मुकाम पर आ चढ़ता है। वह जीव स्वयं के देह रूपी वाहन को उसी दिशा में बढ़ाता है जिस दिशा में भगवान ने उसकी गति निर्धारित की हुई होती है। किसी भी स्थिति में, जो जीव श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धांतों से विपरीत दिशा में प्रवास के लिए आगे बढ़ रहा है (दौड़ा-दौड़ी कर रहा है), वह तो पुष्टिजीव या मर्यादामार्गीय जीव हो ही नहीं सकता। अत: पूर्ण तटस्थता के साथ अपने को ऐसे जीवों को प्रवाही या चर्षणी स्वीकार कर लेना चाहिए।

अपने सम्प्रदाय में चलते जाहिर मंदिरों में वेदादि-शास्त्रोक्त-मर्यादामार्गीय आराधना-प्रणाली तो होती नहीं है। तब श्रीमहाप्रभुजी द्वारा उपदिष्ट साधना-प्रणाली भी यदि नहीं दिखाई देती हो तो, चार मार्गों में से पुष्टिमार्ग और मर्यादा मार्ग को घटा देने पर (4-2=2) गणित शास्त्र के अकाट्य नियम के अनुसार प्रवाह मार्ग या चर्षणी मार्ग ही शेष बचते हैं। अत: ऐसी आराधना प्रणाली के दुराग्रही जीवों को भी प्रवाहमार्गीय या चर्षणीमार्गीय मानने के सिवा कोई छुटकारा ही नहीं है।

चर्षणीजीवों को भिन्न-भिन्न मार्गों पर नाहक भटकने का शौक होता है। अत: कुछ पुष्टिमार्गीय सेवा प्रणाली का आभास, कुछ मर्यादा मार्गीय के पूजा प्रणाली का आभास, थोड़ी प्रवाह मार्गीय स्वार्थ-प्रमाद की वृत्ति, इस तरह सभी मार्गों की भेलपुरी के चटखारे तथाकथित-पुष्टिमार्गीय मंदिर प्रणाली के दुराग्रहियों की एक लाक्षणिक पहचान है। यह किसी भी सूरत में मानव सर्जित न होकर, श्री ठाकुर जी सर्जित मार्ग है। अतएव उसके भय स्थानों को भी श्री ठाकुरजी सर्जित ही मानना पड़ेगा।

(4/ख) इस प्रश्न भाग में कहा गया है कि, तर्क के आगे मंदिर के अस्तित्व की मौलिक अनिवार्यता की अवगणना नहीं हो सकती।

इस सन्दर्भ में स्पष्टतया यह समझना आवश्यक है कि जाहिर मंदिरों का अस्तित्व ही पुष्टिमार्ग के आधारभूत सिद्धांतों से विरुद्ध होने के कारण, इन मंदिरों के अस्तित्व की अनिवार्यता भी बिना नींव (आधार) के की गई, एक चुनाई (construction) है। अत: इसको कोई धक्का न भी मारे, तो भी यह स्वत: ही भरभराकर धराशायी हो ही जायेगी। इसके

अतिरिक्त इन जाहिर मंदिरों का तामझाम मुखिया-भीतरिया-दूधघरिया-जलघरिया-कीर्तनिया अथवा समाधानी जैसे पुष्टिमार्गीय निष्ठाविहीन कर्मचारियों की मोटी फौज बिना चल ही नहीं सकता। इन कर्मचारीवर्ग की आवश्यकता पूरी करने की व्यवस्था भी दिन-ब-दिन बिगड़ती ही जा रही है। भविष्य में यह एकदम समाप्त हो जाए तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। आज अपने मार्ग का अनुयायी वर्ग, अधिकांशत: वणिक समाज में से आया हुआ है। इस वणिक समाज के भीतर यदि स्वयं के घर में सेवा करने की श्रद्धा को जगाया गया होता या अक्षुण्ण रखा गया होता तो पुष्टिमार्ग का कोई अनोखा ही स्वरूप जगत के समक्ष अभी खडा होता। इस वणिक समाज की बहुतायत के कारण सभी वस्तु विक्रयशील रखने और खरीदने की मौलिक मनोवृत्ति ने ही इन जाहिर मंदिरों में बिकते दर्शन तथा सेवा और प्रसाद की तृष्णा को जगाकर अपने पुष्टिमार्ग के मौलिक भाव को ही विकृत कर दिया है। इसीलिए तैयार माल की तरह बिकता हुआ कुछ भी खरीद लेने की उतावल के कारण ही जाहिर मंदिरों को जनता का प्रश्रय मिल रहा है। बिकती हुई सेवा-सामग्री-सजावट को खरीद लेने की वणिकवृत्ति के कारण ही जाहिर मंदिरों में जब कभी गिरनारा, सांचोरा, औदीच्य, पुष्करणा और सनाढ्य ब्राह्मणों की न्यूनता होगी, तब सामान्य जनता आगे नहीं आयेगी।

स्वयं के स्वावलंबी, नौकरी-धंधे को छोड़कर जाहिर मंदिरों में परावलंबी तथा अल्प लाभ और रविवार की छुट्टी बिना सुबह से लेकर शाम तक की नौकरी करने के लिए सामान्य जनता में से धर्मका आग्रह

रखने वाले स्वयंसेवक आगे नहीं आयेंगे। क्योंकि वणिक समाज में इतनी स्वधर्म निष्ठा यदि जाग्रत रखी गई होती तो पुष्टिमार्गीय आचार्य वंशजों को अध: पतन के अत्यन्त नीचे पायदान पर पटके रखने के लिए आचार्य वंशजों की धंधेदारी वाली भगती के छल-छद्म में दर्शनार्थी अथवा मनोरथी बनकर पीठ पीछे से निंदनीय धक्का मारने का कार्य इस वणिक समाज ने कभी न किया होता।

जो वर्ग वर्तमान में इस सेवा की नौकरी में फंसे हुए हैं, वे तो नि:श्वास छोड़-छोड़कर जैसे-तैसे इस नौकरी को निभा रहे हैं। इसके अतिरिक्त कभी-कभी आजकल फैक्टरी के मजदूरों की तरह बंद-हड़ताल आदि पर भी उतरने लगे हैं। यह वर्ग नहीं चाहता है कि किसी भी सूरत में इनकी संतति उनकी ही तरह जाहिर मंदिरों की नौकरी में उलझ जाये। किसी बैंक या कारखाने में स्वयं का लड़का चपरासी बन जाये यह इनको स्वीकार्य है। अत: कोई एकदम मूर्ख, जो सब तरह से योग्यता विहीन हो वही, बा-मुश्किल मंदिरों में नौकरी करने के लिए तैयार होता है। इनकी प्रतिशत संख्या भी दिन-प्रतिदिन कम ही होनी है, बढ़ेगी तो नहीं ही।

इसके अतिरिक्त इस प्रक्रिया में एक बड़ी विडम्बना यह है कि दुनिया के किसी भी धर्म सम्प्रदाय के, जैसे- सेनेगॉग (फारसियों का धर्मस्थल), चर्च, मस्जिद, गुरुद्वारे या मंदिर में उस धर्म को न मानने वाले को रबाई, पादरी, मौलवी, ग्रन्थी अथवा पुजारी नहीं बनाया जाता। एक कांग्रेस सरकार में और दूसरा अपने पुष्टिमार्गीय जाहिर मंदिरों में धर्म-निरपेक्षता के महान! आदर्श के अनुसरण में गैर पुष्टिमार्गीय को भी, शैव हो या शाक्त हो, सबको कंठी देकर भगवत्सेवा में नहलाया जाता है।

इन सब बातों पर गहराई से विचार करने पर ऐसा लगता है कि अपने सम्प्रदाय में यदि जाहिर मंदिर रहेंगे तो पुष्टिमार्ग नहीं रह सकेगा। अत: मंदिरों के अस्तित्व की मौलिक अनिवार्यता तो ठाले बैठों की गप्प के सिवा कुछ नहीं है।

(प्रश्न संख्या 4-ग) इसके प्रश्न भाग में कहा गया है कि जो भय स्थानों का वर्णन आता है उसे प्रयास से दूर किया जा सकता है। परंतु श्री ठाकुर जी के अमूल्य मंदिर बनाने के विचार को मन से दूर करना क्या बुद्धिमत्ता है?

इसके समाधान में सबसे पहले, यह समझना आवश्यक है कि बड़े से बड़ा भय स्थान जाहिर मंदिरों में श्रीमहाप्रभुजी - श्रीगुसांईजी की कठोरतम आज्ञा का भी अतिशय हल्केपन से उल्लघंन होना है। जैसे कि-

1. श्री महाप्रभु जी आज्ञा करते हैं कि प्रत्येक आत्म निवेदी को स्वयं के घर में सेवा करनी चाहिए। पर जाहिर मंदिरों को जाहिर जनता और सरकारी कानून निजी घर रहने ही नहीं देते। यह पहला भय स्थान है; इसे दूर करने का क्या प्रयास होना चाहिए?

2. श्रीमहाप्रभुजी, श्रीगुसांईजी, श्रीपुरुषोत्तमजी आदि आज्ञा करते हैं कि अपना चित्त भगवान में तब परायण होगा जब हम तनुवित्तजा सेवा करेंगे। भगवत्सेवा कराने के लिए दूसरे को धन देने से भक्ति की जगह अहंकार बढ़ जाता है। भगवत्सेवा करने के लिए दूसरे से धन लेने पर भक्ति भाड़ूती (किराये की) बन जाती है, सेवा निष्फल बन जाती है। जाहिर मंदिरों में दर्शन करने आने वाले आज वणिकवृत्ति से वित्तजा सेवा कर रहे हैं और मंदिर में तनुजा सेवा करने वाले गो.महाराजश्री - बाबाश्री

- बेटीजी - लालाजी - मुखिया भीतरिया वर्ग आजीविका के लिए भाड़ूती सेवा कर रहे हैं। ऐसे लोगों को श्री पुरुषोत्तजी द्रव्य शुद्धि नामक ग्रन्थ में मुरदा, चांडाल आदि अतिशय अपवित्र शब्दों से परिभाषित करते हैं। अत: तनुवित्तजा सेवा के तनुजा और वित्तजा तरीके जो निंदनीय विभाग हो जाते हैं, यह दूसरा भय स्थान है। इसे कौनसे प्रयास से दूर करना चाहिए?

3. श्री ठाकुरजी के नाम से आयी हुई भेंट से धरी जाती भोग-सामग्री देव द्रव्य बन जाती होने से हम प्रसाद नहीं ले सकते। यदि वह प्रसाद हम लेते हैं तो श्री महाप्रभु जी को अपने ऊपर सूग (घिन) आती है और ऐसी कठोर आज्ञा करते हैं कि - जो श्री ठाकुर जी को द्रव्य खायेगो सो मेरो नाहिं। मेरो सेवक भगवदीय होयगो सो कबहु देव द्रव्य नहीं खायेगो अरू खायेगो सो महापतित होयगो।

जाहिर मंदिरों में आज देव द्रव्य बिना सेवा का निर्वाह ही संभव नहीं है और देवद्रव्य से सेवा करने पर महाप्रसाद अपने को महापतित बनाता है। इसको दूर करने के लिए क्या प्रयास करना?

4. अपनी भगवत्सेवा और अपना सेव्य स्वरूप दोनों ही भावात्मक होते हैं। इस भावना के जाहिर प्रदर्शन की मनाही है। पर इन जाहिर मंदिरों में अपनी दिव्य गोपनीय भाव-भावना की फजीहत हुए बिना रहती ही नहीं है। यह चौथा भय स्थान है, इसे कौनसे प्रयास से दूर करना?

5. श्री गुसांई जी आज्ञा करते हैं कि स्वयं के वंशज भक्ति मार्ग के प्रचार में परायण रहें, इस हेतु से ही महाप्रभु जी ने गृहस्थाश्रम स्वीकार किया था। उन आचार्य वंशजों की हैसियत पुष्टिभक्ति मार्ग में एक धर्म

गुरु की होनी चाहिए थी। उसकी जगह आज सरकारी चक्र अथवा न्यायालय तो ठीक पर पुष्टिमार्गीय वैष्णव जनता की निगाहों में भी पुजारियों जैसी बन गई है। इसमें प्रमुख हेतु भगवत्सेवा का जाहिर में अनुष्ठान ही है, इसके सिवा अन्य कुछ भी नहीं। जब कि हकीकत में देवलकत्व अर्थात् पुजारीपने का धंधा-नौकरी करने वाले को श्री पुरुषोत्तमजी, ऊपर लिखित प्रमाण के अनुसार, द्रव्य शुद्धि प्रकार नामक ग्रन्थ में मुर्दा, उसके दाह हेतु उपयोग में ली गई लकड़ी, रूधिर, मांस और मृत जानवर की खाल निकालकर, विक्रय करने वाले जैसा हीन गिनते हैं।

अपने धर्माचार्य वर्ग को अपने सम्प्रदाय में इतना अपवित्र बना देना, किसी भी परिस्थिति में, क्या वांछनीय है? यह पांचवां भय स्थान है, इसको किस प्रकार दूर करना?

6. स्ववृत्तिवाद में श्री पुरुषोत्तम जी ने खुलासा किया है कि अपने सम्प्रदाय में धर्म गुरु वल्लभ वंशजों को गुरु की हैसियत से प्राप्त चरण-भेंट से ही स्वयं का निर्वाह करना चाहिए। नहीं तो दूसरे तरीके से अर्थात् स्वयं के लिए जो विहित वृत्ति न हो उससे दूसरे का धन स्वीकारने पर, धन लेने वाले व्यक्ति को, धन देने वाले व्यक्ति का ऋणी होना पड़ता है जो बंधनकारी होता है। आज जाहिर मंदिरों की प्रणाली के कारण गोस्वामी महाराजश्री की हवेली में दर्शन करने या भेंट धरने आने वाली जनता के प्रतिशत में कोई उल्लेखनीय कमी नहीं आई है। परन्तु, जाहिर में चलते ये मंदिर, गुजरात और सौराष्ट्र की ग्रामीण पुष्टिमार्गीय वैष्णवी प्रजा को, पुष्टिमार्ग छोडकर स्वामीनारायणपंथ अथवा स्वाध्यायपंथ में गिर पड़ने से रोकने में निरंतर निष्फल ही साबित हुए हैं। कहीं-कहीं पुष्टिमार्गीय-

हवेलियों के परिसर में, हवेलियों के ट्रस्टफंड से स्वाध्याय-केन्द्र चलाने के उदाहरण भी देखने को मिलते हैं। इतना ही नहीं अपितु इन स्वाध्यायों में शरीक होते अपने पुष्टिमार्गीयजन श्रीमहाप्रभुजी-विरचित स्तोत्रों के सच्चे पुष्टिमार्गीय अर्थ की तुलना में श्रीपांडुरंग शास्त्री द्वारा किए गए मनकल्पित अर्थ को अधिक प्रमाणित मानते हैं। ये घटनायें, सम्पूर्ण भारत देश में मौजूद हजारों पुष्टिमार्गीय जाहिर मंदिरों को पुष्टिमार्गीय निष्ठा के संरक्षण बाबत निरूपयोगी सिद्ध कर देती हैं।

मेरे स्वयं के एक सार्वजनिक प्रश्नोत्तरी कार्यक्रम में एक वैष्णव भाई ने पूछा कि मैं प्रतिदिन पुष्टिमार्गीय मंदिर में दर्शन करने जाता हूँ, पर केवल ज्ञान प्राप्ति हेतु स्वाध्याय-केन्द्र में जाता हूँ, तो क्या पुष्टिमार्गीय सिद्धांत से यह विरुद्ध है? मुझे नहीं लगता कि यह मात्र इस प्रश्नकर्त्ता भाई का ही प्रश्न है। पुष्टिमार्गीय जनता अधिकांशत: यही भाव हृदय में रखती है कि पुष्टिमार्गीय मंदिरों में ज्ञान मिलता नहीं है। अत: ज्ञान कहीं - अन्यत्र जाकर प्राप्त कर लेना चाहिए और दर्शन नित्यनियमपूर्वक पुष्टिमार्गीय मंदिर में कर लेने चाहिए। अब यदि प्रवचन सुनने वाले श्रोतावर्ग में पुष्टिमार्गीय ही अधिकांश हों तो उन विसंप्रदायी वक्ताओं को भी श्रीमहाप्रभुजी के बखान (माहात्म्य) कर-करके (पुष्टिमार्गीयों को बुरा न लगे इसलिए भी), श्रीमहाप्रभुजी का नाम लिए बिना ही उनकी आलोचना करनी पड़ती है। यह ज्ञान (!) प्राप्त कर वे पुष्टिमार्गीयश्रोता पुन: मन में फूल जाते हैं कि हमारे श्रीमहाप्रभुजी की बड़ाई होने से ऐसा ज्ञानोपदेश (!) प्राप्त करने तो अवश्य जाना ही चाहिए। अपने सार्वजनिक मंदिर अपने सिद्धान्तानुसार ज्ञानोपदेश करने में निरंतर

असफल साबित हुए हैं इसका इससे बढ़कर और सटीक प्रमाण क्या हो सकता है? आज पुष्टिमार्गीय भक्ति अथवा सिद्धांत के उपदेशक पुजारी की गिनती में आते हैं। जबकि अपुष्टिमार्गीय वक्ताओं द्वारा की जाती, श्रीमहाप्रभुजी का नाम लिए बिना पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों की आलोचना ही, श्रीमहाप्रभुजी के सच्चे सिद्धान्तों की तरह मान्य हो रही है, इससे अधिक विडंबना और क्या हो सकती हैं?

इस प्रकार जाहिर मंदिरों के कारण धर्मगुरुओं और धर्मानुयाइयों का संपर्क टूट गया होने के बावजूद, आश्चर्य होता है कि धर्मगुरुओं के निर्वाह में कोई बाधा न आने के कारण धर्मविरुद्ध होने पर भी जाहिर मंदिरों का पोषण हो ही रहा है। जनता को भी स्वयं के घर में भगवत्सेवा की झंझट में पड़े बिना सेवा का खोटा संतोष मिल जाता होने से जाहिर मंदिर प्रणाली माफिक आ गई है। इस संपर्कहीनता के दुष्परिणाम के कारण ही कभी पुष्टिमार्गीय धर्म गुरुओं को पुजारी के रूप में समाचार-पत्र वाले उद्धृत करते होते हैं, तब "हमारे धर्मगुरु पुजारी नहीं हैं" - इस आशय का एक भी विरोध-पत्र अपनी वैष्णव जनता द्वारा समाचार-पत्रों के जनता की आवाज कॉलम में कभी भेजा गया हो, ऐसा मेरे तो कभी पढ़ने में आया नहीं है।

इन धर्म गुरुओं के प्रति धर्मानुयायी जनता के बीच संपर्क और आदर का अभाव, इन जाहिर मंदिरों के कारण ही पनपा है। यह छठा भय स्थान है, इसे किस प्रकार दूर करना?

7. इसके दुष्परिणाम स्वरूप नवयुवक गोस्वामी बालकों में स्वमार्गीय ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन करने के बजाय लोकमान्य-

विसंप्रदायी धर्म वक्ताओं की पुस्तकें बांचने और निरुपण शैली अपनाने की मनोवृत्ति जोर पकड़ रही है। कोई श्रीपांडुरंग शास्त्री और कोई श्रीमुरारी बापू की स्टाइल पकड़ कर पुष्टिमार्ग में प्रवचन करना चाहता है, तो दूसरा कोई श्रीडोंगरे महाराज की और मुरारी बापू की कापी करने में मशगूल है। कोई अन्य श्रीरजनीश और श्री ठक्कर भाई की कापी करना चाहता है तो कोई हरे कृष्ण-हरे राम की। आखिर, जो परिश्रम अपने स्वमार्गीय ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन-प्रवचन के लिए होना चाहिए, उसका उत्साह जगाने में जाहिर मंदिर प्रतिबंध बन जाते हैं। क्योंकि ग्रन्थोक्त सिद्धान्त जाहिर मंदिर की प्रणाली से विरुद्ध बातें समझा रहे हैं। परिणामतः निराश हुए नवयुवक गोस्वामी बालक, जो कोई वक्ता अधिक लोकमान्य दिखता हो, उसकी विचार सरणि और निरुपण शैली का अनुसरण कर पुष्टिमार्गीय जनता को फिर से, पुष्टिमार्ग की ओर मोड़ने का मोह पालते हैं। परन्तु इसमें "बाबा के दोनों जाने" का भय मुझे लगता है। (बाबा के दोनों गये, माया मिली न राम)

8. आज सभी फलते फूलते धंधों पर सरकार सीधा या परोक्षतया स्वयं का नियंत्रण करना चाहती है (जबकि अभी अन्य व्यापारिक क्रियाओं पर नीतियां बदली हैं, पर धर्म के धंधे पर नहीं)। तदनुसार, धंधाकीय जाहिर मंदिरों पर भी स्वयं का नियंत्रण रखने हेतु कुछ-कुछ प्रान्तीय सरकारें नियम-कायदे बनाती रहती हैं। जो मंदिर जनता के लिए या जनता के द्रव्य से चलते हैं उन सभी मंदिरों को जनता के मानकर देव स्थान विभाग के नियंत्रण में लाने के लिए नियम बनाये गये हैं। इतना ही नहीं, उन नियमों के विरुद्ध हम सुप्रीम कोर्ट तक लड़कर तीन-तीन

मुकदमें हार चुके हैं। हाल ही जूनागढ़ फैसले के समय सम्पूर्ण जगत के लगभग साढ़े ग्यारह हजार शपथ-पत्रों (एफीडेविट्स) और सिद्धांत वचनों को सुनना-पढ़ना भी सुप्रीम कोर्ट ने आवश्यक नहीं समझा। सरकारी विभागों के अधीन चर्च या मस्जिदें तो जाती नहीं, अल्पसंख्यकों के अधिकार के नियमों के कारण' परन्तु हिन्दू मंदिर अधीन हो जाते हैं। अभी केरल में प्रसिद्ध गुरूवायुर कृष्ण मंदिर में वहां की साम्यवादी सरकार द्वारा ईसाइयों और साम्यवादियों को मंदिर की संचालन समिति में शिष्ट पुरुषों की तरह नियुक्त किया गया है। तिरूपति बालाजी में एकत्र स्वर्ण भंडार को वहां की मंदिर संचालन समिति द्वारा वहां की प्रान्तीय सरकार के खजाने में जमा कराने में आनाकानी करने पर, उस समिति का ही पुनर्गठन कर दिया गया। यहां मुम्बई के सिद्धि विनायक मंदिर में एक मुसलमानको ट्रस्टी बनाया गया है। दक्षिण भारत के मंदिरों में अमानतवाद घुसा दिया गया है। सरकारी मंत्रियों की नियुक्ति, पगार वेतन में अमानतवाद का पालन होता नहीं है पर मंदिरों पर उसको लादा जाता है। हाल ही में सुनने में आया है कि तिलाकायत महाराज को बर्खास्त करके किसी हरिजन को पुजारी तरीके नियुक्त करने का दावा राजस्थान की बड़ी अदालत में करने में आया है। यद्यपि जाहिर मंदिर पुष्टिमार्गीय नहीं हो सकते और पुष्टिमार्गीय सेवा स्थल सार्वजनिक नहीं हो सकते तथापि जाहिर मंदिरों के मोह में हम अपने पुष्टिप्रभु के साथ कैसा निंदनीय विश्वासघात कर रहे है। इसका इस अवसर पर गंभीर विचार करना अनिवार्य है।

अभी तमिलनाडु में डेढ़सो मंदिरों में बिराजमान मूर्तियों को पुरातत्व-संरक्षण-म्यूजियम में रखने का विचार सरकार कर रही है।

अपने पुष्टि स्वरूपों की ऐसी गति न हो इसकी चिंता करना एक पुष्टिमार्गीय होने के नाते क्या अपना फर्ज नहीं है? वहाँ दक्षिण में प्रारम्भ में जाहिर मंदिरों को सार्वजनिक ट्रस्ट घोषित किया गया था, उस समय इस तरह के परिणामों का पूर्वानुमान किसी ने नहीं किया था, अब तो बहुत विलम्ब हो चुका है।

पुष्टिमार्गीय मंदिरों पर भी सार्वजनिक ट्रस्ट नियमों की क्रूर दृष्टि पड़ने लग गयी है। भविष्य में सरकारी शिकंजा बहुत मजबूत हो जायेगा। अत: अपने सेव्य स्वरूप भी एक दिन म्यूजियम में बिराजेंगे। यह आठवां भय स्थान किसी भी पुष्टिजीव के हृदय में हडकम्प न मचाता हो तो उसे पुष्टिमार्ग छोड़ देना चाहिए।

1. अपनी सेवाप्रणाली जाहिर मंदिरों के अनुकूल है ही नहीं। यही कारण है कि जाहिर मंदिर इस सेवा-प्रणाली की नजाकत को निभा नहीं पाते हैं। अधिकांश सेवा टेरे के भीतर होने के कारण, मर्यादामार्गीय मंदिरों की तरह, अपने मंदिरों में दर्शन सुबह से रात तक खुले नहीं रख सकते। अत: थोडे समय तक दर्शन खुलने के कारण दर्शनों में धक्कामुक्की-भीडभड़क्के की भारी धूमधाम मच जाती है। एक देवस्थानोचित शांति और अनुशासन निभ नहीं पाता है। इसके अतिरिक्त सेवा में अनिवार्य गिने जाते अपरस के नियम एक गृहस्थ स्वयं एकांततया पाले उसमें तो कोई बाधा नहीं; पर हाल ही में श्रीनाथद्वारा के सन्दर्भ में राजस्थान हाईकोर्ट का निर्णय इसका ज्वलंत उदाहरण है कि जाहिर में अपरस के नियम अब भूतकालिक इतिहास में ही शेष रहने वाले हैं। जाहिर में किसी भी प्रकार की छुआछूत अब कानूनी अपराध है।

सामाजिक नहीं तो कानूनी, कानूनी नहीं तो 'फैशन' में गुनाह तो हो ही गया है। अत: जाहिर मंदिर चलेंगे तो अपनी सेवाप्रणाली नहीं चलेगी और सेवा-प्रणाली निभानी हो तो जाहिर मंदिर नहीं चलेंगे। आखिर इस जड़ प्रणाली (अपरस आदि) का आग्रह यदि छोडना ही पड़ता हो तो, एक गृहस्थी के घर में जैसी या जितनी प्रणाली निभती हो उतनी निभा कर, स्वयं के घर में ही भगवत्सेवा करने का सिद्धांत सम्मत आग्रह रखने में क्या दिक्कत है? किसी भी परिस्थिति में श्रीमहाप्रभुजी द्वारा उपदिष्ट सिद्धांत की जगह भोग-राग-शृंगार-अपरस की प्रणाली का महत्व यदि हम अधिक मानते हों तो भी उसका निर्वाह जाहिर मंदिर में तो दिन पर दिन असम्भव ही होता जायेगा। यह नौवाँ भय स्थान है इसे किस उपाय से दूर करना ?

नौ के अंक को पूर्ण संख्या मानने में आता है, अत: जिस किसी सन्दर्भ में 'नौ' भयस्थान हो वह सम्पूर्ण भयावह और भयावह के सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं है, ऐसा स्वीकारना चाहिए। खैर, ये तो एक मजाक की बात है पर वास्तव में तो सिद्धान्त विपरीत तथ्यों को प्रत्येक बुद्धिमान पुष्टिमार्गीय को भयस्थान तरीके स्वीकार्य होना ही चाहिए।

4 (घ) भाग में कहा गया है कि पूर्वजों ने जिस हिम्मत और साहस से विपरीत परिस्थितियों में मंदिर के लिए जो कार्य किए हैं उन आदर्शों को ध्यान में रखकर दूषणों को टाला जा सकता है।

हकीकत में पूर्वज तो गृहसेवा को ही सेवा मानते थे। उसका प्रमाण यह है कि अपने सेवोपयोगी स्थल को कभी भी 'मंदिर' नहीं पर 'हवेली' ही कहते आये हैं। आज उन निजी हवेलियाँ का जाहिर मंदिर

की तरह उपयोग करने के पाप के कारण, 'हवेली' का अर्थ भी कानूनी चक्र के कारण 'पुष्टिमार्गीय सार्वजनिक मंदिर' हो गया है।

न्यायालयों में अमरेली की हवेली, पोरबंदर की हवेली, नडियाद की हवेली, नाथद्वारा की हवेली, मुम्बई की मोटी हवेली और हाल ही की जूनागढ़ की हवेली ऐसी प्रत्येक हवेली जाहिर मंदिर है कि निजी घर - उससे संबंधित विवाद में पुष्टिमार्ग को जो विजय मिली है वह सिद्धांतों की शुद्ध प्रस्तुति के कारण ही और जो पराजय मिली है वह सिद्धान्तों की गलत प्रस्तुति के कारण। यह वादियों ने की या प्रतिवादियों ने, इसकी खोज में जाने का इस लेख का अभिप्राय नहीं है। अधिकांशत: इन प्रत्येक दावों में तथाकथित हवेली के महाराजश्रीओं या बहुजीमहाराजश्रीओं का प्रतिवाद निजी घर होने का ही था। वादी लोग या तो सरकार या फिर सरकार के कान भरने वाले सिद्धान्तद्वेषी तथाकथित वैष्णव ही थे। मुम्बई की हवेली के महाराजश्रीओं ने हालाँकि सार्वजनिक मंदिर होने की स्वीकारोक्ति आपसी रागद्वेष के कारण स्वयं ने ही की थी पर आज वे सब पश्चाताप कर रहे हैं। अलबत्ता प्रत्येक स्थिति में अपने सिद्धान्त और व्यवहार के बीच प्रकट होते भयंकर अन्तराल के कारण जब हम अपने धर्म के अनुयायी वैष्णवों के समक्ष सच्चे सिद्धान्तों को स्वीकारने में पीछे हट रहे हैं तो दूसरों को समझा सकेंगे, ऐसी आशा कैसे रख सकते हैं ?

किसी भी परिस्थिति में गोस्वामी बालकों के ठाकुरजी और उनकी सेवा के उपयोग में आता स्थल तथा धन उन बालकों का निजी ही होता हैं। इस संबंध में किसी भी सैद्धान्तिक संशय को अवकाश नहीं है। यह बात सम्प्रदाय के वयोवृद्ध विद्वान पू.पा.गो. श्रीवजरत्नलालजी

महाराजश्री (सूरत) की नडियाद के केस में साक्षी के रुप में दी गई गवाही और सूरत-बड़ोदरा-पाटण की उनकी हवेलियों के संबंध में चैरिटी कमिश्नर द्वारा लिए गये निर्णय को पढ़ने से भी स्पष्ट हो जाती है। इससे भी पहले पूर्व में अमरेली-हवेली के केस में अपने संप्रदाय के सिद्धांत निष्णात विद्वान श्रीछगनलालजी शास्त्री ने भी गवाही दी थी, जिसके आधार पर बड़ोदा राज्य की गायकवाड सरकार का कोर्ट में दिया निर्णय और पोरबंदर की हवेली के केस में हमारे दादाजी नित्ली.श्रीगोकुलनाथजी महाराजश्री द्वारा दी गई गवाही और पचासवें दशक के अन्त में हमारे पितृचरण नित्ली.गो.दीक्षितजी महाराज द्वारा ट्रस्ट प्रथा या आचार्यत्व का उच्छेद नाम से लेखमाला, मुम्बई समाचार में प्रकाशित करने में आई थी, उससे भी यह बात सिद्ध होती है। हमारे काका नित्ली. गोस्वामी श्री कृष्ण जीवन जी महाराजश्री ने भी मुम्बई की मोटी हवेली मोटे मंदिर के रूप में विकृत न हो जाए इसलिए हवेली नाम हटाकर गोविन्दभवन नामकरण किया था और भरपूर संघर्ष भी किया था। इस प्रकार अपने सम्प्रदाय के बालक तो अति प्राचीन काल से ही गृहसेवा के आग्रही थे। अमुक सिद्धांत विरुद्ध कृत्यों या मनोविकृतियों; जैसे जाहिर जनता को दर्शन कराना, श्रीठाकुरजी के नाम से भेंट सामग्री स्वीकारना, स्वयं के माथे बिराजते ठाकुरजी को लाड लडाने के मनोरथों के खर्चे खुद की जेब से करने के बजाय दूसरे की जेब में हाथ डालकर निकालना आदि अतिशय जघन्य कोटि की मानसिकता कारण, अपने सिद्धांत हम अपनी अनुयायी जनता को भी अच्छी तरह से समझा नहीं सके। उसके दुष्परिणाम स्वरूप आज जनता और सरकार के गले अपनी बात की हकीकत उतरनी बंद हो गई।

हैं।" इस विधान में वैष्णव प्रणाली शब्द को यदि मर्यादामार्ग के अर्थ में लें तो यह विधान सत्य हो सकता है परंतु पुष्टिमार्ग के अर्थ में लेंगे तो विपरीतता होगी। क्योंकि जाहिर मंदिर अपने आप में ही पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त से विरुद्ध होने के कारण इनसे जिस प्रणाली का प्रचार प्रसार होगा वह भी पुष्टिमार्गीय वैष्णव प्रणाली से विरुद्ध गिना जायेगा, यह तो हम देख ही चुके है; अलबत्ता मर्यादामाग्रीय वैष्णव प्रणाली के अर्थ में भी लें तो कुछ स्पष्टता विचारणीय है:-

श्रीमहाप्रभुजी एकादश स्कन्ध के -
य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः।
विधिनोपचरेद् देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम्॥
लब्धानुग्रहमाचार्यात् तेन संदर्शितागमः।
महापुरुषमभ्यर्चेन्मूर्त्याभिमतयात्मनः॥

(भाग 11/3/47-48)

उक्त श्लोकों का सुबोधिनी में सुस्पष्ट खुलासा देते हैं कि "तत्रापि शीघ्र हृदय ग्रन्थि विभेदको वैष्णवः परमात्मनो विधिना - न विभूत्यादिप्रकारेण, केवलेन पुष्टिमार्गेण इति अर्थः, तत्र अशक्तौ तंत्रोक्तप्रकारेणापि कृष्णमेव भजेत्"। अर्थात् पुष्टिमार्गीय प्रमाणानुरूप स्वयं के गृह में स्वयं के तनुवित्त से पुष्टिभावों के संगोपन की गरिमा के साथ, जो मनुष्य श्रीकृष्ण को भजने में समर्थ न हो, उसे तंत्रोक्त मर्यादामार्गीय प्रणाली के अनुसार श्रीकृष्ण की पूजा करनी चाहिए।

इस प्रसंग में तंत्रोक्त पूजा प्रणाली का स्वरूप भी जान लेना आवश्यक है। वैष्णवतंत्र शास्त्र में मूर्ति में प्राण प्रतिष्ठा दो तरह की वर्णित है:-

(1) स्वार्थ। (2) परार्थ।

स्वार्थ प्राणप्रतिष्ठा अर्थात् स्वयं के घर पर स्वयं के आराधन के लिए जब मूर्ति में प्राण - प्रतिष्ठा की जाती है वह। और परार्थ प्राण - प्रतिष्ठा अर्थात् प्राणप्रतिष्ठा महोत्सवकर्ता जब स्वयं के घर में स्वयं के आराधन हेतु नहीं पर अन्य (दूसरों) के लिए, मूर्ति में किसी देव की प्राणप्रतिष्ठा किसी सार्वजनिक मंदिर में करे अथवा करावे वह।

नारदपंचरात्र की श्रीप्रश्नसंहिता में इसकी विवेचना करने में आयी है:-

सिंधुतीरे सरित्कूले ग्रामे वा विपनादिके।
पत्तने वा पर्वताग्रे स्वयंव्यक्तादिभेदतः॥
जगतां क्षेमलाभाय दुष्कृतां निधनाय च।
संस्थितो वासुदेवस्तु परार्थ इति कथ्यते॥
स एव सर्वफलदः सर्वेषां मुक्तिदायकः।
तस्मात् सर्वजनैः सेव्यः परार्थः पुरुषोत्तमः॥
ब्राह्मणैः क्षत्रियैः वैश्यैः शूद्राद्यैः स्वस्वसद्मनि।
स्थापितो देवदेवस्तु स्वार्थ इत्यभिधीयते॥
पश्वाराम - गृह-क्षेत्र-पुत्राद्याः स्वार्थसंपदः।
तन्मात्रदानात् तद्देवः स्वार्थः संपरिकीर्तितः॥
परार्थः सूर्यसदृशः स्वार्थस्तु गृहदीपवत्।

अर्थात् सागर किनारे, नदी किनारे, गांव में या जंगल में, जो स्वयं प्रकट अथवा स्थापित की गयी, 'वासुदेव' की मूर्ति होती है - उसे परार्थ कहा जाता है। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रादि जब अपने-अपने घर में आराधना करने के लिए देवाधिदेव की मूर्ति में प्राण प्रतिष्ठा कराते हैं तब

वह स्वार्थ प्रतिष्ठा कहलाती है। केवल अपने ही पशु, उद्यान, घर, खेत, भूमि अथवा पुत्रादि-परिवार का जब किसी देवमूर्ति की आराधना के लिए उपयोग किया जाता है तब वह देव ''स्वार्थ'' कहा जाता है। परार्थ - देव सूर्य की तरह जगत को प्रकाश देने के लिए होता है जबकि स्वार्थ - देव घर को प्रकाश देने के लिए गृहदीपक की तरह होता है।

नारदपंचरात्र की जयसंहिता में यह भी खुलासा किया गया है कि परार्थ-देव की पूजा का उत्तम अधिकारी तो संन्यासी भिक्षुक या अपरिग्रही ही होता है - ''अपरिग्रहवान् यो वै तेन संपूजयेत् प्रभुम्।'' इस परार्थ पूजा के लिए किसका द्रव्य ले सकते हैं किसका नहीं, इस बाबत भी महत्वपूर्ण खुलासा किया गया है। चोर-पतित-चांडाल-दंभी-लोभी-अहंकारी और अभक्त के द्रव्य से पूजन नहीं करना चाहिए -''मात्रावित्तं न गृहणीयाद् अभक्ताद् उपचारत्: (22/11)

इसके अतिरिक्त स्वार्थ प्रतिष्ठापित देव के संबंध में एक उल्लेखनीय खुलासा दिया गया है कि स्वयं के आराध्य भगवद्विग्रह को नगर में, बाजार में, मुहल्ले में स्वयं की आजीविकार्थ प्रदर्शन करने वाले देवलक के साथ संभाषण दर्शन या स्पर्शन का व्यवहार भी नहीं रखना चाहिए। ''गृहीत्वा भगवद्बिम्बं वृत्यर्थम् अटतीह यो नगरापणवीथीषु तस्य देवलकस्य च दर्शनं स्पर्शनं नैव कुर्यात् संभाषणं तथा'' (जय सं. 21/20)

इस श्लोक के भाष्य में एक शंका उठाई गयी है कि आजीविकार्थ भगवन्मूर्तिका ऐसा दुरूपयोग स्वार्थ-प्रतिष्ठापित की तरह परार्थ-प्रतिष्ठापित के बारे में भी संभव है, तो भी केवल स्वार्थ-प्रतिष्ठापित मूर्ति

को लक्ष्य में रखकर ही यह निषेध क्यों किया गया है? इसके समाधान में भाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि मंदिर में स्थित परार्थ विग्रह का तो कोई भी वृत्यर्थ उपयोग कर ही नहीं सकता क्योंकि मंदिर की व्यवस्था तो स्वयं राजा के हाथ में होती है।

इससे यह सिद्ध होता है कि आधुनिक युग में जैसे जाहिर मंदिर सरकारी अंकुश में जा रहे हैं, वैसे प्राचीन समय में भी सार्वजनिक मंदिरों की व्यवस्था राजा लोग ही स्वयं संभालते होंगे। पर आधुनिक युग और प्राचीन युग में एक बड़ा अन्तर यह है कि तत्कालीन राजा लोग स्वयं धार्मिक थे, जबकि आज राज्य केवल अधार्मिक ही नहीं किन्तु बहुसंख्यक कौम के प्रति उनके धर्म तथा धार्मिक अधिकारों के प्रति संरक्षण की किसी भी जवाबदेही के साथ बंधे हुए नहीं हैं। अल्पसंख्यक कौम के धार्मिक अधिकारों के संरक्षण की तो ऐसी जवाबदारी सरकार ने ओढ़ रखी है कि उनके धर्म की निंदा करने वाली पुस्तकों पर भी सरकार को प्रतिबंध लगाना पड़ता है। जबकि अपने आराध्य देव श्रीराम और श्रीकृष्ण की निंदा करने वाली पुस्तक को प्रकाशित करने के लिए हाल ही में महाराष्ट्र सरकार को बाध्य होना पड़ा है।

अत: ऐसे राज्य के मातहत रहने वाले देव मंदिर चलाने में अपने धर्म का कितना संरक्षण हो सकता है यह क्या शांत चित्त से विचारने योग्य नहीं? ऐसी अधार्मिक सरकार अपने मंदिरों की व्यवस्था संभालने के बहाने उन मंदिरों में विधर्मियों को व्यवस्थापक नियुक्त करती है। दक्षिण में बहुत सारे मंदिर द्रविड मुन्नेत्र कषगम् दल के कार्यालयों में तब्दील हो गये हैं, इतना ही नहीं उन मंदिरों की मूर्तियाँ भी म्यूजियम में

बिराजमान हो गयी हैं। अपना सम्प्रदाय तो अधिकाशंत: निष्ठाविहीन लोगों का संगम है परन्तु शृंगेरी मठ के अधिकार की आद्य शंकराचार्य की जन्मभूमि भी वहाँ की सरकार ने हजम कर ली। जब कि चर्च या मस्जिद की भूमि सरकार स्वयं के अधिकार में नहीं ले सकती, क्योंकि अल्पसंख्यकों के अधिकार की संवैधानिक रक्षा हमने सहर्ष स्वीकार की है। कारण, उनके वोट चुनाव जीतने में निर्णायक साबित होते हैं। हिन्दु धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु नया ट्रस्ट बनाने पर टैक्स की छूट तक नहीं मिलती परंतु मुसलमान-ईसाइयों को यह छूट धार्मिक ट्रस्ट बनाने पर मिलती है। पुराने हिन्दु मंदिरों को ट्रस्ट बनाने पर छूट मिलती है कारण कि नही तो लोग ट्रस्ट बनायेंगे ही नहीं। इसका एक ही मतलब है कि हिन्दु धर्म के नये ट्रस्ट बनने देने नहीं और पुरानों को जैसे-तैसे अपने अधिकार में करना। ऐसे नियमों से दु:खी होकर रामकृष्ण मिशन ने आखिर स्वीकार लिया कि वे हिन्दु नहीं हैं। इस तरह हम भी न्यायालय में गुहार लगा सकते हैं कि पुष्टिमार्गीय हिन्दु नहीं हैं। तब तो जाहिर मंदिर संभवत: अपने धर्म के प्रचार-प्रसार के लिये लम्बे समय तक विश्वसनीय उपाय तरीके मान्य हो सकते हैं। अन्यथा आज की स्थिति में तो यह बात विश्वसनीय नहीं लगती।

आज ज्यादातर पुष्टिमार्गीय ऐसे ही हैं जिन्हें न तो मर्यादा भक्ति के सच्चे स्वरूप का शास्त्रीय ज्ञान, न स्वमार्गीय ग्रन्थों के आधार पर पुष्टि भक्ति के सच्चे स्वरूप का अध्ययन, न ही प्राचीन ऐतिहासिक नियमों या परंपरा की प्रामाणिक जानकारी और न ही आधुनिक कायदे-कानून की बारीकियों का खयाल। ऐसे लोग स्वयं के क्षुद्र स्वार्थवश बिना सोचे समझे

हांकते रहते हैं कि प्राचीन काल में भी अपने मंदिर राज्याधीन थे, तो आज भी राज्य का नियंत्रण स्वीकारने में कौन सी तकलीफ आ गयी?

इसमें धैर्य पूर्वक समझने की बात यह है कि प्राचीन समय में अपने निजी स्वामित्व की कोई भी संपत्ति ऐसी निजी नहीं होती थी कि जिसके निजी होने के कारण उस पर राजा का स्वामित्व खत्म हो जाता हो। राजाओं द्वारा बख्शी गयी जमीन-घर-खेत-गाँव-नेग या रोकड़ आदि, जिस तरह अपनी निजी कहलाती थी उसी तरह राजा का भी उस पर स्वामित्व रहता ही था। उदाहरणार्थ - सिंहाड़ ग्राम मूल में वहाँ के लोगों को दी हुई जागीर थी। परंतु टीकेत महाराजश्री ने जब श्रीनाथजी की सेवार्थ वहाँ स्वयं का निवास करना तय किया, तब उदयपुर महाराणा ने वहाँ के लोगों से लेकर, सिंहाड़ गाँव टीकेत महाराजश्री को भेंट कर दिया। इसीलिए तो प्रजा शब्द का अर्थ भी जनता तथा संतति, इस तरह दोनों प्रकार से स्वीकारने में आया है। जिस तरह गृहस्थी में पिता का, संतति पर अविभक्त स्वामित्व होता है, उसी तरह राजा का भी प्रजा पर अविभक्त स्वामित्व होता था।

आज तो सरकार ने उससे विपरीत, खास तौर पर मंदिरों के संबंध में 6-7 प्रकार के स्वामित्व का वर्गीकरण स्वीकार किया है- निजी हित के लिए, निजी स्वामित्व वाले मंदिर। 2-देवमूर्ति के हितार्थ-निजी स्वामित्व के मंदिर। 3-देवमूर्ति के हितार्थ-सरकारी व्यवस्था-स्वमित्व वाले मंदिर। 4- देवमूर्ति के हितार्थ-सरकारी स्वामित्व पर, निजी व्यवस्था वाले मंदिर। 5- देवमूर्ति के हितार्थ-सार्वजनिक स्वामित्व वाले मंदिर। 6- सार्वजनिक जनता के हितार्थ, सार्वजनिक जनता के स्वामित्व वाले मंदिर।

ऐसी कानूनी बारीकियों के साथ-साथ, सेवा संबंधी पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों की बातों के तारतम्य का गहन विचार किये बिना केवल द्रव्योपार्जन के लिए अथवा तो टैक्स बचाने के हेतु से ट्रस्ट बनाकर सार्वजनिक मंदिरों के फलते-फूलते धंधे को चलाते रहने का दुष्परिणाम आज यह आया है कि अपने सच्चे सिद्धान्तों को न तो कोर्ट मानने को तैयार, न जनता मानने को तैयार। यह तो ठीक, पर जिनके ऊपर इस संप्रदाय के धार्मिक उपदेश करने की जवाबदेही है, वे भी उनको (सिद्धान्तों को) कहते हुए या तो घबराते हैं या शरमाते हैं। शांत चित्त से विचारने योग्य है कि अध्यापक यदि विद्यार्थी को पढ़ाते हुए घबराता हो या शरमाता हो अथवा डाक्टर बीमार की चिकित्सा करते हुए घबराता हो या शरमाता हो तो उस विद्यालय के विद्यार्थी की अथवा चिकित्सालय के मरीज की क्या गति होगी? अत: सभी पहलुओं पर गहन विचार किये बिना क्षुद्र स्वार्थ या भीति से प्रेरित होकर सच्चे सिद्धान्तों को छिपाने में-न तो संप्रदाय का सच्चा हित है और न संप्रदाय के धर्म गुरुओं की वास्तविक गरिमा का संरक्षण।

यह दिन के प्रकाश में दिखलाई देती एक हकीकत है, फिर भी किसी प्रकार के भान बिना, कितने ही भाणजी भाई (नासमझ) दलील देते रहते हैं कि गो.बालकों के ठाकुर जी के समक्ष यदि वैष्णव जनता को ब्रह्मसंबंध दिया जा सकता हो तो उनका द्रव्य-नित्यकर्म की सेवा-सामग्री या मनोरथ की सेवा सामग्री के लिए स्वीकारने में क्यों दिक्कत आ जाती है?

ऐसे विधानों के पीछे न तो बौद्धिकता का आधार है, न स्व-

सिद्धान्त का और न स्वसंप्रदाय का और न स्व आराध्य प्रभु के प्रति श्रद्धा भाव का आधार है।

यह व्यक्तिगत रुचि-आवश्यकता-सामर्थ्य और अनुकूलता का विषय हो सकता है कि एक व्यक्ति क्या करे अथवा क्या न करे। पर समाज में हम जब कोई आयोजन साम्प्रदायिक गतिविधि के रूप में करते हैं तब, ऊपर वर्णित रूचि आदि व्यक्तिगत बातें गौण हो जाती हैं। पर ऐसे साम्प्रदायिक उत्सवों में यदि सैद्धान्तिक सुसंगति का ख्याल नहीं रखोगे तो इस पुष्टिमार्ग या वल्लभ-सम्प्रदाय के नये विभाजनों को नाहक चलाने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। सामान्य हिन्दू-धर्म में फिर क्या न्यूनता है? किसलिए नये-नये विभाजन करके हिन्दू-धर्म को छिन्न-भिन्न करना? आखिर किसी सैद्धान्तिक विलक्षणता के कारण ही नये सम्प्रदाय की आवश्यकता होती है, तो उस सम्प्रदाय का अलग रास्ता चुनने के बाद, उसके मौलिक सिद्धान्तों को भुला देना अपने सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य के साथ क्या निंदनीय विश्वासघात नहीं है?

उदाहरण के रूप में-श्री महाप्रभु जी की आज्ञा- 'यद् यद् इष्टतमं लोके' उसी तरह श्री हरि रायजी की आज्ञा सेवायां लौकिकी रीति:' के अनुसार हम सुबह-दोपहर-शाम और अलग-अलग ऋतुओं में तत्-तत् प्रकार से श्री ठाकुरजी को जगाते हैं- पोढ़ते है- स्नान कराते हैं- वस्त्र धराते हैं- इत्र-भोग सामग्री-राग आदि समर्पित करते हैं। अब कोई दुष्ट बुद्धि यह कह दे कि इतना भोग धरते हो तो ठाकुरजी को बाल भाव से मल-मूत्र त्याग क्यों नही करवाते? तो क्या लौकिक बालक की तरह ठाकुरजी को स्नान कराने से पहले मल-मूत्र त्याग कराने की सेवा करनी?

सर्वथा नहीं और नहीं ही। सेवा के संबंध में जो लौकिक रीति स्वीकारने में आयी है, उसी का अनुसरण करना है, सब लौकिक रीतियों का नहीं। उसी तरह वैष्णवों को गो. बालकों के ठाकुरजी के समक्ष ब्रह्मसंबंध दे सकते हैं, परंतु 'तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा'' गृहे स्थित्वा-भजेत् कृष्णम्'' दाने ही न स्वविनियोग:'' लोके स्वं भगवद्भावमनाविष्कुर्वन्' आदि आज्ञाओं से सर्वथा विरुद्ध होने से सार्वजनिक मंदिर इस मार्ग में नहीं हो सकते, अथवा सार्वजनिक मंदिरों में की जाती सेवा पुष्टिमार्गीय नहीं मानी जा सकती।

अतएव पुष्टिमार्गीय वैष्णव प्रणाली के प्रचार-प्रसार के लिए मंदिर आवश्यक नहीं है। इतना ही नहीं अपितु यह पुष्टिमार्गीय सिद्धांत भावना और समग्र सम्प्रदाय के हित से एकदम विरुद्ध बर्ताव भी है, यह भी सिद्ध होता है।

प्रश्नकर्ता भाई कहते हैं कि पुष्टिमार्ग में प्रत्येक कौम के लोग हैं। यद्यपि इस विधान में निष्कर्ष स्पष्ट शब्दों में नहीं कहा गया है, फिर भी अंतर्गर्भित आशय की संभावनाओं पर विचार कर सकते हैं। (1) पुष्टिमार्ग में प्रत्येक कौम के लोग हैं। अत: जाहिर मंदिर होने अनिवार्य हैं। अर्थात् यदि जाहिर मंदिर न हो तो हर कौम के लोग पुष्टिमार्ग या पुष्टिधर्म को अपना कर रह नहीं सकते। (2) पुष्टिमार्ग में प्रत्येक कौम के लोग हैं। अत: प्रत्येक पुष्टि स्वरूप, प्रत्येक कौम के लोगों के लिए सेव्य या आराध्य हो सकता है। (3) पुष्टिमार्ग में प्रत्येक कौम के लोग हैं। अत: प्रत्येक पुष्टि स्वरूप की सेवा का प्रत्येक कौम का हर व्यक्ति सैद्धान्तिक अथवा कानूनी अधिकार रखता है। (4) पुष्टिमार्ग में प्रत्येक कौम के लोग हैं। अत: अपने-अपने घर में, स्वयं के माथे बिराजते पुष्टि प्रभु की स्वयं के तन-

मन-धन से सेवा करने का सिद्धांत, अब अप्रासंगिक अथवा अव्यावहारिक बन गया है।

(1) पुष्टिमार्ग में तो श्री महाप्रभुजी और श्री प्रभु चरण के समय में भी प्रत्येक कौम के लोग थे, परंतु देश के कोने-कोने में घूमकर पिता-पुत्र ने स्वयं के ब्रह्म संबंधी अनुयायियों को उनके घर में ही सेवा करने हेतु सेव्य स्वरूप पधराये थे, सार्वजनिक मंदिर नहीं खोले थे। आज बहुत से लोग बिना सोचे-समझे ऐसा विधान करते हैं कि तत्कालीन समय में मुसलमानी शासक अपने मंदिरों को तोड़ देते थे इसलिए विधर्मी अत्याचारियों को छकाने के लिए श्री महाप्रभुजी और श्री प्रभुचरण ने स्वयं के घर में ही सेवा करने की चतुराई दिखलाई थी।

श्रीनाथजी का स्वरूप आम जनता का है या गोस्वामी तिलकायत महाराजश्री का निजी है या पारिवारिक इस विवाद के संबंध में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश श्री गजेन्द्र गड़कर कहते हैं :-

"It is true that Vaishanv temples of vallabh sect are generally described as Havelies and though they are grand inside, the outside appearance is always attempted to resemble that of a private house. This feature can, however, be easily explained if we recall the fact that during the time when Vitthalnathji with his great missionary zeal spread the doctrine of Vallabh, Hindu temples were constantly faced with danger of attack from Aurangzeb." (AIR 63S.C. 1638 para 21)

अर्थात् यह बात सच है कि वल्लभ संप्रदाय के मंदिर हवेली की तरह वर्णित हैं और भीतर से यह विशाल होने पर भी बाहर से यह निजी घर जैसे रखने में आते हैं। इस लाक्षणिकता की व्याख्या सरलता से, इस तरह हो सकती है कि हम इस सचाई को ध्यान में रखें कि जब श्री विट्ठलनाथजी वल्लभ सिद्धान्तों का मिशनरी उत्साह के साथ प्रचार कर रहे थे तब हिन्दु मंदिरों पर औरंगजेब के आक्रमण का भय सतत सताता रहता था।

अब पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त-ग्रन्थों और इतिहास का साधारण अध्ययन करने पर भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्वयं के घर में सेवा करने का सिद्धान्त, विधर्मी राजाओं के अत्याचार के तत्कालीन प्रतिकार के उपाय के रूप में दिया गया उपदेश नहीं है। वह तो शाश्वत मूल्यों पर अवलंबित एक जीवन दृष्टि के रूप में प्रकट करने में आया है। इसीलिए भक्तिवर्धिनी में स्पष्ट शब्दों में श्री महाप्रभु जी विधान करते हैं- बीजदाढ्‌र्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः। अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः (भ.व.2)

इस विधान की व्याख्या करने वाले सर्वश्री बालकृष्णलालजी, गोकुलनाथजी, रघुनाथ जी, कल्याणराय जी, हरिराय जी, गोपेश्वर जी, वल्लभ जी, बालकृष्ण जी और गिरधारी जी, ऐसे सभी व्याख्याकार एक मत से स्वीकार करते हैं कि स्वयं के घर में स्वयं के माथे बिराजते ठाकुर जी की सेवा में परायण होने से ही भक्ति का बीजभाव दृढ़ हो सकता है।

हाल ही में किसी वल्लभ भाई ने किसी एडवोकेट के नाम से लिखा हुआ एक अगड़म्-बगड़म् (अंटशंट/वाहियात) लेख भेजा है।

उसमें इस प्रश्नोत्तरी के विषयों पर बिना विचारे अंटशंट विधान किये हैं। इस लेख में भक्तिवर्धिनी के दूसरे श्लोक पर श्री पुरुषोत्तम जी की व्याख्या में 'गृहे स्थित्वा' का अर्थ 'गृहस्थाश्रमे स्थित्वा' किया है। और इसी आधार पर स्वगृह में भगवत्सेवा के सिद्धांत की आवश्यकता को अस्वीकार करने का प्रयास किया है। यद्यपि, इसमें तृतीय, चतुर्थ, पंचम, द्वितीय गृहपीठ के आचार्य व्याख्याकार ने जो गृहे स्थित्वा का अर्थ घर किया है, उसके प्रति मौन धारण कर लिया है। अतः जो कार्य निषिद्ध नहीं है, वह अनुज्ञात (आज्ञा है) माना जाना चाहिए। ऐसे अर्थान्वयन (अर्थ घटन) से स्वयं द्वारा स्वीकार्य सिद्धांतानुसार इनको भी गृह सेवा मान्य है, यह सिद्ध कर दिया है। इसके अतिरिक्त गृहस्थ का मतलब जो घर में रहने वाला हो और उस सिद्धांत का यदि श्री पुरुषोत्तम जी ने निषेध नहीं किया हो तो श्री पुरुषोत्तम जी को भी गृह सेवा अनुमत है, ऐसा सिद्ध होता है। यह तो एडवोकेट भाई की बाल्य बुद्धि के समक्ष प्रस्तुत की गई युक्तिवाद की एक आरसी (दर्पण) है। हकीकत में तो स्वयं श्रीपुरुषोत्तम जी का इस संबंध में जो निर्णायक अभिप्राय है वह तो इनकी इस पंक्ति से स्पष्ट हो जाता है- 'आचार्य कुलाद्' इति श्रुत्युक्तरीत्या गृह एव स्थित्वा भगवद्भजनं कर्तव्यं स्वधर्मरहस्यं च गोपनीयमिति सिद्धम्। (अणुभाष्य प्रकाश)। अतः गृह सेवा की अनिवार्यता का पुष्टिमार्ग में विरोध अथवा खंडन करने वाले मूर्खराय, स्वयं के पूर्वजों का खंडन करने का पाप ढो रहे हैं। इस बात में जगदीश जी ने (भगवान जगन्नाथ जी-पुरी) क्या विधान किया है, उसके पुनरावर्तन की आवश्यकता नहीं हैं। एडवोकेट के छद्म नाम से लेख लिखने वाले में नैतिक बौद्धिक अथवा स्वधर्म निष्ठा का यदि

साहस होता तो ऐसे अगड़म्-बगड़म् लेख लिखने की वल्लभ भाई के मित्र-महोदय को आवश्यकता ही नहीं होती। अस्तु ....

इनमें से कोई भी व्याख्याकार यह नहीं कहता है कि विधर्मी अत्याचारी राजा अपने मंदिरों को तोड़ देते थे, इसलिए घर में ही सेवा करनी है। श्री गोकुलनाथ जी तो स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि स्वयं के घर में भगवत्सेवा के प्रकार से भिन्न कोई भी प्रकार, अपने यहाँ सेवा का है ही नहीं। श्री गोकुलनाथ जी तो श्री हरिराय जी के गुरु हैं और इसलिए श्री हरिराय जी (द्वितीय गृहपीठ के प्रभावशाली गोस्वामी महानुभाव) आज्ञा करते हैं कि तनुवित्तजा सेवा स्वयं के घर में ही करनी चाहिए, परंतु यदि यह निभती न हो तो गृहत्याग करके जो कोई भगवदीय स्व गृह में सेवा कथा परायण हो, उसके घर भगवत्कथा-श्रवणार्थ जाना चाहिए (मंदिर जाने की बात इन्होंने कही ही नहीं है)। निबंध में श्री महाप्रभु जी मुक्ति से भी अधिक श्रेष्ठ इसको मानते हैं कि- स्वयं के घर में भगवत्सेवा परायण बनकर जीवन यापन करना चाहिए। सुबोधिनी में भी आप आज्ञा करते हैं कि स्वयं भगवदीय होने से घर में रहने का औचित्य सिद्ध नहीं हो जाता। या तो भगवान के साथ अथवा तो भगवत्सेवार्थ ही घर में रहना उचित है, अन्यथा घर छोड़ देना चाहिए।

यह दिव्य सिद्धांत अपने लिए शिरोधार्य शास्त्र, श्रुति-स्मृति-सूत्र-पुराण आदि का निचोड़ है:- श्रुति: आचार्य कुलाद् वेदम् अधीत्य गुरो: कर्मातिशेषेण अभिसमावृत्य कुटुंबे शुचौ देशे स्वाध्यायम् अधीयानो धार्मिकान् विदधद् ....

ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न स पुनारावर्तते (छान्दोग्योपनिषद्)। सूत्र: कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहार: (ब्रह्मसूत्र)। पुराण: गृहेष्वाविशतां चापि पुंसां कुशलकर्मणां मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहामता: (भागवत)

ऐसे अनेक शास्त्र वचनों के आदेशों को निष्ठापूर्वक अनुसरने की भावना के कारण श्रीमहाप्रभुजी तो श्रीनाथजी के स्वरूप को ब्रज वासियों के घर में सेवार्थ पधराना चाहते थे, और ऐसा स्पष्ट आग्रह भी प्रकट किया था- "तब श्री आचार्य जी कारीगर सों कहे हमारे ठाकुर को मंदिर सिखरबंध-ध्वजा-कलस को नाहि - नंदराय जी के घर की नाई करो।" (चौरासी वैष्णव वार्ता)। परंतु श्री महाप्रभु जी के सिद्धांत से विपरीत देवालय में बिराजने की स्वयं श्रीनाथजी की इच्छा के वशीभूत होकर श्रीमहाप्रभुजी ने आखिर यह विचार किया कि "देवालय की रीति यहाँ राखनी उचित है" (चौरासी वैष्णव वार्ता)। इससे सिद्ध होता है कि श्रीनाथजी सेवा का प्रकार तब श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धान्ताभिमत नियमानुसार न होकर, भगवत् इच्छा को सर्वोपरि रखने की दीनता पर अवलंबित एक अपवाद था, इसीलिए उस समय श्रीनाथजी की सेवा में ब्रह्म संबंध दीक्षा रहित देवीभक्त बंगालियों का प्रवेश हुआ। यह भी इतिहास अपने वार्ता साहित्य के आधार पर सिद्ध होता है। श्रीमहाप्रभुजी तो स्वयं के गृह अडेल में क्रमश: श्रीमदन मोहनजी, श्रीगोकुलनाथ जी, श्रीविठ्ठलनाथ जी, श्री नवनीतप्रियाजी और श्री द्वारकाधीश जी की सेवा में ही बिराजते थे। श्री प्रभु चरण भी छ:-छ: बालकों के प्राकट्य तक इन स्वरूपों के अतिरिक्त श्री मथुराधीश जी, श्री गोकुल चन्द्रमाजी, श्री नटवर

लाल जी तथा श्रीबालकृष्ण जी की सेवा में अड़ेल, सतघरा (मथुरा) और गोकुल में स्वगृह के सेवार्थ ही आग्रहशील रहे थे। अन्नकूट जैसे बड़े उत्सवों पर भी पिता श्रीप्रभुचरण और सातों पुत्र अपने-अपने श्री ठाकुर जी की सेवा में पहुँचते थे। अतः जतिपुरा पधार ही नहीं सकते थे। इसलिये स्वयं के साथ सातों स्वरूपों के उत्सव मनाने की आज्ञा स्वयं श्री जी ने ही की थी। अतः बहुत बाद में श्री गुसांई जी के अडेल से ब्रजगमन के बाद में श्रीजी के देवालय में बिराजने की इच्छा का उल्लंघन किये बगैर उस विधान को श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धान्तों की माला में सुसंगत करने हेतु श्रीप्रभुचरण ने स्वयं के द्रव्य से मंदिर के चारों ओर की भूमि (जतिपुरा ग्राम) खरीद कर, स्वयं के निजी मालिकाना हक के दस्तावेज और फरमान बादशाह अकबर के हस्ताक्षर-मोहर सहित प्राप्त किये थे। इस प्रकार श्रीप्रभुचरण ने स्वयं के घर में नहीं तो, स्वयं की मालिकी के गाँव में श्रीजी का देवालय अन्तर्भूत करके गजब सैद्धान्तिक विचक्षणता दिखलाई थी।

अतएव श्री महाप्रभु जी ने अक्षय तृतीया के दिन श्रीजी को जिस सार्वजनिक देवालय में पाट बैठाया था, उस दिन को अपना सम्प्रदाय पाटोत्सव दिन के रूप में मनाता ही नहीं है। श्रीगिरधरजी ने एक बार श्रीजी को फागुन बद सप्तमी के दिन सतघरा (मथुरा) में पधराया था। कुछ दिन बाद ही, उसी दिन को सारा सम्प्रदाय आज तक श्रीनाथजी के पाटोत्सव तरीके से मना रहा है। यह तथ्य जिस पुष्टि सिद्धान्त की और जिस भावना की घोषणा कर रहा है, उस पर विचार करने की या उसको मानने की बात करते ही मंदिरवादियों को पसीने छूटने लगते हैं।

इन सभी बातों पर सिद्धान्त निष्ठापूर्वक शांत चित्त से विचार करने

वाले किसी को भी यह समझ में आ जायेगा कि सर्वोच्च न्यायाधीश गजेन्द्र गड़कर का विधान कि "मूर्ति भंजक विधर्मियों से बचाने के लिए, गृह सेवा का झांसा दिया गया है" - अपने सिद्धान्त और इतिहास से कितनी विसंगत बात है।

अपने हृदय से प्रशंसक अकबर बादशाह के समय में श्री प्रभुचरण के लिए, सार्वजनिक भव्य मंदिर बनाकर चलाने के लिए धनबल, जनबल अथवा प्रशासनिक सहयोग की कोई कमी नहीं थी। इतिहास साक्षी है कि उस समय अपने श्रीजी के सार्वजनिक देवालय का पुष्टि भूमि में समावेश किया गया था। इतिहास इसकी भी साक्षी देता है कि यदि आगरा के ओहदेदार अपना पक्ष नहीं लेते तो अपुष्टिमार्गीय बंगाली कभी भी श्रीजी को छोड़ते ही नहीं। जबकि अकबर का प्रपौत्र औरंगजेब तो प्रभुचरण के समय तक जन्मा भी नहीं था तो उससे डरने की बात श्री प्रभुचरण के लिए कैसे प्रामाणिक मानी जा सकती है? अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ और उसके बाद आता है औरंगजेब। अतः यह विधान तो इतिहास से भी सर्वथा विसंगत है। और औरंगजेब ने भी हिन्दू-मंदिर तोड़ने का अपना आंदोलन अपनी वृद्धावस्था में चालू किया था। अतः श्री प्रभुचरण के लिए औरंगजेब से डरने का विधान तो अपने देश की सबसे बड़ी अदालत के सिंहासन पर बैठे विद्वान न्यायाधीश महोदय के पद के लिए सर्वथा अशोभनीय और अत्यंत विसंगतिपूर्ण विधान है!!

इससे सिद्ध होता है कि हर कौम के लोग तो श्री महाप्रभु जी-श्री प्रभुचरण के काल में भी थे, पर जाहिर मंदिर की आवश्यकता पिता-पुत्र ने अपने पुष्टिमार्ग के लिए सैद्धान्तिक या व्यावहारिक दृष्टि से कभी भी नहीं

स्वीकारी थी। हरि इच्छावश सिद्धान्त प्रतिबंध भी कर सकते हैं, तो वह अपना दासभावोचित दैन्य है– 'बाधनं वा हरीच्छया' -इसका सिद्धांत के साथ कोई लेना देना नहीं है। रजस्वला को भी सेवा करने की छूट, सिद्धांत विपरीत, अपवाद रूप में मिली थी जिसका उल्लेख वार्ता साहित्य में मिलता है। ऐसे अपवाद को सिद्धान्ततया मान्य किया जा सकता हो तो आज भी रजस्वला को मंदिरों में सेवा में नहाने की छूट देनी चाहिए।

मर्यादा मार्ग में सार्वजनिक मंदिर-प्रणाली शास्त्रमान्य है। जब तक देहाभिमान है तब तक शास्त्रीय मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। अत: श्री महाप्रभु जी के सिद्धान्तानुसार, शास्त्रमान्य पूजा प्रणाली वाले सार्वजनिक मंदिरों में होती पूजा को भी मर्यादा मार्ग के रूप में मान्यता देने में आयी है। उस मर्यादा मार्ग की नकल करके या ऐसा बहाना करके पुष्टिमार्ग में तो सार्वजनिक मंदिर बनाने की कोई गुंजाइश ही नहीं है। शास्त्रीय मर्यादानुसार ग्रहशांति होम में शनिश्चर देव या उसी तरह राहु-केतु जैसे असुरों का पूजन भी वर्णित है और उनका प्रत्येक गोस्वामी बालक के विवाह के समय अनुष्ठान भी होता है। उससे पुष्टिमार्ग में राहु-केतु असुरों को आराध्य नहीं माना जा सकता, अन्याश्रय का सख्त निषेध होने के कारण। इस सैद्धान्तिक सूक्ष्मता को समझने के लिए आचार्य चरण के अधोलिखित वचन मननीय हैं– 'यावद् देहोऽयं तावद् वर्णाश्रमधर्माएव स्वधर्मा भगवद्धर्मादयोपि विधर्मा: परधर्मा: वा। यदावा पुन: आत्मानं जीवं मन्यते संघातव्यतिरिक्तं, तदा दास्यं स्वधर्म: अन्ये वर्णाश्रमादयोऽपि परधर्मा:। (सुबोधिनी)

तस्माद् वैदिकप्रकारेण भागवतप्रकारेण वा भगवति प्रवेश:

त्रैवर्णिकानाम् अन्येषां तु भागवतप्रकारेणैव। (सुबोधिनी)

...... त्रेधा भक्तिमार्गौ निरूपित: प्रपत्तिमार्गम् आह–''जगन्नाथे विट्ठले च श्रीरंगे वैंकटे तथा यत्र पूजा प्रवाह: स्यात् तत्र तिष्ठेत तत्पर:। (निबंध)

उपरोक्त वर्णित सभी भगवदाराधना स्थल भव्य मर्यादा मार्गीय मंदिर ही हैं, जहाँ पुष्टिमार्गीय भी जा सकते हैं और जाते रहे हैं। जिनसे पुष्टिमार्गीय प्रणाली के अनुसार निज गृह में भगवत्सेवा न निभ पाती हो उन्हें यहाँ जाकर प्रपत्ति मार्ग का अवलंबन करना चाहिए। एकादश स्कन्ध की सुबोधिनी में तो आपश्री यहाँ तक आज्ञा करते हैं कि पुष्टिमार्ग को अनुसरने में अशक्य अधिकारी मर्यादा मार्गीय प्रणाली से घर में ही श्रीकृष्ण का भजन कर सकते हैं। कहीं भी चिंतन की इस शैली में विधर्मियों के जुल्म का प्रभाव दिखाई नहीं देता। केवल जीवात्मा के विभिन्न अधिकारों के प्रति सहानुभूति और विभिन्न शास्त्र वचनों की संगति बैठाने का भाव ही प्रबल दिखाई देता है।

अत: ऐसे सभी अनुकल्प विद्यमान होने के उपरांत भी, जानबूझ कर सिद्धान्तों से द्वेष कर, पुष्टिमार्गीय सेवा प्रणाली को सार्वजनिक मंदिरों के रूप में विकृत करने का हेतु कभी भी अनुमोदनीय नहीं हो सकता।

(2) पुष्टिमार्ग में प्रत्येक कौम के लोग हैं, अतएव प्रत्येक पुष्टि स्वरूप प्रत्येक कौम के प्रत्येक व्यक्ति के लिए सेव्य या आराध्य नहीं हो सकता।

क्योंकि प्रत्येक स्वरूप प्रत्येक व्यक्ति के लिए सेव्य होता तो प्रत्येक कौम के लोगों को प्रत्येक पुष्टिमार्गीय मंदिरों में भीतर-बाहर नहाने

की छूट होनी चाहिए थी। यदि ब्राह्मणों में भी, अमुक जाति के ही सेवा करने वाले मुखिया भीतरिया आदि बनते हों तो सिद्ध हो गया कि प्रत्येक कौम के लोगों के लिए प्रत्येक पुष्टि स्वरूप आराध्य या सेव्य नहीं हो सकता।

वर्तमान में श्रीनाथद्वारा के मंदिर में हरिजनों को मात्र दर्शन करने की छूट देने में आयी है और तुलसी की कंठी देने में आयी है, इससे सिद्ध होता है कि कोई भी जाति पुष्टिमार्ग में दीक्षित तो हो सकती है, परंतु प्रत्येक कौम में से, हरिजनों की कथा तो दूर, ब्राह्मणों की भी प्रत्येक उप-जाति के लिए प्रत्येक पुष्टि स्वरूप सेव्य या आराध्य हो, ऐसा देखने में नहीं आता। भीतर की सेवा में ब्राह्मणों की अनेक जातियों में से, गिरनारा, सांचोरा या औदीच्य जाति को ही प्रवेश का अधिकार दिया गया है। बाहर से मात्र दर्शन करने, नित्य सेवा या मनोरथ हेतु रुपये पैसे, सामग्री आदि भेंट धरने और प्रसाद लेने की वर्तमान में विकसित सनक को तो नवधा भक्ति में से एक भी प्रकार की भक्ति के रूप के रूप में मान्य नहीं किया गया है।

साथ ही साथ यह भी हमें नहीं भूलना चाहिए कि ब्रह्मसंबंध लेकर अपने घर में अपने माथे बिराजते श्री ठाकुरजी की सभी प्रकार की सेवा का अधिकार तो - ब्राह्मण-म्लेच्छ, बाल-वृद्ध,स्त्री-पुरुष, पुण्यात्मा-पातकी, भारतीय-अभारतीय, धनिक-निर्धन सभी को है। यदि किसी भी पुष्टि स्वरूप को हम प्रत्येक कौम के पुष्टिमार्गीय के लिए आराध्य रूप में स्वीकारें तो फिर ब्रह्मसंबंध दीक्षा देकर हरिजन आदि कौम के लोगों को भी मुखिया भीतरिया बनने का अधिकार स्वीकारना

चाहिए। क्यों कि हरिजनों को भी ब्रह्मसंबंध दीक्षा देने के बाद सेवाधिकार तो प्राप्त होता ही है। अब ब्रह्मसंबंध लेने के बावजूद भी जिस कौम के लोगों को मुखिया-भीतरिया के रूप में जिस स्वरूप की भीतर की सेवार्थ नहाने की छूट अगर न हो तो सिद्ध हो गया कि वह स्वरूप उस कौम के लोगों के लिए आराध्य नहीं है।

इस बाबत असल में अपना सिद्धांत ऐसा है कि ब्रह्मसंबंध लेने से सेवा में प्रतिबंधक बन सकते हों, ऐसे किसी भी या सभी दोषों की निवृत्ति हो जाती है, जैसे कि- ''स्वयं की पत्नी-संतति-घर-प्राण, आदि परमात्मा को निवेदन करने वाले आत्म निवेदियों को मुझ में भक्ति प्रकट हो जाती है, इनको प्राप्त होने जैसी कोई भी बात शेष नहीं रह जाती।'' इन वचनों के आधार पर, गोकुलेश श्रीकृष्ण का साक्षात भजन कर सकने के अधिकार के रूप में आत्म निवेदन को मान्य करने में आया है (श्री प्रभुचरणकृत-नव प्रकाश)

ब्रह्मसंबंध करना अर्थात् पुष्टिमार्ग के आचार्य द्वारा भगवान के सम्मुख करने में आता आत्मनिवेदन कि जिससे देह और आत्मा के सेवा प्रतिबंधक सभी दोष निवृत्त हो जाते हैं। (श्रीगोकुलनाथजी कृत-सिद्धान्त र.विवृत्ति)

ब्रह्मसंबंध अर्थात् अपने पुष्टिमार्गीय आचार्य द्वारा भगवान के सम्मुख करने में आता आत्मनिवेदन। यह ब्रह्मसंबंध लेने से स्वयं के देह जीव आदि के सभी दोषों की निवृत्ति हो जाती है। देह और जीव का उपयोग भगवत्सेवा करने के लिए तथा अन्न,वस्त्र आदि वस्तुओं का उपयोग प्रभु को भोग, वस्त्र धरने के लिए हो सकता है। (श्री कल्याणरायजी कृत-सि.र.वि.)

इससे सिद्ध होता है कि स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध, ब्रह्मचारी-सन्यासी, धनिक-निर्धन, सतयुगी-कलयुगी, ब्राह्मण-चाण्डाल, पुण्यात्मा-पापात्मा, रोगी-निरोगी, भारतीय-अभारतीय जैसे, किसी भी देह को धारण करने वाले जीव के सहज देशोत्थ, कालोत्थ, संयोगज या स्पर्शज, कैसे भी दोष हों, उस जीव को भगवत्सेवा करने के लिए, अयोग्य या अनधिकारी रहने नहीं देते। तदुपरांत भी, ब्राह्मणों में भी अमुक ही जाति के लोगों को श्रीनाथजी आदि प्रसिद्ध स्वरूपों की भीतर की सेवा में नहाने देने की प्रणालिका, इस बात को सिद्ध करती है कि, वे स्वरूप प्रत्येक पुष्टिमार्गीय के लिए भी सेव्य नहीं हैं। जाहिर या आम जनता के उद्धारक मानने की तो बात ही दूर है।

अब कहाँ तो अपने पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तः- ''घोषाधीशं तदेमे कथमपि मनुजाः प्राप्नुयुर्नैवदेवी। सृष्टिर्व्यर्था च भूयान्निजफल रहिता (श्रीवल्लभाष्टक/2) भगवद्रूपसेवार्थ तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत्'' (पुप्रम.)

अतएव निज घर के बाहर अर्थात् सार्वजनिक मंदिर में बिराजते ये स्वरूप पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों से विपरीत जगत के उद्धारक बनते हैं, या तो यह स्वीकारना चाहिए अथवा प्रत्येक कौम के लोगों को उन स्वरूपों की अन्तरंग बाह्य सेवा में नहाने की छूट होनी चाहिए थी। या फिर अपने सिद्धान्तों से विरुद्ध किसी प्रणालिकानुसार ये सार्वजनिक मंदिर पुष्टिमार्ग में एक विकृति के रूप में चल रहे हैं, यह स्वीकारना चाहिये; अथवा तो श्री महाप्रभुजी के वचनों का प्रमाण अब हम स्वीकारने को तैयार नहीं यह घोषित कर देना चाहिए।

इन विकल्पों का समाधान जिस एक बात को स्वीकारे बिना नहीं

मिल सकता, वह तथ्य यह है कि जो पुष्टि स्वरूप जिसके माथे बिराजते हों, उसके लिए ही वह स्वरूप सेव्य होता है, किसी अन्य के लिए नहीं। प्रत्येक पुष्टि स्वरूप गृह सेवार्थ पुष्ट होने के कारण एक व्यक्ति के लिए ही सेव्य होता है, और अधिक से अधिक एक परिवार का सेव्य होता है। अतः श्री पुरुषोत्तजी ऐसी आज्ञा करते हैं कि- ''तथा च यथा प्रह्लादाद्यर्थ स्तम्भादिभ्यः प्रादुर्भावः तथा अत्रापि एतस्यैव उद्धाराय प्रादुर्भावो न तु साधारणतयेति (सर्व.नि.आवरणभंग)।

इस प्रकार आम जनता का सेव्य कहलाने वाला जगदुद्धारक स्वरूप पुष्टिमार्गीय नहीं हो सकता, अन्यथा जगत के किसी भी जीव को उस स्वरूप की अन्तरंग-बहिरंग दोनों सेवा में नहाने का अधिकार स्वीकारना ही पड़ेगा। फिर अपरस छुआ जाने का या मेंड-मरजाद का बहाना चल नहीं सकेगा। क्योंकि उन सभी दोषों की निवृत्ति की जमानत स्वयं भगवान ने साक्षात् स्वमुखारविन्द से - ''ब्रह्मसंबंधकरणात्सर्वेषां देहजीवयोः। सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पंचविधाः स्मृताः॥ सहजाः देशकालोत्थाः लोकवेदनिरूपिताः। संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मंतव्याः कथंचन।'' (सिद्धान्तरहस्य 2-3) वचन द्वारा दी है।

बहुत सारे भगवत्स्वरूप, जिनकी आज जगदुद्धारक अथवा वैष्णवोद्धारक होने के रूप में बदनामी करने में आ रही है, वे हकीकत में तो उन-उन बालकों के घरों में उनके स्वयं के ही परिवार के सेव्य या उद्धारक थे, हैं और सिद्धांत स्वीकारें तो भविष्य में भी रहेंगे। अन्यथा तो वैष्णव का भी आखिर में जगत में ही जन्म होने के कारण एक ही जगदुद्धारक स्वरूप से काम चल सकता है, फिर अलग-अलग

वैष्णवोद्धारक और सेवकोद्धारक का तारतम्य निरर्थक सिद्ध हो जायेगा। ऐसी विचारसरणि में गोस्वामी बालकोद्धारक स्वरूप कोई बचता ही नहीं है। अत: गाँव की बीमारी दूर करने वाले वैद्यराजजी मानो बीमार होकर स्वयं मरने न पड़े हों ऐसा आज हो रहा है। हकीकत में तो हम गोस्वामी बालकों को आज की तारीख में प्रवाही जीवों की तरह आत्मोद्धार की लेशमात्र भी चिन्ता या परवाह रही ही नहीं। यदि होती तो, हमारे अन्दर पुरुषोत्तम होने की भ्रमणा या बावलेपन का भूत भरा हुआ नहीं होता। जो स्वयं की आचार्य पदवी के अनुरूप कृष्ण-सेवा परायणता' भागवत-तत्त्वज्ञता और दंभरहित व्यक्तित्व विकसित करने का पौरुष भी प्रकट न कर सकते हों, वे स्वयं को पुरुषोत्तम मान बैठें इससे बढ़कर हास्यास्पद बात दूसरी क्या हो सकती है?

कितने ही ठोठ लोग, जिनकी मूर्खता भरी अनेक शंकाओं का समाधान मैंने विशोधनिका आदि ग्रन्थों में कर रखा है, उनसे विशोधनिका को एक बार पढ़ लेने की विनती करते वक्त वे एकांत में कबूल करते हैं कि, ऐसे सभी ग्रन्थों को पढ़-समझ सकने की सामर्थ्य उनमें नहीं है। और मेरी पीठ पीछे गप्प हांकते फिरते हैं कि श्याम मनोहर जी से बस एक सवाल कि "क्या आप वैष्णवों के ठाकुरजी को अपने ठाकुरजी के पास पधराएंगे? यदि नहीं तो वैष्णवों और गोस्वामी बालकों के ठाकुरजी समान कैसे हो सकते हैं?" पूछ कर बोलती बन्द कर दी। पाड़ाबुद्धि वाले पुरुषों के प्रत्यक्ष प्रमाण की न्यूनता को, पूर्ण करने वालों को क्या कहना। हकीकत में तो यह प्रश्न मुझे प्रत्यक्ष पूछने में ही नहीं आया-फिर खोटी गप्प हांकने से क्या लाभ? तदुपरांत भी समझो कि मेरी बोलती बंद हो गई

तो उस बंद पड़ी बोलती का प्रायश्चित लो- मैं इस लेखनी के द्वारा कर लेता हूँ। मैं अपने ठाकुरजी के दर्शन सर्वजन के लिए (जाहिर में) तो खोलता नहीं हूँ। परन्तु कभी यदि किसी वैष्णव के माथे बिराजते ठाकुर जी मेरे घर पधारें तो, उनको मेरे ठाकुर जी के साथ एक ही सिंहासन चौकी या शैया पर बिराजमान करने में, भोग धरने में या पोढ़ाने में किसी तरह का भेदभाव रचाने की भावना मेरे मन में नहीं है, नहीं है और नहीं ही है। श्रीहरिरायजी अपने ग्रन्थ 'स्वरूपतारतम्य' में आज्ञा करते हैं कि श्रीमहाप्रभुजी-श्रीगुसांईजी द्वारा पुष्ट किये सेव्य स्वरूपों में और आधुनिक गोस्वामी बालकों द्वारा पुष्ट किये स्वरूपों के बीच कोई भेद नहीं है। इसमें मेरी दृढ़ आस्था है। अब कई जट्टबुद्धि वाले दलील देते होते हैं कि "यदि वास्तव में कोई भेद नहीं मानते हो तो स्वयं के ठाकुरजी वैष्णवों को सौंप दो और उनके ठाकुरजी की सेवा स्वयं क्यों शुरू नहीं करते?"- व्यापारिक भगती के भोंडेपन में से वैष्णव छिटक कर बाहर न चले जाएं, ऐसे कुटिल हेतु से स्वयं के माथे बिराजते श्री ठाकुरजी का माहात्म्य, ऐसे जट्टबुद्धि वाले देवलक बढ़ाते होते हैं, स्वयं के माथे बिराजते श्री ठाकुरजी में अनन्यासक्ति के कारण नहीं। इसी कारण ऐसी खोटी दलील भेजे में उपजा कर निकालते होते हैं। समझो कि कोई कहे कि "प्रत्येक मनुष्य की पत्नी-बच्चे-घर-संपदा सब एक जैसी प्रिय या श्लाघ्य होती है।" तो ऐसे जट्टबुद्धि वाले मनुष्यों सिवाय, अन्य कोई ये नहीं कह सकता कि यदि एक जैसी लगती हो तो अपनी पत्नी-बच्चे-घर-संपदा दूसरे को सौंप कर उसके स्वयं क्यो नहीं ले लेते!!

खैर, वे प्रसिद्ध स्वरूप असल में गोस्वामी बालकों के सेव्य

स्वरूप थे, अतः जिन ब्राह्मणों की जातियाँ गोस्वमी बालकों की आचार मर्यादा के अनुकूल नहीं थी उनको निज स्वरूपों की सेवा में नहाने का अधिकार नहीं दिया गया था। कूपजलाचार (कुएँ के जल की बाध्यता) अथवा ब्राह्मणाचार से देशकालातीत पुरुषोत्तम बंधा हुआ होता तो, मोहना भंगी और पठान ताजबीबी के साथ क्रीड़ा कर ही नहीं सकता। जो-जो स्वरूप, आज दिन तक कूपजलाचार या ब्राह्मणाचार की चार दीवारों में बंधे हुए रहे वह तो सेवा करने वाले के कुलाचार की कानि से ही बंधे रहे हैं। आज सेवा करने वाले स्वयं तो कुलाचार छोड़ चुके हैं और ठाकुरजी को उन कुलाचारों में कैद कर दिया है। आज जिन ब्राह्मणों को मुखिया-भीतरिया बनाया जाता है वे अपने मालिक गोस्वामी बालकों की तरह ब्राह्मणाचार का भान भूल कर अनवसर में बाजार का चाय-पान-नाश्ता करते ही हैं। श्री ठाकुर जी तो जिसके सेव्य होते हैं उसकी कानि से उसका आचार पालते हैं। पर वे अब खोटे आचार में फंस गये हैं। अतः जो ठाकुर जी जिनका आचार पालते हैं उनके ही सेव्य हो सकते हैं प्रत्येक कौम के नहीं। ऐसे अंधा बहरा कुट रहा है कि नहीं? विचार करना आवश्यक है।

हम यदि देवी के उपासक तंत्र-मंत्र करने वाले श्रीमाली ब्राह्मणों के घर भोजन कर सकते हों तो श्री ठाकुरजी के लिए सखड़ीभोग सिद्ध करने की सेवा में श्रीमाली ब्राह्मण क्यों नहीं नहा सकते? हम खुद तो होटलों में या दरिया किनारे स्टाल में भेलपुरी, कचोरी-पकोड़ी खाते हैं जो कि ब्राह्मणाचार के अनुसार खानी ही नहीं चाहिए। आज तो यह हो गया है कि हम सब कुछ खा रहे हैं और ठाकुरजी के लिए यह आग्रह रखते हैं

कि कुएँ का जल न हो तो ठाकुरजी सखड़ी आरोगे ही नहीं। वार्ता में तो आता है कि बाजार में से जलेबी लेकर धराई वो श्रीनाथजी ने आरोगी थी, अब अपरस अपनी कि श्रीठाकुरजी की?

सैद्धान्तिक दृष्टि से श्रीमहाप्रभु जी सर्वनिर्णय में आज्ञा करते हैं कि - शुद्धि(अपरस) स्वतंत्र धर्म भी हो सकता है, उसी तरह धर्मांगभूत भी। देश-काल-द्रव्य-कर्ता-मन्त्र-कर्म के भेद से छः प्रकार की शुद्धि अपेक्षित होती है। यह शुद्धि (अपरस) सभी बातों में उपकारक अंग है। खास कर श्रौत (वैदिक) कर्म तो शुद्ध देश-काल-द्रव्य-कर्ता-मंत्र-कर्म द्वारा सिद्ध हों, तभी धर्म सिद्ध हुआ कहलाता है, नहीं तो अधर्म। (सर्व नि. कारि/40-41)

वर्णाश्रम धर्म को अनुसरने वाले को तो, श्रुति-स्मृति-सूत्र-पुराणों में, जिस प्रकर धर्म उपदेशित किया गया है, उसी प्रकार उसका, विधिवत् अनुष्ठान करना चाहिए। प्रत्येक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र को, अपने-अपने ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, या संन्यास आश्रम से जो-जो आजीविका निर्धारित की गई है, उन -उन आजीविकाओं से अर्जित अन्न से ही जीवन निर्वाह करना चाहिए। आचार- (उदाहरणार्थ- कुँए के जल से स्नान-पान या ब्राह्मणों की किसी विशेष जाति के हाथ से सिद्ध रसोई को शुद्ध मानने का रिवाज) भी, यदि शास्त्रनिषिद्ध आजीविका (जैसे-देवलकवृत्ति) से पाला जाता हो, तो आचार भी आधा ही रहा-पूरा नहीं। (सर्व नि. कारि/185)

इस कलियुग में, वर्णाश्रम को अनुसरने वालों का मुख्यधर्म तो नष्ट ही हो गया। छल से कोई करता भी हो तो, उससे धर्मसिद्धि या उद्धार

तो हो नहीं सकता। अतः जैसे भी बने तैसे, विधि सम्मत होने के कारण, मात्र निभाने के लिए - निभाना ही चाहिए और इससे अधिक आदर उसमें रखने के साथ ही भक्तिमार्ग को अनुसरने का प्रयास करना चाहिए। (सर्व नि. कारि/223-224)

अभी कलियुग में तो सभी लोग विरुद्ध धर्माचार में तत्पर हो गये हैं- शास्त्रों का अध्ययन अथवा यज्ञयागादिक खुद के कर्म स्वयं करते नहीं, और न लोग स्वयं खुद के आचार (अपरस आदि) का पालन करते हैं। तथापि कहीं अपरस पाला भी जाता हो तो, वह एकदम अगड़म-बगड़म (मनमानी रीति से)। ऐसी विक्षिप्त मानसिकता वाले जिह्वोपस्थपरायण और संस्कारहीन लोग इतने दूषित होते हैं कि, वे धर्म करें तो भी धर्म सिद्ध नहीं हो नहीं सकता। जिन देशकालादि छः वस्तुओं से धर्म सिद्ध होता है, उनकी शुद्धि कलयुग में तो दुर्लभतर ही है। (सर्व नि. कारि.212-214)

तदुपरांत भी जैसे बने तैसे अपने-अपने के वर्ण-आश्रमानुसार जो कर्म, शुद्धि अथवा आजीविका शास्त्र द्वारा अपने लिए निर्धारित हो, उस स्वधर्म को अनुसरने का प्रयास करना चाहिए। जो कर्म, शुद्धि अथवा आजीविका (जैसे देवलकवृत्ति) शास्त्र निषिद्ध हो उस विधर्म से बचने का प्रयास करना चाहिए। निंदित-अनिंदित विषय का विचार किये बिना, घोडे की तरह दौड़ती इन्द्रियों पर काबू करने का प्रयास कभी भी छोड़ना नहीं चाहिए। (सर्व नि. कारि.238)

स्वयं के आश्रम के अनुरूप आचार को निभाते हुये ब्रह्मानुभव सहित यदि माहात्म्यज्ञान पूर्वक प्रभु में प्रेम हो तो ब्रह्म भाव सिद्ध होता है।

भक्ति की फलावस्था में स्वयं के आश्रमाचार यदि फलानुभव में प्रतिबंधक होते हैं तो छोड़ सकते हैं। (सर्व नि.प्रकाश 196)

जब तक यह देह है तब तक शास्त्रविहित वर्णाश्रमधर्मों को स्वधर्म की तरह स्वीकारना चाहिए। तब भगवद्धर्म भी (सेवा-कथा-तीर्थ-व्रत आदि) या तो अपने लिए कर्त्तव्य रूप नहीं हैं या किसी अन्य के लिए उपदिष्ट कर्तव्य हैं, यह स्वीकारना चाहिए। जब अपने को यह लगने लगे कि यह देह क्षणभंगुर है और आत्मा तो परमात्मा का अंश होने से उसका सहज दास है, तब भगवत्सेवा को ही स्वधर्म और वर्णाश्रम धर्मों को परधर्म की तरह स्वीकारना चाहिए। (सुबोधिनी 3/28/2)

कम से कम तीन घंटे सेवा में पहुँच कर जो आजीविका निषिद्ध नहीं हो (जैसे भगवत् सेवा करने की नौकरी या धंधा) उस उपाय से धनोपार्जन करने जाना चाहिए। व्यापारिक मन्दिर आदि, आजीविका के ऐसे साधन जो परम्परा से भी चलते आ रहे हों, तो भी उनका त्याग कर देना चाहिए। (सर्व नि.प्रकाश 232)

इन वचनों पर शांत चित्त से विचार करने से यह सिद्ध होता है कि जो अपरस के नियम हैं वे यथाशक्ति अपने लिए आवश्यक होने पर भी पुष्टिमार्गीय नियम नहीं अपितु मर्यादामार्गीय नियम हैं। मर्यादामार्गीय नियमों का त्याग देहाभिमान रहने तक नहीं किया जा सकता। हाँ, भगवत्सेवा या भगवत्कथा अपने पुष्टिमार्गीय धर्म हैं। वे तो सर्वदेश में, सर्वकाल में सर्वजनाधिकारक हैं। भगवत्सेवोचित शुद्धि तो ब्रह्मसंबंध से होती है, वर्णाश्रम धर्मोचित अपरस से नहीं। अतः वर्णाश्रम से बहिर्भूत (बाहर रहे) म्लेच्छ अलीखान, ताजबीबी आदि भी भगवत्सेवा के

अधिकारी हैं। अलबत्ता जो परम्परा से वर्णाश्रम को अनुसरते आये हैं, उनको भी देहाभिमान की निवृत्ति अथवा भक्ति की फलावस्था तक वर्णाश्रम धर्म को छोड़ना नहीं चाहिए। ऐसी स्थिति में कूपजलाचार का ढोंग करके देवलक वृत्ति करना, तो जघन्य कोटि के विरुद्ध धर्माश्रय का ही एक हास्यास्पद उदाहरण है।

(3) इसलिए, जाहिर (भगवत्सेवा को नौकरी या धंधे में विकृत किये बिना नहीं चल सकने वाले) मंदिरों के बिना, कोई भी पुष्टि स्वरूप प्रत्येक कौम के सेव्य बन ही नहीं सकते। तो किसी भी पुष्टिस्वरूप की सेवा करने का प्रत्येक कौम के पुष्टिमार्गीय को, कानूनी या धार्मिक अधिकार भी नहीं मिल सकता। अतएव, स्वयं के घर में स्वयं के वर्णाश्रम या साधारणाचार और अपनी-अपनी शास्त्रशुद्ध वृत्ति से आजीविका चलाते हुए स्वयं के परिवार जनों के सहयोग से स्वयं के तनुवित्त से स्वयं के माथे बिराजते स्वरूप की स्वयं ही सेवा करने का सिद्धान्त सिद्ध हो जाता है।

(4) पुष्टिमार्ग में प्रत्येक कौम के लोग होने से ऊपर वर्णित सिद्धान्त आज मिथ्या या अव्यावहारिक बन गये हैं या नहीं, इस संबंध में अंतरराष्ट्रीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद् के प्राणाधार नि. ली. प्रथमेशजी महाराज श्री का दिनांक 25-5-81 का 'हमारी धार्मिक स्थिति का वर्तमान स्वरूप एवं भविष्य की व्यवस्था हेतु प्रतिवेदन' - शीर्षक से प्रतिवेदन प्रत्येक पुष्टिमार्गीय के लिये अतिशय मननीय है।

संभव है कि "किसी पुष्टिमार्गीय का मन अपसिद्धान्तों से हरण हो गया हो" अथवा अन्य कितने ही अंतरराष्ट्रीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद्

के मंच के मुखपत्र का गैर लाभ लेकर पुष्टिमार्गीय भोली जनता में अपने उदररंजन या नेतृत्वरंजन के हेतु से जनमनोरंजन के लिए निरंजन आयोजन करने का उल्लास भी रखते होने से यों कहते हैं कि-

"पुष्टिमार्ग में जाहिर मंदिर का विरोध करने वाले संप्रदाय के हित के विरुद्ध काम कर रहे हैं, अतः इनकी टांगें तोड़ देनी चाहिए। क्योंकि आज की आवश्यकता धार्मिक संगठन की है, पुराने पड़ चुके निरर्थक धार्मिक सिद्धान्तों के झगड़ों की नहीं।" ऐसे महानुभावों को पूज्यपाद गोस्वामी श्री 108 श्रीरणछोड़ाचार्य प्रथमेश जी के इस निवेदन का मनन करना चाहिए। हम निवेदन में से कुछेक चुनिंदा वचन यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं-

(1) आज जो ट्रस्टों की या न्यासों की प्रणाली चल रही है, वह पूंजीवाद की एक अभिनव दासता है, जिसमें भगवान, गाय, गुरु और धर्मानुयाइयों पर एकछत्र साम्राज्य करने की लालसा समाई हुई है (पृष्ठ-10)।

(2) वल्लभ मत में, यह सिद्धांततः गलत है और ऐसे देवस्थानों का प्रसाद भी नहीं खाया जा सकता है, क्योंकि वहाँ देवलकत्व वृत्ति ही प्रधान है। (पृष्ठ-10)

(3) इस सबका क्या मतलब है यह समझ में आना कठिन है। हाँ, एक बात साफ है कि स्वार्थ से मतलब है, धर्म-कर्म सब उसी में आ जाते हैं। इन सब बातों से विचार करने को बाधित होना पड़ता है कि धर्म की भावी व्यवस्था क्या होनी चाहिए, जिसमें मौलिकता सुरक्षित रह सके। यह एक निश्चित तथ्य है कि जितना पैसे को महत्व मिलेगा, धर्म की हानि ही होगी। (पृष्ठ-11)

(4) आज के युग को देखते हुए जहाँ न्यास करना (बनाना) आवश्यक है, वहाँ उपर्युक्त सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर ही न्यास करना चाहिए, जिससे देवलकवृत्ति से भी बचा जा सके। यदि ऐसी व्यवस्था नहीं की जाती तो देवद्रव्य होता है, जिसके सेवन करने से आचार्य स्पष्ट कहते हैं कि नर्कपात होगा (वह तो मरणोपरांत, परन्तु जीते-जागते तो अव्वल तो हम पुष्टिमार्गीय ही नहीं रह जाते हैं और मुर्दा चांडाल जैसे अपवित्र बन जाने से, कूपजलाचार की खासा-सेवकी मरजाद भी सदैव के लिए टूट जाती है।) यहाँ यह शंका हो सकती है कि किसने देखा कि नरक मिलता है? किन्तु भगवान और उनका भाव शास्त्र सिद्ध है, तब यह स्वयं मानना पड़ेगा कि नरक की यातना भी मिलेगी अन्यथा कुछ धर्म सच्चा और कुछ झूठा, ऐसा मानने से न धर्म रहेगा और न ईश्वर को मानने की आवश्यकता है। (पृष्ठ 12)

इससे अधिक सिद्धान्त शुद्ध, व्यवहारिक, वर्तमान देश-काल की गहरी समझ युक्त और सर्वोपरि अपने सम्प्रदाय की हितकामना से पूर्ण दूसरा क्या विधान हो सकता है। तदुपरांत आज परिषद् के भी अमुक कार्यकर्ता जो सिद्धान्त विरुद्ध बातें करते हैं वे तो 'अन्त:शाक्त बहिर्वैष्णव सभामध्ये तु वे. शा. स. पू. पा.' हैं जो कि हकीकत में तो अन्त: प्रविष्ट सम्प्रदाय द्वेषी ही हैं। यह तो उनका जाने अनजाने में प्रकट हुआ हृदय निगूढ़ निरा धर्मद्वेष ही है।

(5/ग) प्रश्नकर्ता भाई ने पूछा है कि मंदिर होगा तो जो वैष्णव अन्य मार्ग की तरफ मुड़ रहे हैं वे आकर्षित होकर अपने मार्ग में आयेंगे। क्या यह एक बड़ा कार्य नहीं है?

अभी भी बड़े-बड़े गाँवों में मंदिर तो हैं फिर भी गुजरात और सौराष्ट्र के कितने ही वैष्णव, या तो स्वामीनारायण-पंथ अथवा स्वाध्याय अथवा तो प्रजा पिता ब्रह्माकुमारी आंदोलन या गायत्री परिवार की ओर आकर्षित हो जाने से पुष्टिमार्ग को छोड़कर, उस तरफ चले ही गये हैं। इनको आकर्षित करने में अपने मंदिर आधिभौतिक, आध्यात्मिक अथवा आधिदैविक दृष्टि से पूर्णत: निष्फल हुए हैं। मेरे निजी अनुभव की बात लिख रहा हूँ - यहाँ मुम्बई में पुष्टिमार्ग के प्रचार हेतु, पुष्टिमार्गीय सेवाप्रणाली वाले एक मंदिर के प्रांगण में, एक बार - श्रीनाथजी की ध्वजाजी पधराने का मनोरथ था। श्रीनाथजी के ध्वजाजी कोई चार-पाँच दिवस बिराजने थे। मंदिर के संचालक ट्रस्टी, अधिकांश पुष्टिमार्गीय वैष्णव न होकर वैष्णव पुत्र थे। और वे पुष्टिमार्ग छोड़कर अन्य मार्गीय उपदेशकों की ओर बह रहे थे। श्रीनाथजी की ध्वजाजी के मनोरथ के लिए भी वे वैष्णव पुत्र उन अन्यमार्गीय उपदेशकों के रविवार के प्रवचन, स्थगित करने के लिए तैयार नहीं थे। पुष्टिमार्ग के लिए स्थापित मंदिर के प्रांगण में, पुष्टिमार्ग सर्वस्व श्रीनाथजी के ध्वजाजी का समारोह उन पुष्टिमार्गीय वैष्णवों के पुत्रों अर्थात् पुष्टिमार्गीय मंदिर के संचालक ट्रस्टियों ने वह ध्वजाजी समारोह स्थगित करवा दिया। यदि सार्वजनिक मंदिर अन्य मार्ग की ओर आकर्षित वैष्णव जनता को पुष्टिमार्ग की तरफ आकर्षित करने का अचूक उपाय हो तो तो ऐसी घटना घट ही नहीं सकती थी। उसमें भी पुष्टिमार्गीय मंदिरों के संचालक स्वयं ही जो पुष्टिमार्ग की तरफ आकर्षण न रखते हों तो ऐसे जाहिर मंदिर जनता को आकर्षित कर सकते हैं, यह दलील बहुत कमजोर लगती है।

इसके अलावा अपने मार्ग के प्रति अपनी जनता को आकर्षित करने के लिए अपने ही आचार्य वचन और सिद्धान्त को यदि तिलांजलि देनी पडे तो 'पाग की आशा में छिदाए शीश और शीश छेदन के बाद पाग कहाँ धारे, सब कोई मूरख मन में न विचारे।' - जैसा कुछ घटित होता नहीं कहलायेगा?

स्वसिद्धान्तों को सूली पर चढ़ाकर, जनता को स्वमार्ग में आकर्षित करने वाली बात मुझे तो सर्वथा अनीतिभरी लगती है। इतनी ही अनीतिभरी जितनी कि किसी धार्मिक ग्राहक को फंसाने के लिए कोई गणिका आकर्षक बनकर, मंदिर-तीर्थ-सत्संग में पूजन-यात्रा-श्रवण के धर्म-लाभ का नाटक करती हो। नीतिविहीन आकर्षण में जनता को धर्म-लाभ पहुँचाने की वृत्ति के बजाय, जनता से धर्म के नाम पर लाभ लेने की वृत्ति अधिक लगती है।

सिद्धान्तानुसार तो अपने यहाँ सार्वजनिक मंदिर हो ही नहीं सकते। **गृहसेवा ही सिद्धान्त सम्मत प्रकार है।** इस तथ्य की सुन्दर मननीय विवंचना अपने सम्प्रदाय के वयोवृद्ध विद्वान आचार्य पू. पा. गोस्वामी श्रीब्रजरत्नलालजी महाराज द्वारा नडियाद केस में कोर्ट में सन् 46 में दी गई जुबानी (साक्षी) के इन अंशों में मिलती है। जो कि वास्तव में प्रत्येक पुष्टिमार्गीय के लिए मनन करने योग्य है :-

वकील : श्री महाप्रभुजी, श्री गुसांईजी द्वारा किस ग्रन्थ में और क्या तथा कौनसी आज्ञा करने में आई है, वह बतायेंगे?

पू.पा.महाराजश्री: हाँ, सम्प्रदाय में देवालय नहीं है।

वकील : क्षणभर के लिए भी ठाकुरजी की सेवा से विमुख न हो,

ऐसी श्री महाप्रभुजी की आज्ञा है। अतएव, श्री ठाकुरजी के सुख का विचार करके महाराज के मकान भी मंदिर में ही समाहित करने में आते थे, क्योंकि स्वयं महाराज को तो अधिकांश समय सेवा में ही व्यतीत करना पड़ता था, और पड़ता है, यह बात सत्य है?

पू. पा. महाराजश्री : यह बात सच है, किन्तु, मकानों में श्री ठाकुरजी की व्यवस्था करने में आती थी न कि मंदिरों में मकानों की।

हकीकत में तो यह अपने सम्प्रदाय का दुर्भाग्य है कि इतना शास्त्रशुद्ध और सचोट विभाजन जो अपने समादरणीय वृद्ध पुरुषों ने किया है, इसका विवेक रखने का और स्वयं अमल करने का प्रयास अपने सम्प्रदाय में हुआ ही नहीं है। उसी के दुष्परिणाम स्वरूप आज की अपनी अपठित पीढ़ी के कई उपदेशक और अनुयायी तो गृह सेवा की बात करते ही रुष्ट हो जाते हैं, अथवा स्वसिद्धान्त को जाहिर जनता के समक्ष स्वीकारने में लज्जा-भय या त्रास से पीड़ित हो जाते हैं।

श्री महाप्रभुजी-श्री गुसांईजी-श्री गोकुलनाथ जी-श्री हरिरायजी और श्री पुरुषोत्तमजी आदि सभी पूर्वाचार्य स्वयं के घर में ही स्वयं के द्वारा ही भगवत्सेवा को स्वधर्म के रूप में स्तुत्य बताते हैं। जाहिर मंदिर में भगवत्सेवा की नौकरी या धंधे की प्रथा की दुर्गंध अपने इस दिव्य मार्ग में घुस जायेगी; इसकी कल्पना भी इन्होंने नहीं की थी, जिसका आज चारों ओर नग्न तांडव हम देख रहे हैं। इसका विस्तृत विचार हम कर भी चुके हैं।

(5/घ) इस तरह उत्तरोत्तर मंदिरों के लिए, सेवा देने वालों की संख्या बढ़ती रहेगी और आर्थिक पक्ष मजबूत होगा।

इस चौथे प्रश्न के भीतर आता विधान अपने दिव्य सिद्धान्त तथा दिव्य भावना का सबसे अधिक घातक विधान है।

सबसे पहले तो दूसरों को सेवार्थ वित्त देने को, श्रीप्रभुचरण सच्ची सेवा के रूप में स्वीकारते ही नहीं हैं- वित्तं दत्त्वा अन्येन् पुरुषेण कृत्वा कारिता एका, एतादृशेन पुंसा कृता च अपरा, एतादृश्यौ ते तत्साधिके न।' अर्थात् धन देकर, दूसरे मनुष्य द्वारा सेवा करवाने की भ्रमणा में अथवा तो दूसरे मनुष्य के पास से धन लेकर सेवा करने की भ्रमणा से भगवत्सेवा सिद्ध ही नहीं होती। अत: जाहिर मंदिरों में भगवत्सेवा के छल छद्म द्वारा आर्थिक पक्ष को मजबूत करने की बात तो इस मार्ग के सिद्धान्तों की अतिशय क्रूर अथवा निष्ठुर हंसी है।

इतना ही नहीं श्रीप्रभुचरण तो यहाँ तक आज्ञा करते हैं कि - ''ननु कश्चिद् जीविकाद्यर्थमपि भजते तस्या का गति: इत्यत: आहु: लोकार्थीति। 'लोक' पदेन लौकिको अर्थ: उच्यते। तदर्थी चेत् कृष्णं भजेद् व्यापारवद् अर्थे सिद्धे तस्यापि अनर्थरूपत्वेन तत्कृतभजनस्य भक्तित्वाभावात् तत्कृतं सर्वं क्लेशरूपमेव। अत: क्लिष्टो भवति। न केवलम् ऐहिक: क्लेश: किन्तु परलोकोपि नश्यति, निषिद्धाचरणादिति 'सर्वथा' इति उक्तम्। यस्य स्वल्पमपि ज्ञानं स न एवं करोति। सर्वथा तद्रहित: कश्चन एवं कुर्यादपि।''

अर्थात् नौकरी या धंधे के रूप में जो सेवा करता हो, उसकी क्या गति? इसका खुलासा श्रीमहाप्रभुजी 'सिद्धान्तमुक्तावली' के सोलहवें श्लोक द्वारा कर रहे हैं।'लोक' अर्थात् किसी भी लौकिक वस्तु की प्राप्ति की कामना रखकर कोई कृष्ण का भजन करता हो तो नौकरी या धंधे की तरह धनोपार्जन करता होने से, वह धन अनर्थरूप ही होता है। ऐसे मनुष्य द्वारा किया जाता भजन भक्ति नहीं हो सकता, अत: उसका किया कराया

सब क्लेशरूप बन जाता है। वह क्लेश भी केवल ऐहिक नहीं रह कर निषिद्ध होने के कारण परलोक का भी नाशक होता है। जिसको थोड़ा भी ज्ञान है, वह कभी भी इस प्रकार भजन नहीं करेगा। सर्वथा ज्ञानरहित (मूढ़) ही कोई ऐसा काम कर सकता है।

श्रीप्रभुचरण की इस स्पष्टोक्ति के आधार पर समझ सकते हैं कि व्यक्ति-परिवार-समाज किसी के भी आर्थिक हित के लिए भगवत्सेवा या कथा को माध्यम बनाने में आता है, तो उससे व्यक्ति, परिवार या समाज का यह लोक और परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं। इसीलिए पुष्टिमार्ग के महान विचारक, पूज्यपाद श्री प्रथमेशजी महाराजश्री के ऐतिहासिक और भव्य उद्गार हमने पढ़े हैं कि ''यह एक निश्चित तथ्य है कि जितना पैसे को महत्व मिलेगा, धर्म की हानि ही होगी।'' (प्रश्नोत्तरी)

यह विधान केवल श्री प्रथमेशजी महाराजश्री ने अपनी मनस्वी विचारधारा की तरह प्रकट किया हो- ऐसा भी नहीं है। इनकी तुलना में वयोवृद्ध पूज्यपाद श्री ब्रजरत्नलालजी महाराजश्री (सूरत) ने भी इस बाबत में खूब ही मननीय विधान किया हुआ है। गोस्वामी बालकों के घर में बिराजमान श्रीठाकुरजी को वैष्णव स्वयं ही या गुरु द्वारा भी, कुछ भी अर्पण कर नहीं सकते हैं, ऐसा आचार्योचित साहसपूर्ण विधान आप द्वारा स्पष्ट शब्दों में किया हुआ है। नडियाद केस की साक्षी में प्रतिवादी के वकील और पूज्यपाद महाराज श्री के संवाद के चुनिन्दा अंश अहोभाव से हम यहाँ प्रस्तुत करेंगे-

वकील :- एक वैष्णव के यहाँ सेव्य स्वरूप हो, तो अन्य कोई वैष्णव उस स्वरूप को कुछ भेंट कर सकता है?

पू.पा.महाराजश्री : नहीं, यह सम्प्रदाय की पद्धति नहीं है।

वकील : साम्प्रदायिक मंदिरों में श्री ठाकुरजी की सेवार्थ वैष्णवों की ओर से, स्थावर-जंगम मिल्कियत (सम्पत्ति) दी जा सकती है या नहीं?

पू.पा.महाराजश्री : श्री ठाकुरजी को कोई सीधे ही भेंट नहीं कर सकता।

वकील : जब कोई वैष्णव श्री ठाकुरजी को सीधे ही भेंट नहीं कर सकता तो क्या गुरु के द्वारा भेंट कर सकता है?

पू.पा.महाराजश्री : नहीं।

वकील : साम्प्रदायिक किसी भी मंदिर में, जिसमें गोस्वामी बालक अगर न हो-तो उन सभी मंदिरों में श्री ठाकुरजी की सेवार्थ वैष्णव भेंट नहीं दे सकता या जिन मंदिरों में गोस्वामी बालक हों उन मंदिरों में ही नहीं दे सकता?

पू.पा.महाराजश्री : कोई भी ठिकाने नहीं दे सकता।

वकील: यदि पुष्टिमार्गीय किसी भी मंदिर में वैष्णव, श्री ठाकुरजी की सेवा, नेगभोग के लिए और श्री ठाकुरजी की सेवा के निर्वाहार्थ भेंट देकर वित्तजा सेवा करते हों और उस मंदिर में तनुजा सेवा भी करते हों तो वह मंदिर पुष्टिमार्गीय मंदिर नहीं है, यह आपका कहना है?

पू.पा.महाराजश्री : पुष्टिमार्गीय मंदिरों में वैष्णवों की तनुजा या वित्तजा सेवा, स्वतंत्र करने की कोई प्रक्रिया नहीं है और उस तरह की जाती हो तो वह साम्प्रदायिक मंदिर नहीं कहलाता।

श्रीप्रभुचरण प्रभृति पूर्वाचार्यों के वचनों से विपरीत स्वयं की अर्थलोलुपता के विधानानुसार शपथ-पत्र में वर्णित गृह सेवा और तनुवित्तजा सेवा के सिद्धान्तों को अवैधानिक गिनना तो शपथ-पत्र का गौरव है- अगौरव नहीं!

भगवत्सेवापरायण, निबंध-सुबोधिनी के नित्य स्वाध्याय में तत्पर और निर्भीक-निर्दम्भ मार्गनिष्ठा रखने वाले एक आदर्श धर्माचार्य नि. ली.श्री गोविन्दरायजी (सूरत-पूना) के विद्वान शास्त्राभ्यासी आत्मज पू.पा. श्री बालकृष्णलालजी महोदय भी इस बाबत में कोई विशेष मतभेद रखते हों, ऐसा उनके 1984 में प्रकाशित 'पुष्टिने शीतल छांयड़े' ग्रंथ के अवलोकन से तो सिद्ध होता नहीं है। 'पुष्टिने शीतल छांयड़े' ग्रन्थ में से इस बाबत में खुलासा करने वाले कई मननीय वचनामृत यहाँ उद्धत करने की लालसा रोके नहीं रूकती।

प्रश्न: देवद्रव्य किसे कहा जाता है? गुरु द्रव्य किसे कहा जाता है? महाप्रसाद किसे कहा जाता है?

उत्तर: देवद्रव्य अर्थात् देव का द्रव्य। देव को उद्देश्य कर, अर्पण किया जाता द्रव्य या कोई भी पदार्थ 'देवद्रव्य' कहा जाता है। उसी तरह गुरु को उद्देश्य कर, अर्पण किया जाता द्रव्य या कोई भी पदार्थ 'गुरुद्रव्य' कहा जाता है। प्रभु की प्रसादी वस्तु को 'महाप्रसाद' कहा जाता है।

प्रश्न : जो मंदिर ट्रस्टियों के अधिकार में हैं वहाँ द्रव्य सीधा श्री ठाकुरजी को अंगीकार होता है तो यह द्रव्य 'देवद्रव्य' कहलायेगा? और है तो इसके द्वारा धरी जाती सामग्री 'महाप्रसाद' कहलायेगी? वैष्णवों द्वारा ली जा सकेगी?

उत्तर : जो मंदिर ट्रस्टियों के अधिकार में हो और जिसमें बालक का स्वत्व नहीं हो, ऐसे मंदिर में आते द्रव्य का देव द्रव्य तरीके व्यवहार हो तो यह अयोग्य नहीं है। (अर्थात् वह 'देव द्रव्य' कहलायेगा)। गोस्वामी बालकों के अधिकार में जो मंदिर हैं, उसमें, उनकी (गोस्वामी बालकों की) प्रधानता होती है। ऐसे मन्दिरों में जो कोई वस्तु, सामग्री अथवा द्रव्य आता है तो, वह उनको (बालकों को) उद्देश्य करके आता है, अत: उसका 'देव द्रव्य' तरीके व्यवहार करने में नहीं आता है। कभी प्रभु के लिए हो तो भी, इनके द्वारा वह द्रव्य-सामग्री आदि प्रभु को अंगीकार होने से, उसमें 'देवद्रव्यपनें' का बाध नहीं हो सकता। अपने घरों में (मंदिरों में) प्रभु के सान्निध्य में जो द्रव्य अथवा चीज-वस्तु भेंट धरने में आती है वह देव द्रव्य कहलाती है, और इस तरह आया हुआ द्रव्य अथवा कोई भी वस्तु हो, उसमें सीधा देवलकत्व आता है अत: वह अग्राह्य है। श्री के सन्मुख भेंट धरा हुआ द्रव्य, हमारी पेढ़ी में (मेहताबखाने में-खजाने में) जमा नहीं होता। गोस्वामी बालकों की पेढ़ी में आता द्रव्य, उनका निजी होता है, इसलिए उस द्रव्य का 'देव द्रव्य' तरीके व्यवहार नहीं होता। (पुष्टिने शीतल छांयड़े भाग-2, पेज 186 प्रकाशन: 22.1.84)।

इस प्रश्नोत्तरी का अवगाहन करने से एक बात अच्छी तरह से समझी जा सकती है कि स्वगृह सेवा को और स्वतनुवित्तजा सेवा को अवैधानिक या अप्रामाणिक मानने वाले सिद्धान्तद्वेषियों को जबड़ातोड़ (मुँह तोड़) खुलासा विद्वदवर्य श्री बालकृष्ण लाल जी महोदय ने भी दिया हुआ है। इसके बावजूद आज अपने मार्ग में ऐसी विडम्बना पनप रही है कि 'देव द्रव्य' का प्रसाद लेने के निषेध को कई लोग जानबूझ कर, 'श्रीठाकुरजी के प्रसाद का निषेध'

अर्थघटन करके पुष्टिमार्गियों को भटकाना चाहते हैं। वे कहते हैं कि शपथ लेने वाले सब बहिर्मुख हो जायेंगे।

---

1. नित्य लीलास्थित प्रात: स्मरणीय श्री गोविन्दरायजी के घनिष्ठ सम्पर्क में रहने वाले कुछ भाग्यवान वैष्णवों के मुँह से सुना है कि श्री ठाकुर जी के नाम पर कोई शाक भाजी भी धरी जाती तो उसको आप श्री स्वीकार नहीं करते थे। यदि यह बात सच है तो उसके कारण के बारे में विचार करने पर यही समझ में आता है कि उक्त रीति से आया द्रव्य, वस्तु या सामग्री देव द्रव्य हो कि नहीं परन्तु- श्री ठाकुर जी की सेवा में स्वीकार करने पर सेवाकर्ता की सेवा तनु वित्तजा न रहकर भाड़े की तनुजा सेवा के रूप में विकृत हो जाती है और भेंट धरने वाले वैष्णव में भक्ति वृद्धि के स्थान पर अहंकार वृद्धि का दोष उत्पन्न करने का अपराध, लेने वाले को लग जाता है। अत: सामग्री/द्रव्य देव द्रव्य होता हो या नहीं परन्तु - 'भुविभक्ति प्रचारैककृते स्वान्वयकृत' रूप श्री महाप्रभु के वंशजों को - 'भुवि मोहप्रचारैककृते स्वान्वयकृत्' की भाँति अपने श्री महाप्रभु के बदनाम न होने की चिंता करना शोभा देता है। इसीलिए श्री पुरुषोत्तम जी चिंता व्यक्त करते हुए कहते हैं कि :- ''नच यागो यजमानस्येव वित्तदातुः फलति इति शंक्यं, तंत्र ऋत्विग्दक्षिणादिवद् अत्र तद्दानादेः भक्तिमार्गे भगवता अनुक्तत्वात्। अत: तथा न कार्य किन्तु भगवदुक्तरीत्यैव कार्यम्'' इसीलिए नयी पीढ़ी के शांति प्रिय विद्वद्वर्य पू.पा. श्री बालकृष्ण लाल जी महोदय का तात्पर्य यहाँ सिद्धान्त विवेचन का न होकर प्रचलित कुप्रथा की आलोचना की झंझट में न पड़ने का ही लगता है। क्योंकि 'पुष्टि ने शीतल छांयड़ें' - में तनु वित्तजा सेवा की आवश्यकता पर भी बल तो दिया ही है। (गोश्याम)

2. यद्यपि यह लेखमाला छपने के बाद पूपा. महाराज श्री और पू. पा. बालकृष्ण लाल जी आदि भ्रातृत्रयी ने संयुक्त नाम से अपसिद्धान्तसार - सर्वस्व रूप 'विमर्श' प्रकाशित कराया है जिसके दो प्रकरणों के मेरे जवाब भी छप गए हैं। (गो.श्याम)

'मेरो व्हैके देव द्रव्य खावेगो सो महोपतित व्है जायेगो, मेरो नहीं कहायेगो'। क्या यह विधान श्री महाप्रभु जी ने, लोगों को बहिर्मुख करने को किया है? 'लौकिक कामना की पूर्ति हेतु आजीविका के रूप में जो कृष्ण भजन करेगा - उसके यह लोक-परलोक दोनों बिगड़ेंगे'। क्या यह विधान श्री गुसांईजी ने लोगों को बहिर्मुख करने हेतु किया है? 'सेवार्थ दूसरे का धन लेकर मात्र शरीर से सेवा करने से या दूसरे को सेवार्थ धन देने से या तो सेवा भाड़ूती बन जाती है, या अहंकार बढ़ जाता है'। क्या यह विधान श्री पुरुषोत्तम जी ने लोगों को बहिर्मुख करने को प्रकट किया है? 'देव द्रव्य खाने से नर्कपात होगा'। क्या यह विधान गोस्वामी श्री रणछोड़ाचार्य प्रथमेश जी ने, लोगों को बहिर्मुख करने को प्रकट किया है?

क्या अपने घरों में (मंदिरों में) प्रभु के सान्निध्य में जो द्रव्य अथवा कोई चीज-वस्तु धरने में आती है वह देव द्रव्य कहलाती है। कारण कि वह प्रभु को उद्देश्य करके ही भेंट धरने में आती है। इस रीति से आता द्रव्य कोई भी वस्तु हो, उसमें सीधा देवलकत्व आता है, अत: वह अग्राह्य है। श्री के सन्मुख धरा हुआ द्रव्य, हमारी पेढ़ी में (मेहताबखाने में) जमा नहीं होता। गोस्वामी बालकों की पेढ़ी में आता द्रव्य उनका (बालकों का) निजी होता है, इसलिए ऐसे द्रव्य के प्रति देव द्रव्य का व्यवहार नहीं होता।

''परन्तु जो मंदिर केवल ट्रस्टियों के अधिकार में हों, उन मंदिरों में तो वहाँ बिराजते श्रीठाकुरजी को उद्देश्य करके ही तमाम द्रव्य आता होता है, इस प्रकार के मंदिरों में तो, सन्मुख धरा जाता द्रव्य तथा ट्रस्ट के ऑफिस में आता द्रव्य-उसको स्पष्ट 'देव द्रव्य' कह सकते हैं और उस

द्रव्य से सिद्ध होती सामग्री भगवत्प्रसादी होने से, प्रसाद तो होती है, परन्तु उसके साथ उसमें देव द्रव्यपना तो रहता ही है। अत: वैष्णवों को इस प्रसाद को देव द्रव्य समझ कर व्यवहार करना चाहिए। ऐसा महाप्रसाद लेने में देव द्रव्यपने की बाधा तो रही हुई ही है।" यह विधान क्या वैष्णवों को बहिर्मुख करने को प्रकट किया है?

तीन-तीन पीढ़ियों से साम्प्रदायिक ग्रन्थों का अविच्छिन्न अध्ययन करने वाले पू. पा. व्रजरत्न लाल जी महाराजश्री, नि. ली. श्री गोविन्दराय जी महानुभाव और श्री बालकृष्ण लाल जी महोदय आदि, क्या लोगों को बहिर्मुख करना चाहते हैं?

अपने सेव्य प्रभु तो, मानसी सेवा की सिद्धि से पूर्व बाहर ही बिराजते होते हैं, और हृदय के भीतर किसी समय भगवद्भाव न होकर धनलोलुपता ही भरी हुई हो, यह भी तो संभव है। अत: भीतर भगवद्भाव वालों को अंतर्मुख होना चाहिए परंतु जिनके भीतर धनलोलपता भरी हो उनको तो बहिर्मुख कहना ही अधिक उचित होगा।

इस समग्र मनोवृत्ति का चित्रण प्रस्तुत करने के लिए एक कल्पित संवाद मैं यहाँ नमूने के रूप में जोड़ना चाहता हूँ:-

प्रश्न :- जो देवद्रव्य का प्रसाद न लें तो जो हवेलियाँ आज जाहेर ट्रस्टियों के संचालन के अधीन हैं अथवा जिनमें गोस्वामी बालकों की प्रधानता खत्म हो गई है उन मंदिरों में बिराजते श्रीमहाप्रभु, श्री गुसाई जी के निधि स्वरूपों का प्रसाद लें या नहीं?

उत्तर :- सोने की कटोरी गिरवी रखकर भोग धरने के प्रसंग में : अपने घर में बिराजमान श्री नवनीतप्रिंया जी के उद्देश्य से स्वयं ने अथवा

अपने किसी निजी भगवदीय द्वारा दान रूप में भेंट धरी गई सोने की कटोरी को गिरवी रखकर सिद्ध की गई सामग्री अपने सेव्य प्रभु को तो भोग धरी ही थी। उसका, परन्तु, महाप्रसाद आपने स्वयं या अपने परिवार के सेवक टहलुओं को भी अपनी प्रधानता होने के बावजूद नहीं लेने दिया। थोड़ा महाप्रसाद गोग्रास में और बचा हुआ यमुना जी में पधरा दिया। कारण पूछे जाने पर – 'जो देवद्रव्य खायेगो सो महापतित व्है जाएगो, मेरो नाहिं कहावेगो।' – आज्ञा करके अपनी अतिशय घिन व्यक्त की थी। श्री ठाकुर जी की कटोरी गिरवी धरने से हुई केवल कोई मनोव्यथा प्रकट नहीं की थी ; जैसे आधुनिक धंधाखोर ढोंगी वचनामृत करते हैं कि – इस वार्ता प्रसंग को देखते हुए ते हमें नहीं ही लेना चाहिए।

प्रश्न :- इसका मतलब कि श्री महाप्रभु जी – श्री गुसांई जी के निधि स्वरूपों का प्रसाद भी लेना नहीं चाहिए?

उत्तर :- निधि स्वरूपों का प्रसाद लेने की मनाही नहीं है, परन्तु वह देवद्रव्य से सिद्ध हुआ नहीं होना चाहिए।

प्रश्न :- पर आज तो अधिकांश जगह देवद्रव्य से ही भोग सामग्री सिद्ध करने में आती है, तो देवद्रव्य की माथापच्ची में पड़ने से भगवत्प्रसाद से वंचित रह जाने का प्रसंग उपस्थित हो जाता है कि नहीं?

उत्तर : क्या महाप्रभु जी ने श्रीनवनीतप्रियाजी के प्रसाद को न लेकर यमुना जी में पधरा दिया, तो स्वगृह सेवा में बिराजमान स्वयं के सर्वस्व सेव्य स्वरूप का अनादर किया?

प्रश्न :- श्रीमहाप्रभुजी की पुरानी बातों को एक तरफ पटको और आज हमें क्या करना चाहिए इस बारे में बतलाओ?

उत्तर :- जितनी पुरानी श्रीमहाप्रभुजी की बातें हैं उतने ही पुराने उनके सेव्य निधिस्वरूप हैं तो उनके प्रसाद के पुराने आग्रह को क्यों नहीं एक तरफ पटकते?

प्रश्न :- श्री महाप्रभु जी की सामर्थ्य की यह बात (देवद्रव्य नहीं लेना) हो सकती है, पर हम श्री महाप्रभु जी की नकल इस बाबत में कैसे कर सकते हैं अथवा ऐसी नकल उचित कहलायेगी?

उत्तर :- सवाल श्री महाप्रभु जी की नकल का नहीं है, सवाल यहाँ आपश्री की आज्ञा को अनुसरने या उल्लघंन का है।

प्रश्न :- श्री महाप्रभु जी की प्रत्येक आज्ञा का आज कौन अनुसरण करता है?

उत्तर :- फिर मात्र प्रसाद लेने की आज्ञा को ही दृढ़ता से अनुसरने का हेतु क्या है?

प्रश्न :- इससे साक्षात् निधि स्वरूपों का अनादर नहीं होगा?

उत्तर :- तो वे निधि स्वरूप जो श्री महाप्रभु जी की सामर्थ्य और भावना से प्रकट हुए हैं, उनका (महाप्रभु जी की सामर्थ्य और भावों का) अनादर नहीं होगा, इस तरह का कोई भय या शर्म क्यों नहीं?

ऐसे अगड़म-बगड़म (औचित्य रहित) प्रश्नों के पीछे रही हुई विवशता आज पुष्टिमार्गीयों को स्वसिद्धान्त द्वेषी बना रही है। यह विवशता भगती के फलते-फूलते धंधे में विक्रेता और ग्राहक के रूप में फलित हो जाने वाली है। अत: जब तक कोई अन्य धंधा माफिक नहीं आये - तब तक ऐसे प्रश्न उभरते ही रहेंगे और कोई भी वैधानिक और प्रामाणिक उत्तर भी प्रश्नकर्ता को संतुष्ट नहीं कर सकता। अत: जो पुष्टिमार्गीय ऐसे भगती के धंधे में ग्राहक और विक्रेता के रूप में डूब नहीं गये हैं, उनकी

तटस्थ बुद्धि के संतोषार्थ पुष्टिमार्ग के अन्य बालक इस बाबत में क्या विधान करते हैं उसे उद्धृत करके मौन धारण करना पर्याप्त है।

नि.ली. गोस्वामी श्री रणछोड़ाचार्य प्रथमेश जी

"वल्लभमत में यह सिद्धान्त गलत है और ऐसे देव स्थानों के चढ़ावे का प्रसाद भी खाया नहीं जा सकता है, क्योंकि वहाँ देवलकत्व ही प्रधान है। आज के युग को देखते हुए जहाँ न्यास करना आवश्यक है वहाँ उपर्युक्त सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर ही न्यास करना आवश्यक है, जिससे देवलकवृत्ति से बचा जा सके। यदि ऐसी व्यवस्था नहीं की जाती है, तो देवद्रव्य होता है। जिसका सेवन करने से आचार्य स्पष्ट कहते हैं कि नर्कपात होगा।

पू.पा. श्री घनश्याम लाल जी सप्तमेश

क्योंकि श्रीनाथजी स्वयं उसके भोक्ता हैं, किन्तु वैष्णववृन्द तथा सेवकगण भी उस महाप्रसाद को लेने तक के अधिकारी नहीं है। यह आचार्यचरण के इतिहास से प्रत्यक्ष प्रमाणभूत है। उस महाप्रसाद को लेने का केवल गायों को ही अधिकार है। अन्यथा उस देवद्रव्य के उपभोग करने से निश्चय ही अध:पतन है.. सब प्रकार के दान चढ़ावों व वसूल वसूली करने का उल्लेख किया गया है, वह भी सम्प्रदाय के सिद्धान्त के नितान्त विरुद्ध है। हमारे सम्प्रदाय की प्रणाली के अनुसार जो हमारे सम्प्रदाय के सेवक हैं, उनका ही द्रव्य गुरु-शिष्य के संबंध से लेकर सेवा में उपयोग कराया जा सकता है। सम्प्रदाय में सब प्रकार के दान-चढ़ावे का उपयोग सेवा में नहीं किया जाता, और कदाचित् किया जाता हो तो वह, सम्प्रदाय के नियमों के विरुद्ध होने के कारण उसे बन्द कर देना चाहिए। (श्रीनाथद्वारा ठिकाने के प्रबन्ध की दिल्ली योजना की आलोचना 1-2-56)

विद्वद्वर्य पू.पा.श्री बालकृष्ण लाल जी महोदय -

"उसे स्पष्ट देवद्रव्य कह सकते हैं और उस द्रव्य से सिद्ध होती सामग्री में भगवत्प्रसादी होने के बाद उसमें महाप्रसादपन तो आता है परन्तु उसके साथ-साथ उसमें देवद्रव्यपन तो रहता ही है। अत: वैष्णवों को उस महाप्रसाद को देवद्रव्य समझ के ही व्यवहार करना चाहिए। उस महाप्रसाद में देवद्रव्य का बाध तो रहा हुआ ही है। (पुष्टिने शीतल छांयडे-भाग 2)"

अत: इस स्वगृह सेवा तथा स्वतनुवित्तजा सेवा के आग्रह में कोई श्रेष्ठता हो तो वह श्रीमहाप्रभुजी की तथा उनके वंशज अनेक गोस्वामी बालकों की श्रेष्ठता है, गोस्वामी श्याम मनोहर की नहीं। यदि इसमें कोई त्रुटि है तो वह भी श्रीमहाप्रभुजी के वंशज अनेक गोस्वामी बालकों की है - केवल गोस्वामी श्याम मनोहर एण्ड श्यामपंथी कम्पनी की नहीं। इस ज्वलंत तथ्य को कभी विस्मृत नहीं करना चाहिए।

(5/ङ) प्रश्नकर्ता भाई कहते हैं कि सत्संग-हाल से केवल मर्यादित संख्या को ही लाभ मिलेगा।

इस प्रश्न से ऐसी ध्वनि आती है कि सार्वजनिक मंदिर से अमर्यादित जनसंख्या को लाभ मिल सकता है जबकि सत्संग-हाल से मर्यादित जनसंख्या को ही लाभ मिल सकता है।

पूर्व विवेचनाओं से इतना तो हम अच्छी तरह समझ चुके हैं कि श्री महाप्रभु-श्री प्रभुचरण आदि पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित-स्वधर्म बुद्धि से की जाती भगवत्सेवा, स्वगृहस्थित सेव्य स्वरूप की स्वतनुवित्त से की जाती सेवा या भाव संगोपनात्मक-सेवा के भवन में इन सार्वजनिक मंदिरों की प्रणाली के कारण दीमक लग जाती है। कारण है कि एक सामान्य

यदि उन-उन वैष्णवों के घर में बिराजमान भगवत्स्वरूप साक्षात् पुरूषोत्तम भाव से नहीं बिराजते वरन गुरु भाव से बिराजते हैं, इसे स्वीकार भी लें तो फिर वैष्णवों के सेवार्थ भगवत्स्वरूप पुष्ट करके पधराने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। क्योंकि तब तो गोस्वामी बालकों को अपने ही चित्रजी, स्वरूप या पादुकाजी पधराने चाहिए। यदि गुरुभाव और पुरुषोत्तम भाव ऐसे उभय भाव से सेवा करने के लिए भगवत्स्वरूप पुष्ट करके पधराने के बाद मात्र गुरुभाव से ही सेवा करने के हेतु से ही भगवत्स्वरूप पुष्ट किए जाते हों, तो भी जाहिर मंदिरों में भेंट सामग्री वसूल करने की प्रणाली अनावश्यक सिद्ध हो जाती है। इसका कारण यह है कि सेव्यस्वरूप तो उभय भाव से (गुरु+पुरुषोत्तम) बिराज ही रहा है और वहाँ होता द्रव्य का विनियोग भी दैवी विनियोग ही है। इसके अलावा केवल गुरुभाव से बिराजते स्वरूप की सेवा में होता द्रव्य का विनियोग क्या दैवी विनियोग नहीं है? यदि यह सच हो तो गोस्वामियों के चरणों में भेंट भी नहीं धरनी चाहिए!

स्वमार्ग के गुरु के लिए द्रव्य खर्च करना क्या आसुरी विनियोग हो सकता है? यदि हकीकत में ऐसा ही हो तो गोस्वामी बालकों के ठाकुरजी के लिए भी भेंट सामग्री देनी नहीं चाहिए क्योंकि स्वयं के (गोस्वामी बालकों के) ठाकुर जी के नाम से आते पैसे भी आखिर तो गोस्वामियों के ही उपयोग में आते होने से वह भी आसुरी विनियोग ही कहलायेगा!

यदि यह कहा जाए कि जिन वैष्णवों के घर में, भगवत्सेवा निभ नहीं सकती, उनके लिए जाहिर मंदिर प्रणाली आवश्यक है तो सर्वप्रथम तो गृह सेवा का प्रथम विकल्प या अनुकल्प जाहिर मंदिर न होकर

भगवत्कथा-या भगवद् गुणानुवाद है। अतः जाहिर मंदिर तो ऐसे भी अनावश्यक हो जाते हैं। इस प्रकार सत्संग हाल की आवश्यकता सम्पूर्णतः प्रमाणित हो जाती है।

अब एक बार मंदिर-प्रणाली को सिद्धान्त से विपरीत होने पर भी स्वीकार लें, इसलिये कि अमर्यादित संख्या में जनता को लाभ पहुँचेगा, तो उस चक्कर में अगणित प्रमाण में स्वसिद्धान्त की हानि होगी ; यह भी तो स्वीकार करना पड़ेगा। अतः अमार्यदित संख्या में वैष्णवों को उल्टे रास्ते पर दौड़ाने के बजाय, भगवत्सेवा के सिद्धान्त के शुद्ध विकल्प या अनुकल्प के रूप में, भगवत्कथा या भगवद् गुणानुवाद के लिए सत्संग-हाल से, भले मर्यादित (सीमित) संख्या में जनता को लाभ मिलेगा, परन्तु वह लाभ हर परिस्थिति में अगणित प्रमाण में ही होगा; यह स्वीकारना ही पड़ेगा।

गोस्वामी बालकों में भी आज युगानुरूप अलग-अलग अपरस की मेंड पालने में आ रही है। गोस्वामी परिषद् ने 15-20 वर्ष पूर्व नल के जल को वापरने की छूट का प्रस्ताव पारित किया था। इसके अतिरिक्त आज अमेरिका, लंदन और खाड़ी देशों में भी गोस्वामी बालक पधारते रहते हैं, वहाँ भी कोई कुएँ खोदने में आये हों, ऐसा सुनने में तो आया नहीं! अब वैष्णवों के घर में बिराजमान श्री ठाकुर जी यदि गुरुभाव से बिराजते हों, तो जो गुरु नल का जल आरोगते हों, उनके भाव से बिराजते ठाकुर जी को भी नल के जल की झारी भरने में या बाजार की भेलपूरी धरने में हरकत क्या है? जो कोई बालक जाहिर में नल का जल न आरोगते हों पर चुपचाप उपयोग में लेते हों तो उनके भाव से बिराजते ठाकुर जी की झारी भी जाहिर मंदिर में नल के जल से भरने की छूट नहीं देनी चाहिए, परन्तु निजी सेवा में वैसी छूट देने में आपत्तिजनक कुछ नहीं होना चाहिए।

प्राचीन आचार में यदि गोस्वामी बालक आज मन माफिक छूटछाट ले सकते हों तो गुरुभाव से बिराजते श्री ठाकुर जी की घर में की जाती सेवा के लिए भी छूटछाट लेने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। पर गृह सेवा में ऐसी छूटछाट वैष्णवों को दी नहीं जाती है। इसी कारण वैष्णवों को जाहिर मंदिरों में भटकना पड़ता है। अत: सिद्धान्तत: तो मेंड-मरजाद में जो छूट गोस्वामी बालक लेते हैं वह छूट वैष्णवों के घर में गुरु भाव से बिराजते ठाकुर जी की सेवा में देनी ही चाहिए। यदि नहीं दी जा सकती तो स्वयं बालकों को भी यह छूट लेनी नहीं चाहिए। सिद्धान्त शुद्ध सेवा प्रकार में निष्ठा के अभाव में जाहिर मंदिरों में ऐसे आचार-वैभव का बाह्याडंबर तो दिखता है, यद्यपि भीतर से मुखिया-भीतरिया-जलघरिया आदि कर्मचारी वर्ग भी ऐसी मेंड-मरजाद को सच्चाई से नहीं पालते हैं। ये बाह्याडंबर किसी भी गोस्वामी बालक से, ट्रस्टी से या मुखिया-भीतरिया आदि वेतन भोगी कर्मचारी से अथवा तो साधारण जनता द्वारा भी अपनी गृहस्थी की मर्यादा में आज निभने संभव नहीं हैं। फिर भी जाहिर मंदिरों में सुनी-अनसुनी करके कड़क मेंड-मरजाद का पालन होता है - यह भ्रमणा पाली जाती है। परिणाम स्वरूप आज वैष्णव जनता के दिमाग में भूत भर गया है कि कड़क मेंड-मरजाद और राग-भोग-शृंगार का वैभव भगवत्सेवा का अनिवार्य अंग होने से और गृहस्थी के घर में उसका निभाव सम्भव न होने से स्वगृह में भगवत्सेवा हो नहीं सकती - अत: जाहिर मंदिर अनिवार्य है।

परन्तु श्री महाप्रभु जी सेवा के बारे में खुलासा करते हैं कि -

(1) मूल :- एक कालं द्विकालं वा त्रिकालं वापि पूजयेत्। भावार्थ :- भगवत्सेवा सुबह, सुबह-दोपहर, अथवा सुबह-दोपहर-सायं

तीनों काल में कर सकते हैं। व्याख्या :- इसमें जाहिर मंदिर का आग्रह कहीं भी दिखाई ही नहीं देता। परन्तु एक समय, दो समय, अथवा तीनों समय - एक गृहस्थ जिस तरह सेवा भक्ति को सहजता से निभा सकता हो उसी तरह सेवा करने की छूट दिखाई गई है।

(2) मूल :- सेवनं स्वयोग्यानुसारेण अल्पं बहु वा न प्रयोजकम्। भावार्थ :- सेवा अधिक करनी या कम करनी यह कहने का मुद्दा नहीं है, परन्तु स्वयं की हैसियत के अनुसार ही करनी चाहिए। व्याख्या :- स्वयं की हैसियत से कम सेवा-स्वयं के साथ ही धोखा है, जबकि स्वयं की हैसियत से अधिक नेगभोग-राग-शृंगार धराने की खोटी मनोवृत्ति के कारण ही व्यावसायिक जाहिर मंदिर प्रणाली की सड़ांध अपने मार्ग में फैली है।

मूल :- भार्यादिरनुकूलश्चेद् कारयेद् भगवत्क्रियाम्। उदासीने स्वयं कुर्यात् प्रतिकूले गृहं त्यजेद्। भावार्थ :- परिवार में पत्नी आदि सदस्य यदि भगवत्सेवा में अनुकूल हों तो, भगवत्सेवा में उनका सहयोग लेना चाहिये, परन्तु उदासीन हो तो स्वयं ही सेवा करनी चाहिये। वे लोग यदि प्रतिकूल हों, तो गृह का त्याग करना चाहिये।

व्याख्या :- इस विधान से स्पष्ट हो जाता है कि सेवा में परिवार के सदस्यों की अनुकूलता या प्रतिकूलता का विमर्श व्यावसायिक जाहिर मंदिरों के सन्दर्भ में एकदम अप्रासंगिक है। क्योंकि, समझो कि घर में गृहिणी प्रतिकूल हो तो जाहिर मंदिर चलाने के धंधे में अथवा जाहिर मंदिर में भगवत्सेवा की नौकरी करने में कोई बाधा आ ही नहीं सकती। क्योंकि परिवार घर में होता है और भगवत्सेवा कहीं अन्य स्थान पर जाहिर मंदिर में करनी है; जहाँ पारिवारिक रोक-टोक आड़े आ ही नहीं सकती। तब फिर त्याग की आवश्यकता भी नहीं रह जाती।

इसके अतिरिक्त जाहिर मंदिर में पत्नी आदि परिवार के सदस्य किनके समझने ? ट्रस्टी वैष्णवों के, गोस्वामी महाराजश्री के, मुखिया के, भीतरिया जी बालभोगिया जी के, दूधघरियाजी के, जलघडिया जी के, झापटिया जी के, कीर्तनिया जी के, समाधानी जी या फिर दर्शनार्थी वैष्णवों के या मनोरथी वैष्णवों के? इसका खुलासा तो ब्रह्माजी भी नहीं कर सकते। क्योंकि इनमें से बहुतों के घरों के सदस्य तो कंठीबंध वैष्णव ही नहीं होते। भगवत्सेवा संबंधी यह मार्गदर्शन जाहिर मंदिरों के संबंध में तो अर्थहीन ही बन जाता है।

मूल: - यद्-यद् इष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः। येन स्यानिर्वृतिश्चित्ते तत्कृष्णे साधयेद् ध्रुवम्।

प्रकाश व्याख्या :- भगवत्सेवायामपि क्लिष्टं न समर्पयेत्। तत् क्लिष्टं त्रिविधम्। (1) लोकक्लिष्टं (2) आत्मक्लिष्टं (3) चित्तक्लिष्टं चेति।

(1) लोके यद्-यद् इष्टतमं आम्रद्राक्षादि।

(2) आत्मन: अत्यन्तं प्रियं दुग्धादि,

(3) सन्मार्गेण उपार्जितं --नान्येषां भागरूपं चिरकाल-मनोरथ चिन्तितम् अन्त:करणप्रियंतेनैव चित्तनिर्वृतिः। इतरनिषेधार्थम् एतद् उक्तम्।

भावार्थ :- भगवत्सेवा में क्लेश युक्त वस्तु या सामग्री का समर्पण नहीं करना चाहिए। कोई भी वस्तु या सामग्री तीन प्रकार से क्लेश युक्त हो सकती है :--

(1) लोक में जिसे प्राप्त करने में क्लेश हो।

(2) जिस भाव से हम भगवत्सेवा कर रहे हों, ऐसे भावात्मक स्वसेव्य प्रभु को जिस वस्तु या सामग्री से क्लेश होता हो।

(3) सेवाकर्ता के चित्त में भगवत्सेवा के लिए जो वस्तु या सामग्री प्राप्त कर समर्पण करने में क्लेश पैदा होने की संभावना हो।

इस प्रकार क्लेश युक्त वस्तु या सामग्री के नहीं अपितु क्लेश रहित वस्तु या सामग्री के समर्पण रूप में ही सेवा करनी चाहिए। लोक में जो कोई वस्तु या सामग्री बिना क्लेश के सहज सुलभ हो, उसके द्वारा सेवा करनी चाहिए।

गोपराजकुमार के भाव से सेव्य प्रभु के स्वरूप का विचार करके दूध - दही - माखन - छाछ आदि जो प्रभु को रूचते हैं, उनसे सेवा करनी चाहिए। जो हमने (देवलकत्व वृत्ति से नहीं अपितु) सन्मार्ग से उपार्जित किया हो - जिसमें अन्य का (जैसे जाहिर जनता का, धनिक ट्रस्टियों का) भाग या अधिकार न हो उस वस्तु का प्रभु को समर्पण करना चाहिए, क्लेश युक्त वस्तु या सामग्री का नहीं।

व्याख्या :- इसकी व्याख्या करते हुए श्री पुरुषोत्तम जी स्पष्ट आज्ञा करते हैं कि क्लेश रहित उत्तम वस्तु या सामग्री के समर्पण की आज्ञा का अनुसरण करने के लिए यदि भावातिरेक में कभी हम यह मान बैठें कि उत्तम वस्तु का समर्पण जितने अधिक प्रमाण में करूँगा उतने ही अधिक प्रमाण में भक्ति मार्गीय प्रतिबन्ध निवृत्त होंगे, अत: प्रचुर लौकिक व्यापार या लौकिक चतुराई करनी चाहिए तो ऐसी गलत समझ अपने को बहिर्मुख बनाती है, भगवद्भाव प्रवण नहीं। इसके लिए श्रीमहाप्रभुजी यहाँ अक्लिष्ट समर्पण का ही विधान करते हैं। उपसंहार में श्री पुरुषोत्तम जी यहाँ तक खुलासा करते हैं कि सन्मार्ग से (देवलक वृत्ति से नहीं ही) उपार्जित सामग्री भी लोकक्लिष्ट अथवा आत्मक्लिष्ट नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार सेवा प्रतिबंधक खामियों की निवृत्ति की सनक के साथ क्लेश युक्त नेगभोग-राग-शृंगार-सामग्री के वैभव के प्रमाणातिरेक की प्रवृत्ति

और उसी तरह प्रभु उत्तम वस्तु के भोक्ता हैं, कहकर लोकरंजनार्थ मोटे-मोटे नेगभोग-राग- शृंगार के प्रदर्शन से उद्भावित बहिर्मुखता भी -- अपनी पुष्टिमार्गीय सेवा का प्रकार नहीं है।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि इन तीन निषिद्ध प्रकारों में से दो प्रकार अपने अधिकांश जाहिर मंदिरों में देखे जा सकते हैं।

इस तरह जाहिर मंदिर, जिन्हें हम अमर्यादित (बहुत अधिक) संख्या में, जनता को धर्म लाभ देने वाले गिन रहे हैं, वे अमर्यादित प्रमाण में अपनी भगवत्सेवा नहीं निभा सकते। इसके लिए भगवद् गुणानुवाद, सांप्रदायिक सिद्धान्त ग्रन्थों का स्वाध्याय, भगवल्लीला के श्रवण-कीर्तन-स्मरण की आवश्यकता को भली-भाँती निभा सकें, ऐसे सत्संग हाल की प्रणाली का प्रयोग करने में तो कोई सिद्धान्त बाधा कहीं है ही नहीं।

टिप्पणी :- व्यावसायिक भक्ति, नौकरी, जुगार (जुआ), भिखारीवेड़ा से (मनोरथों आदि के नाम पर), सेवोपयोगी प्रचुर सामग्री प्राप्त करने की चतुराई अथवा प्रभु को उत्तम वस्तु का भोक्ता मानते हुये तत्सुख के विचार को गौण कर, जाहिर जनता का मनोरंजन करने वाले मोटे-मोटे मनोरथ करने की भी प्रवृत्ति जागती है तब अखबारों में विज्ञापन दे दे कर, स%चे भगवदीय वैष्णवों के बजाय, धनबल से परम भगवदीय बन बैठे धनिकों की चापलूसी करने की चतुराई पनपती है। अथवा तो एक ही मनोरथ के लिए दो या दस-बीस मनोरथियों से पैसा वसूल कर, मनोरथ में केवल एक का ही खर्च करना, बाकी के हजम कर लेनी की चतुराई पनपती है। अथवा तो एक जाहिर मंदिर के छप्पनभोग के लिए (100 रु.रोजाना में काम करते भीतरिया को 125रु देने का लालच देकर उसी) भीतरिया को स्वयं के मंदिर में छप्पन भोग की सामग्री सिद्ध करने हेतु, तोड़ लेने की चतुराई तो आम बात है।

जैसे महाप्रभु जी ने अगणित सच्चिदानंद पुरुषोत्तम की तुलना में, गणितानन्द अक्षरब्रह्म को 'सच्चिदानन्दकं बृहत' कहा है, उसी तरह आराध्य भगवन्मूर्ति की तुलना में, संस्कृत भाषा के व्याकरण शास्त्रानुसार, जो स्वयं की आराध्य देव मूर्तियों का जीविकार्थ साधन तरीके दुरूपयोग करते हैं उन देव पूजोपजीवियों की मूर्ति के लिए, उन-उन देवताओं के मूल (असली) नाम को न वापर कर, नामों के पीछे 'क' जोड़ने का नियम है। जैसे देवलक द्वारा आजीविका के लिए उपयोग में आती शिव की मूर्ति को शिवक और राम की मूर्ति को रामक कहना चाहिए -- शिव अथवा राम नहीं। इसके लिए व्याकरण में एक श्लोक प्रसिद्ध है--

रामं सीतां लक्ष्मणं जीविकार्थे विक्रीणीते यो नरस्तं हि धिक् धिक्। अस्मिन् पद्ये योऽपशब्दं न वेत्ति व्यर्थप्रज्ञं पंडितं च धिक् धिक्॥

श्री महाप्रभु जी के दिव्य पुष्टिमार्ग के सन्निष्ठ पथिको! जरा शांत चित्त से विचार करो, व्यक्तिगत राग द्वेष को कुछ देर के लिए एक ओर रखकर विचार करो कि अपने श्रीमहाप्रभुजी - श्रीप्रभुचरण आदि प्राचीन आचार्यों के सर्वस्व अपने विविध मधुर-मधुर, मंगल-मंगल नामों वाले अनेक पुष्टि स्वरूप श्री बालकृष्ण जी, श्री नटवर जी, श्री मदन मोहन जी, श्री गोकुलचन्द्रमा जी श्री गोकुलनाथ जी, श्री द्वारकानाथ जी, श्री विट्ठलनाथ जी, श्री मथुराधीश जी, श्री नवनीत लाल जी, श्री गोवर्धनधरण जी, श्री श्याम मनोहर जी आदि अनेकानेक सुन्दर नामों के पीछे हीनार्थक 'क' प्रत्यय लगा देना क्या अपनी स्वमार्ग के प्रति वफादारी हो सकती है? नहीं! नहीं!! नहीं!!!

जाहिर मंदिर तो पराये धन और वेतन भोगी कर्मचारियों के बिना चल ही नहीं सकते, तब जाहिर मंदिरों से अमर्यादित संख्या में जनता को

धर्म लाभ देने के मोह में, कहीं अपने पुष्टिस्वरूपों के मंगल-मधुर नामों को विकृत करने का अमर्यादित अपराध तो हम नहीं कर रहे हैं? विचार करो! एक बार जाहिर मंदिरों की सनक को छोड़कर विचार करो कि अपने पुष्टिमार्ग प्रवर्तक श्रीमहाप्रभु जी - श्रीप्रभुचरण आदि पूर्वाचार्यों की आज्ञा का उल्लघंन करने के कारण अपने पुष्टिस्वरूपों की, अपनी पुष्टि सेवा की और अपने पुष्टिमार्गीय वैष्णवों की आज कैसी दुर्गति हो रही है? अरे अज्ञान-स्वार्थ का जड़ाग्रह छोड़कर -- श्रद्धा भाव रखते हुए -- जरा तो विचार करो!

(5/च) पिछले डेढ़ वर्ष से चलते सत्संग के प्रत्यक्ष अनुभव को निहारकर देखो। इस प्रयोग का क्या लाभ हुआ?

किसी गाँव या नगर विशेष में डेढ़ वर्ष से चलता सत्संग का कार्यक्रम सफल नहीं हुआ, इसका एक कारण तो यह भी हो सकता है कि अपनी साधारण वैष्णव जनता की धार्मिक रूचि आज हमने पूरी तरह से बिगाड़ दी है। अत: निराश होने की नहीं अपितु निष्ठा रखने की आवश्यकता है कि सिद्धान्त या अपसिद्धान्त के विचार से - आज नहीं तो कल, कल नहीं तो आने वाले दशक में जब भी सुधरने का सुअवसर आयेगा तब - जाहिर मंदिर बंद करके फिर से स्वगृह सेवा का आग्रह रखना ही पडेगा। तब भी स्वसिद्धान्त ग्रन्थों के स्वाध्याय और भगवल्लीला - गुण नामों के श्रवण - कीर्तन - स्मरण के लिए यदि प्रत्येक गाँव में - प्रत्येक पुष्टिमार्गीय जनता की बस्ती में एक पुष्टि सत्संग भवन होगा तो, जो स्वयं के गृह में भगवत्सेवा निभा सकते हैं अथवा जो नहीं निभा सकते, दोनों तरह की वैष्णव-जनता को इससे पर्याप्त धर्म

प्रश्न (6=5+6+7 का सारांश)

(6/क)हिम्मत नगर के हनुमान जी मंदिर, हर्षदमाता मंदिर आदि मंदिरों का उदाहरण देखो - दर्शनार्थियों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है।

(6/ख) लोक मानस तो सबके एक जैसे ही होते हैं फिर वैष्णव हों या मर्यादामार्गीय।

(6/ग) प्रत्यक्ष अनुभव से आप देखो तो आपको खबर पड़ेगी कि पुष्टिमार्ग को जीवित रखने के लिए और नई पीढ़ी को संस्कार देने क लिए मंदिर तो संस्कार धाम हैं।

(6/घ) मंदिरों में भय स्थान नहीं होते परन्तु केवल सत्संग-हाल से संतोष मान लेना सबसे बड़ा भय स्थान है। आने वाली पीढ़ी के लिए वैष्णवता को सहेजने के लिए अथवा वैष्णव होने के लिए आकर्षण केन्द्र के द्वार सदा के लिए बंद करने हेतु हम बढ़ रहे हैं, यह भय खड़ा हो जाता है। सत्संग-हाल का मार्ग अपनाएंगे और मंदिर के विचार को किनारे रख देंगे तो अपनी संतानों को श्रीठाकुरजी से वंचित किया इसका अपराध लगेगा, कारण कि - उनको पुष्प की सेवा, गागर की सेवा, सखड़ी-अनसखड़ी की सेवा, सफाई सेवा, हिंडोला भरने की सेवा, ऐसी अनेकों सेवा का अवसर मिले बिना उनका संस्कार पोषण कैसे होगा? कहाँ से मिलेगी प्रेरणा? और विविध प्रकार के दर्शन मनोरथ और उत्सवों का अनुभव कहाँ से मिलेगा?

(6/ङ.) गाँव-गाँव में गुरु बिराजकर तो प्रेरणा दे नहीं सकते। ऐसी परिस्थिति में ये मंदिर संस्कार देने का अलौकिक कार्य करते हैं, यह नहीं भूलना चाहिए।

(6/च) केवल सत्संग से कोई वैष्णव 'पूर्ण वैष्णव' नहीं हो सकता यह एक नग्न सत्य है। सेवा-दर्शन-कीर्तन-सत्संग सभी की जीवन में जरूरत है, और ये मंदिरों में ही मिल सकते हैं।

(6/छ) केवल सत्संग हॉल का आग्रह रखने वाले भले कहते हों कि मंदिर नहीं चाहिए, बावजूद वे सज्जन शहर के अन्य मंदिरों में जाते ही हैं। इसके अतिरिक्त श्रीनाथजी, गोकुल, मथुरा अन्य बैठकों के दर्शन करने हिम्मत नगर छोड़कर अन्य बाहर गाँव अनेक बार जाते हैं। यह क्या दर्शाता है? हृदय की आतुरता-दर्शनों की आतुरता। इसलिए हवेलियों में दर्शन करने जाते हैं तो क्या कुछ गलत करते हैं? नहीं। सत्संग हॉल की बात नहीं थी तब भी वैष्णव मंदिरों में जाते थे और आज भी जा रहे हैं। यह क्या दर्शाता है? अत: अन्य प्रदेशों में जाकर दर्शन तो करके आते ही हैं, यह एक सम्पूर्ण प्रमाण है कि कोई जीव मंदिर, दूसरे अर्थ में दर्शन, बिना रह नहीं सकता। इससे अधिक प्रमाण क्या चाहिए? फिर भी कहा जाता है कि मंदिर नहीं सत्संग-हॉल चाहिए, यह आश्चर्यजनक नहीं?

उत्तर :- (6=5+6+7) इस लेखमाला में हम किसी भी स्थानीय या वैयक्तिक मुद्दों पर विचार करना नहीं चाहते। फिर भी कभी उदाहरणतया कोई विशेष बात सामान्य निष्कर्ष तक पहुँचने में सहायक होती हो तो ऐसे हेतु से ही मात्र स्थानीय या वैयक्तिक बातें उद्धृत करने में आती हैं। अत: हिम्मत नगर के वैष्णवों को क्या करना और क्या नहीं

करना वह उनके विवेकऔर अधिकार की बात है। हमें तो इस सन्दर्भ में समग्र सम्प्रदाय की सैद्धान्तिक या व्यवहारिक दृष्टि के आधार पर विचार करना है।

तदनुसार हिम्मत नगर में जैसे दर्शनार्थियों की संख्या हर तरफ बढ़ी होगी, उससे अधिक प्रमाण में समग्र देश में अथवा भूतल पर मुरारी बापू - पांडुरंग अठावले शास्त्री - अक्षर पुरुषोत्तम संस्था - प्रजापिताब्रह्माकुमारी - राधास्वामी सत्संग - व्यास चिन्मय मिशन आदि व्यक्ति और संस्थाओं के उपक्रम में सत्संगियों या श्रवणार्थियों की संख्या भी बढ़ी है। कितने ही स्वाध्याय केन्द्र तो अपने पुष्टिमार्गीय मंदिरों में ही चल रहे हैं, जिसके कारण, वहाँ आने वाले दर्शनार्थी बहुत बड़ी संख्या में स्वाध्यायार्थी बन जाते हैं। ऐसे भूतपूर्व पुष्टिमार्गीय स्वाध्यायी, अपनी सेवा प्रणाली की ठिठोली (मजाक) उड़ाते बहुत जगह दिखाई देते हैं।

(6/ख) लोक मानस तो धीरे-धीरे अलग-अलग बाड़ों में (सम्प्रदायों में) भेड़ों की तरह बंध कर रहना नापसंद ही करते हैं। इसलिए पुष्टिमार्गीय जाहिर मंदिर के बजाय शिव-दुर्गा-राम-हनुमान-गणपति - स्वामी नारायण पंथ - शिरडी के सांई बाबा - जलारामबापा - संतोषी माता के सर्वमार्गीय मंदिर, लोकमानस के लिए बहुत आकर्षक साबित हो रहे हैं। सुपर मार्केट की तरह एक ही जगह से खरीदना हो तो ऐसी खरीददारी कर सकने की सुविधा वाले मंदिर अधिक लोकमान्यता प्राप्त कर रहे हैं। अत: प्रश्नकर्ता भाई की इस बात से मैं पूरी तरह सहमत हूँ कि लोकमानस तो सबके एक जैसे ही होते हैं, फिर वह मर्यादामार्गीय हो या पुष्टिमार्गीय वैष्णव। इस विधान की वास्तविकता का दर्शन करने

जाने की अपने को कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि लोकमानस सभी के एक जैसे ही होते हैं, इसीलिए तो महाप्रभु जी की आज्ञा से सर्वथा विरुद्ध होने पर भी महाप्रभु जी के नाम पर पुष्टिमार्ग में जाहिर मंदिर - जोर-शोर से चल निकले हैं। लोकमानस में यदि जाहिर मंदिर रूढ़ न बन गये होते तो इस प्रश्नोत्तरी का प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता।

कारण कि जहाँ मंदिरों का प्रश्न ही पुष्टिमार्ग में नहीं उठ सकता - वहाँ उसका उत्तर देने की आवश्यकता कैसे हो सकती है? बावजूद इसके आज मंदिरों के सैद्धान्तिक या व्यावहारिक औचित्य की आलोचना करते हुए प्रश्नकर्ता भाई के तो मात्र इतने प्रश्न ही मन में खड़े हुए हैं; पर अन्य कई लोगों के मन में तो प्रश्न आदि कुछ नहीं, केवल रोषाग्नि ही प्रज्वलित होती है। कारण कि लोकमानस एक जैसे ही होते हैं। अत: स्वधर्म त्याग कभी भी मूढ़ पशु नहीं कर सकते ; यह असाधारण सामर्थ्य तो परमात्मा ने केवल बुद्धिशाली प्राणी मनुष्य को ही इनायत की है।

(6/ग) प्रश्न में कहा गया है कि पुष्टिमार्ग को जीवित रखने के लिए और नयी पीढ़ी को संस्कार प्रदान करने हेतु मंदिर संस्कार धाम हैं। हकीकत में तो यह भी लोकमानस की ही प्रतिध्वनि है। श्रीमहाप्रभुजी द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों के साथ इस विधान का कोई लेना-देना ही नहीं है। इससे संबंधित सैद्धांतिक स्पष्टता हम देख ही चुके हैं। उसकी पुनरावृत्ति अब आवश्यक नहीं है। फिर भी इसकी पैरोडी तरीके एक बात मुझे इस तरह स्फुरित होती है कि आजकल डिस्कोडांडिया के लिए वृद्धिगत होती नर्तनार्थियों की संख्या भी कभी अंबामाता की भक्ति के रूप में किये जाते नवरात्रि के गरबे की जगह, डिस्कोडांडिया मंडलों को नयी पीढ़ी को

संस्कार देने के लिए संस्कार-धाम ही नहीं मान लिया जाए! लोकमानस एक जैसे होने की दलील के आधार पर तो 'एक दो तीन' और 'ओए ओए - ओए ओआ' गाकर आरती करने में भी कोई बाधा होनीं होनी चाहिए। परम्परागत, अष्टछाप के पदों को भी शास्त्रीय रागों में गान करने की बजाय श्रीठाकुरजी के सामने लोकमानस को आकर्षित करने के लिए 'ओए ओए - ओए ओआ' शुरू करने में भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए!

(6/घ) भय स्थान तो एक ही है कि हिन्दू-धर्म में एक अलग अनोखा सम्प्रदाय खड़ा करके भी उस सम्प्रदाय के मौलिक सिद्धान्तों को समझने, स्वीकार करने, अपनाने या अमल में लाने का प्रयास करना ही न हो तो यंह खेमाबन्दी खड़ा करने का हेतु क्या? और ऐसी सिद्धान्त विरुद्ध अन्ध परम्परा को संभाल कर रखने में अपनी जनशक्ति, धनशक्ति और आयोजनशक्ति को व्यय करना कहाँ तक क्षम्य है?

मंदिरों में होती पुष्प-सेवा, पान की सेवा, गागर सेवा आदि अनेकविध सेवाओं की जो लम्बी सूची प्रस्तुत करने में आयी है, उसमें कुछेक तो खासा अपरस में की जाती होने से, उस सेवा में दर्शनार्थियों को दर्शन करने तक की छूट नहीं होती वहाँ सेवा करने की बात तो अकल्पनीय ही हो जाती है। आज ऐसी सेवाएँ तो पुष्टिमार्ग में लेशमात्र श्रद्धा न रखने वाले, मात्र नौकरी करने के लिए गले में डाली हुई कंठी के कारण वैष्णव मान लिए जाने वाले मुखिया, भीतरिया बालभोगिया, दूधघरिया, जलघरिया आदि की बटालियन द्वारा करने में आती है। सच्चे हृदय से श्रद्धा रखने वाले वैष्णवों को तो भोग-राग-शृंगार धरने की सेवाओं का दर्शन तक करने का अधिकार जाहिर मंदिरों में स्वीकार्य नहीं।

हम क्यों यह काम नहीं कर सकते? इससे उलटा आज यह हो रहा है कि अपने पुष्टिमार्गीयों की सन्तति स्वाध्याय प्रणाली में जुड़ने के बाद अपने ही बड़ों की मखौल उड़ा रही है कि "घड़ी में टेरा बंद करना और घड़ी में टेरा खोलकर दर्शन कराने की सनक सच्ची कृष्ण भक्ति नहीं है। कृष्ण भक्ति तो कृष्ण की गीता के संदेश को घर-घर गाँव-गाँव पहुँचाने की मस्ती में भरी हुई है।"

पुष्टिमार्गीय वैष्णव से स्वाध्यायी बन चुके एक भाई मुझे एक दिन कहने लगे कि महाप्रभु जी भक्ति के प्रखर आचार्य थे परन्तु इस कारण से उनके वंशजों द्वारा उत्तराधिकारी के रूप में धर्म गुरु की पदवी स्वीकार कर लेना कोई बुद्धिमता पूर्ण बात नहीं है।

मैंने उनको कहा कि - दादा की पुत्री और जमाई की भी स्वाध्याय प्रणाली में स्पृहणीय श्रेष्ठता कैसे स्वीकारी जा रही है?

वे बोले - दीदी तो स्वयं अपनी उम्र की अन्य सभी लड़कियों के बजाय साठ प्रतिशत ज्यादा योग्यता रखती है।

मैंने पूछा कि - अन्य जमाइयों की तुलना में रावसाब कितने प्रतिशत अधिक योग्यता रखते हैं?

उन भाई ने कोई जवाब नहीं दिया। दु:ख की बात यह है कि श्री महाप्रभुजी के वंशज प्राचीन काल से चले आते किन्हीं भी वंशजों की तुलना में (साठ प्रतिशत की बात जाने दो - तीस या पन्द्रह प्रतिशत से भी काम चल जायेगा) ज्ञान भक्ति और स्वधर्मोपदेश देने की कुछ अधिक ही योग्यता रखते हैं। पर ऐसी श्रद्धा वैष्णवों की संतानों में आज की तारीख में

रही ही नहीं। अत: ये पुष्टिमार्गीय जाहिर मंदिर वैष्णवासंतति को श्री महाप्रभुजी का 'भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृत' नाम समझाने में भी सफल नहीं रहे हैं तो अब इन जाहिर मंदिरों से अन्य क्या अपेक्षा की जा सकती है? मुझे नहीं लगता कि ऊपर वर्णित मनोभाव किसी वैष्णव पुत्र ने केवल मेरे सामने व्यक्त किये होंगे। अन्य भी कई गोस्वामी बालकों को और वैष्णवों को तथा बड़ों को ऐसी मनोभावना तथा भावों का अनुभव हुआ ही होगा। पुष्टिमार्ग में मंदिरों की उपयोगिता या असरकारकता पर क्या ऐसे अनुभव प्रश्न चिह्न नहीं लगाते?

हम उन सब किताबों को काबिले जप्ति समझते हैं। कि जिनको पढ़कर बेटे, बाप को खब्ती समझते हैं॥

सौ वर्ष पूर्व, जब अंग्रेजी भाषा की स्कूलें शुरू हुई थी तब अकबर इलाहबादी ने यह मनोवेदना प्रकट की थी। ऐसी मनोवेदना हमारे मंदिरवादी कई पुष्टिमार्गीयों के हृदय को भी कचोटती होगी।

अब जो मंदिरों के द्वारा की जाती संस्कारपूर्ति की बात ऊपर आयी है उस सन्दर्भ में मेरे साथ घटित एक घटना का उदाहरण देता हूँ--

एक बार मुझे किसी गाँव में प्रवचन हेतु जाना पड़ा। कार्यक्रम के समापन पश्चात उस गाँव के वैष्णव मुझे विदा करने स्टेशन तक आये।

ट्रेन चलते ही मेरे साथ डिब्बे में बैठे सहयात्री ने मुझसे सवाल पूछा : किसी धर्म-सम्प्रदाय से जुड़े हुए लगते हो?

मैंने कहा : हाँ।

उन्होंने कहा : आपका हैडक्वार्टर कहाँ है? मेरे मन में कुछ मजाकिया जवाब सूझा कि हैडक्वार्टर तो हैड में ही होता है न। परन्तु बात

कोई अन्यथा मोड़ न ले ले इस हेतु से सरलता पूर्वक मैंने संक्षिप्त जवाब दिया: नाथद्वारा।

वे भाई बोले : ओहो, नाथद्वारा की यात्रा तो हमारा परिवार हर वर्ष करता है। मुझे लगा कि ये पुष्टिमार्ग के अनुयायी होंगे, इसलिए पूछा - आप भी पुष्टिमार्गीय हैं?

वे बोले : पुष्टिमार्गीय माने क्या?

मैं बोला : नाथद्वारा हमारे पुष्टिमार्ग की प्रधान पीठ है।

वे बोले : हम तो श्रीनाथजी के दर्शन करने प्रति वर्ष जाते हैं पर किसी ने कभी भी नही कहा कि वहाँ आपके धर्म की भी प्रधान पीठ है।

मैंने पूछा : श्रीनाथजी के दर्शन करने प्रतिवर्ष जाते हो तो श्री वल्लभाचार्य जी का नाम तो सुना ही होगा?

वे बोले : हाँ महाप्रभु जी का नाम तो सुना है।

मैं बोला : श्रीनाथजी भगवान, श्री महाप्रभु जी के आराध्य देव हैं। वे हमारे संप्रदाय के भी आराध्य देव हैं। तो बोले कि - वल्लभाचार्य अर्थात् शंकराचार्य जी की तरह ही कोई होंगे? नहीं?

फिर उन भाई ने अपने बैग में से शराब की बोतल निकाली और मेरे जल पीने के थर्मस को देख कर, स्वयं का गिलास आगे करते हुए - पानी माँगने लगे। एक धर्मोपदेशक की हैसियत से किसी को शराब पीने के लिए पानी देना मुझे अटपटा लगा। मेरी मुश्किल को समझकर हमारे साथ सफर करते एक वैष्णव भाई ने अपने थर्मस में से उसकी गिलास में पानी भरा। फिर तो एक के बाद एक, तीन गिलास, थोड़ा पानी और थोड़ी शराब मिलाकर, वह भाई गटक गया।

शराब की खुमारी चढ़ने के बाद वह भाई बोला : हाँ तो महाराज, अब अपने धर्म के बारे में मुझे कुछ बताओ। 'मैं बहुत थका हुआ हूँ' - कहकर मैं तो ऊपर की बर्थ पर जाकर सो गया। उस भाई के शराब के तीन गिलास पीने के बाद, उससे धर्म चर्चा करने में, मुझे लेशमात्र भी उत्सुकता नहीं थी। बाद में मेरे साथ सफर करने वाले वैष्णव भाई ने बातों-बातों में शराब पीने वाले भाई का सम्पूर्ण परिचय मुझे दिया। वह वैष्णव परिवार का ही था। यह बात सुबह सुनकर मुझे अतिशय मनस्ताप हुआ कि अपने सम्प्रदाय की यह कैसी दुर्दशा कि प्रतिवर्ष नाथद्वारा की यात्रा करने वाले वैष्णव परिवार की संतति भी अपने सम्प्रदाय के बारे में कुछ भी ज्ञान नहीं रखती। उसको इतना भी भान नहीं कि शराब पीने के लिए धर्मगुरु के पास से पानी माँगने की कुचेष्टा तो कम से कम नहीं करनी चाहिए।

आज मुझे वह बात याद आ रही है कि यदि मंदिर संस्कार पूर्ति के केन्द्र होते तो ऐसी घटना घटती ही नहीं। आज हम जाहिर जनता से भगवत्सेवार्थ भेंट सामग्री तो ले लेते हैं पर देने वाला पुष्टिमार्गीय है या नहीं, पुष्टिमार्ग के सिद्धान्त, भावना, परम्परा अथवा इतिहास आदि में कितनी श्रद्धा या समझ रखता है?

यह जानने का अपने पास कोई उपाय या इच्छा तक नहीं है। यदि न जानता हो और वह अपने यहाँ आया है तो, कम से कम अपने धर्म सम्प्रदाय के बारे में कुछ जान ले! ऐसी व्यवस्था, किसी भी मंदिर में रखी ही नहीं जाती है। ऐसी स्थिति में, मंदिरों को 'संस्कार-केन्द्र' कहने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

(6/च) केवल सत्संग से कोई वैष्णव पूर्ण नहीं हो सकता है यह एक नग्न सत्य है। इस विधान से सहमत होते हुए भी एक खुलासा यहाँ करना अत्यावश्यक है कि प्रारंभिक कक्षा में तो मात्र सत्संग ही आवश्यक होता है, सेवा-कीर्तन आदि नहीं। इसीलिए श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि सत्संगे सर्व विज्ञाने त्याग साधन सेवया। अतिनिष्ठां-गतस्यैव भक्तिर्भवति नान्यथा॥ (निबंध 3/4/144)

अर्थ :- सत्संग द्वारा प्रभु संबंधी या मार्ग संबंधी संपूर्ण ज्ञान प्राप्त करके आत्म समर्पण पूर्वक करने में आती भगवत्सेवा में जिसकी निष्ठा भली भाँत विकसित होती है, उसे ही भक्ति सिद्ध होती है।

अर्थात् - जो प्राथमिक उपाय हो, उसे ही प्राथमिकता देनी चाहिए। सिद्धान्तानुसार - स्वगृह में - स्वतनुवित्त से - स्वपरिजनों के साथ; ब्रज भक्तों के भावों की भावनापूर्वक, सेवा-भक्ति कैसे करनी ; यह ज्ञान जिस को अच्छी तरह से मिल जाए उसे सेवामार्ग में प्रेरित करना उत्तम कल्प है। यदि यह सावधानी रखी गई होती तो पुष्टिमार्ग में सार्वजनिक मंदिरों की कुप्रथा प्रारम्भ ही नहीं होती। इसी तरह तीर्थ क्षेत्रों में भी कभी जाने का सैद्धान्तिक उपदेश प्राप्त होता है। वहाँ भी, धर्म के नाम पर चलते धन्धे की चपेट में हम आ नहीं जायें, उसकी केवल सावधानी रखनी आवश्यक है। इस प्रकार गाँव-गाँव में सत्संग-हॉल धर्म के आग्रह के साथ बनवा कर सभी पुष्टिमार्गीय वैष्णव यथा समय दिन में एक बार भी वहाँ इकट्ठा हों तो यह सर्वथा अभिनन्दनीय और वांछित विकल्प जाहिर मंदिरों का हो सकता है। जो सत्संग पुष्टिमार्ग के अनुयाइयों को उनके स्वयं के घर में, स्वयं के तनुवित्त से स्वपरिजनों के साथ, स्वयं के माथे बिराजते श्री ठाकुर जी की सेवा करने में समुत्सुक

तरीके मानता हो तो संभवत: वह उसका व्यक्तिगत अज्ञान, स्वार्थ या अन्तर्द्वन्द्व हो सकता है। पुष्टिमार्गीय समुदाय में, परंतु, जाहिर मंदिर जहाँ चलाने में आते हैं वहाँ, उसको एक संस्थाकीय रूप मिल जाता होने से समग्र सम्प्रदाय का वह लांछनरूप बन जाता है।

आज बहुतायत में पुष्टिमार्गीय मात्र पुष्टिमार्ग के जाहिर मंदिरों में ही नहीं पर मर्यादामार्गीय मंदिरों में भी जाते हैं। देवी-देवता, सांई बाबा आदि सभी का अन्याश्रय गोस्वामी बालक भी करते ही हैं। परंतु ऐसी व्यक्तिगत त्रुटि के आधार पर "लोकमानस तो एक समान ही होता है" - कह कर क्षुद्र देवी-देवताओं के अन्याश्रय को सिद्धान्त सम्मत तो नहीं ठहराया जा सकता।

बहुत बार सिद्धान्त से अविरुद्ध बातों को व्यक्तिगत राग-द्वेष के कारण हम आलोचना-प्रत्यालोचना का विषय बना लेते हैं। उदाहरणार्थ - आज के सरकारी कायदे और अपने सिद्धांत इन दोनों में से एक की भी पूर्ण समझ न रखने वाले कितने ही अपठित मेरे लिए कहते हैं कि - "यहाँ यह भी विस्मरणीय नहीं है कि जो महानुभाव (अर्थात् मैं=गोस्वामी श्याम मनोहर) सार्वजनिक मंदिरों में किये जाने वाले दान एवं भेंट में प्राप्त द्रव्य एवं वस्तुओं से बने प्रसाद आदि से अपने पूर्व पुरुषों के समय से अपने योगक्षेम का निर्वाह करते रहे उन्हें सहसा अपने पैरों पर कुठाराघात करने की आवश्यकता क्यों अनुभव हुई? सुना गया है कि राजस्थान प्रदेशान्तर्गत किशनगढ़ में स्थित मंदिर में सार्वजनिक मंदिर होने के सभी तत्व विद्यमान होने के कारण वह सहायक देवस्थान आयुक्त एवं देवस्थान आयुक्त द्वारा न्यास घोषित किया जा चुका है। यदि ऐसा है तो अपने मतानुसार उक्त मंदिर की सारी माया-ममता छोड़कर शांति के मार्ग

का अवलंबन करना क्या आचार्य वंशजों के लिए उचित नहीं है? फिर न्याय की और सर्वोच्च न्यायालय की आवश्यकता क्यों हुई? सर्वोच्च न्यायालय तक पहुँचना किस बुद्धि का परिचायक है यह भी विचारणीय है, क्या अपने अधिकारों का अंतिम संस्कार वांछनीय नहीं है?"

प्रथमदृष्ट्या ही ऐसे बुद्धिहीन लेख, सिद्धान्त के अज्ञान और निष्ठाहीनता से मात्र प्रेरित ही नहीं, अपितु किंप्रतिवाद और मूढ़तावश लिखे हुए लगते हैं। वैचारिक भीरुता और पलायनवाद इनकी लाक्षणिक विशिष्टता है।

कारण, समझो कि मेरे पूर्व पुरुषों ने या मैंने भी देवद्रव्य खाकर ही हमारा योगक्षेम चलाया हो, यह बात सच है - तो निश्चिय ही यह हमारी क्षति थी और है, और भविष्य में भी रहेगी ही। मैं यदि ऐसा दावा करता होऊँ कि मैंने देव द्रव्य नहीं खाया तो यह आरोप मुझे उद्देश्य करके सार्थक हो सकता है। शपथ पत्र में हमने तो हस्ताक्षरों के साथ कबूल किया हुआ ही है कि हम से ऐसा घोर अपराध हुआ है। यह बात गुपचुप में किसी के कान में फुसफुसा कर कही हुई बात नहीं है। हजारों प्रतियाँ हमने स्वयं ही वितरित की हैं और कोई कहे तो स्वीकारने को तैयार हूँ। यह तो कोई ऐसे अंधे बहरों का मातम है कि चोर-चोरी कबूल करे और साहूकार को पसीने छूटे। हमने तो किसी पर आरोप भी नहीं लगाया कि फलां भाई ने देव द्रव्य खाया है। हमारा मुद्दा तो केवल इतना ही है कि भ्रम, अज्ञान या प्रमाद जिस किसी हेतु से भूतकाल में हमने देव द्रव्य खाया वह हमारा अपराध था और वह हमें सिद्धान्तों का शुद्ध विचार करते हुए स्फुरित हुआ है। अत: श्रीमहाप्रभुजी हमारे अपराध को क्षमा करें और हमें सिद्धान्त शुद्ध जीवन जीने की शक्ति - भक्ति प्रदान करें। अब अगर यह

सिद्धान्त प्रामाणिक नहीं हो तो, श्री महाप्रभु जी के वचनों को अप्रामाणिक ठहराना चाहिए। हमारी स्वीकारोक्ति से किसी को नग्न होने की भीति सताती हो तो, सिद्धान्त बोध को हृदय से स्वीकार कर मौन पूर्वक अपने व्यवहार को सुधारने का प्रयास करना चाहिए कि जिससे निर्भीकता के सद्‌गुण जीवन में विकसित हों। स्वयं ही नंगे न हो जायें इसलिए हमारे ऊपर जो आरोप-प्रत्यारोप लगाकर जनता को गलत दिशा में भटकाने का ही हेतु हो तो हमारे पास खुलासा करने के सिवाय अन्य कोई मार्ग खुला हुआ नहीं रहता।

हम खुलासा कर ही रहे हैं कि हमारा यह दावा नहीं है कि पुष्टिमार्ग में केवल हम ही शुद्ध सिद्धान्तानुसार जीवन यापन कर रहे हैं। हम तो हृदय से स्वीकार रहे हैं कि यदि हमारा सिद्धान्तशुद्ध जीवन हो तो यह हमारी सामर्थ्य नहीं परंतु भगवत्कृपा है, और यदि सिद्धान्त विरुद्ध जीवन हो तो यह हमारा दोष, हमारा अपराध, हमारा दुर्भाग्य था; है और रहेगा!

किसी भी परिस्थिति में हम या हमारे समर्थक अथवा विरोधी, किसी भी आधुनिक पुष्टिमार्गीय छोटे या बड़े पुरुषों का व्यवहार स्वमार्गीय सिद्धान्तों के सच्चे या खोटे स्वरूप का निर्धारक नहीं हो सकता। अलबत्ता श्रीमहाप्रभुजी आदि पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्त ही तुम्हारे, मेरे और हम सभी के विचार या व्यवहार के उचित या अनुचित होने के निर्धारक तत्वों के रूप में स्वीकारे जाने चाहिए। बीमार मनुष्य भी स्वयं या अन्य के स्वस्थ होने की शुभेच्छा रखे या व्यक्त करें इसमें अशोभनीय कुछ भी नहीं है। फिर भी किसी की प्रबल इच्छा बीमार रहने की ही हो और उसके स्वस्थ होने की शुभेच्छा करें तो उसको बुरा लगना स्वाभाविक ही है। हमारे परिचित एक विधुर और निष्किंचन भाई, घर में कोई खाना

बनाने और खिलाने वाला न होने के कारण, प्रभावशाली लोगों से सिफारिशी पत्र लेकर, एक के बाद दूसरे हास्पिटल में भर्ती रहते थे!

संभव है कि हम बीमार हों, पर प्रबल इच्छा तो हमारी सिद्धान्तशुद्ध स्वस्थ जीवन यापन करने की ही है। अत: बीमार होंगे तो भी, बीमारी हमें मंजूर नहीं है। साथ ही साथ हम पाखंड भी नहीं करना चाहते कि हम स्वस्थ हैं। हम तो श्री महाप्रभूपदिष्ट स्वास्थ्य का सच्चा स्वरूप जनता के समक्ष प्रकट करना चाहते हैं। और आज हम उतने स्वस्थ नहीं हैं तो कल अवश्य होंगे, ऐसी हार्दिक अभिलाषा रखते हैं।

इसी तरह हिम्मत नगर के सत्संगहॉलवादी वैचारिक स्तर पर स्वस्थता रखने में समर्थ होकर भी व्यवहार में सिद्धान्त विरुद्ध सार्वजनिक मंदिरों में भटकते हों तो यह उनकी व्यवहारगत अस्वस्थता होगी। पुष्टिमार्ग में निष्ठा रखने वाले (जीव) की हैसियत से वैचारिक स्वस्थता की तरह व्यावहारिक स्वस्थता का वरदान भी उन्हें मिले, ऐसी शुभेच्छा भी हम करें!

इस खुलासे के साथ किशनगढ़ की मेरी हवेली के बाबत भी एक खुलासा कर देने की छूट ले लेता हूँ कि सहायक देवस्थान - आयुक्त ने स्वयं के निर्णयों में यह बात स्वीकारी है कि इस हवेली में जाहिर जनता से श्री ठाकुर जी के नाम से भेंट सामग्री स्वीकारी नहीं जाती, फिर भी, क्योंकि 'एन्युइटी' (हमारे गाँव और खेत जिनको सरकार ने ले लिया उसका वार्षिक मुआवजा) हमें सरकार की तरफ से मिलती थी, इसलिए हमारा घर या मंदिर निजी नहीं हो सकता। सहायक देवस्थान - आयुक्त ने इस मत के अलावा एक दूसरा मुद्दा जनता को दर्शन कराने के आधार पर गिना था। इसके बाद पंचशती महोत्सव के अवसर पर हमने श्री ठाकुर जी के दर्शन भी बंद कर दिए थे और वार्षिक मुआवजा भी लेना तभी से बंद

कर दिया था। सहायक देवस्थान – आयुक्त के इस निर्णय को, देवस्थान – आयुक्त ने रद्द कर हमारी हवेली को 'सरकारी मंदिर' घोषित कर मुझे सरकार द्वारा नियुक्त पुजारी घोषित किया। इसके विरोध में मैंने उच्च न्यायालय से स्टे आर्डर प्राप्त कर लिया। मेरे दावे में मैंने यह न्याय मांगा कि पुष्टिमार्ग के सिद्धान्त तथा हमारे और हमारे यहाँ आने वाले वैष्णवों का व्यवहार इस तरह दोनों बातों के आधार पर उच्च न्यायालय निर्णय दे कि पुष्टिमार्ग में सार्वजनिक मंदिर हो सकते हैं या नहीं। वहाँ के वैष्णव और वह घर हमें भेंट करने वाले राज परिवार ने भी न्यायालय में शपथ-पत्र प्रस्तुत कर घोषणा की कि यह महाराजश्री की निजी हवेली है। अत: इस वास्तविकता को हमें मंदिर भेंट करने वाले राज परिवार और यहाँ दर्शन करने आने वाली जनता दोनों ही स्वीकारते हैं कि यह हवेली हमारी निजी संपत्ति है।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य पंचशती महोत्सव के मंगल प्रसंग पर हमने उक्त हवेली को अब तो श्रीमहाप्रभुजी के मंदिर में परिवर्तित कर दिया है। पुष्टिमार्ग के इतिहास में उल्लेखनीय इस प्रयत्न को प्रोत्साहित करने हेतु उक्त प्रसंग पर मेरे इस कदम के सन्दर्भ में अनेक पू. पा. गोस्वामी बालकों के अभिप्राय मुझे निम्नानुसार प्राप्त हुए थे ---

(1) नि.ली. गोस्वामी श्री रणछोड़ाचार्य जी प्रथमेश

महाप्रभु स्वरूप प्रतिष्ठापनार्थ मेरी हार्दिक बधाई और वैष्णवों को आशीर्वाद! यह समारोह अपने को सच्ची दिशा दिखाता है। अपने श्री महाप्रभु जी की दिव्य कृपा अपने ऊपर और वैष्णवों पर बरसे, पुष्टिमार्ग के लिए महानतम आधारप्रद कार्य है यह। अखिल भारतीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद्, श्री वल्लभ पंचशती समारोह राष्ट्रीय समिति , तथा पीपल्स प्रोग्रेसिव सोसायटी की ओर से बधाई स्वीकार करें!

(2) नि. ली. तृतीय पीठाधीश्वर गोस्वामी श्री ब्रजभूषण लाल जी

आपके इस कार्य की हृदय से प्रशंसा करता हूँ। उपस्थित नहीं रह सकता, पर मेरा पूर्ण सहयोग है।

(3) चतुर्थ पीठाधीश्वर गो.देवकीनन्दनाचार्य जी

दुविधा भरे समय के बाद श्रीमहाप्रभुजी के मंदिर की स्थापना से नव शुभारम्भ सिद्ध हो तथा आचार्य चरण के सिद्धान्तों के प्रसार और वास्तविक प्रकाशन का यह माध्यम बने। आपके समारोह की पूर्ण सफलता की कामना।

(4) पंचम पीठाधीश्वर गो.गिरधर जी महाराज

श्री वल्लभ मंदिर स्थापना द्वारा वल्लभ सम्प्रदाय को योग्य मार्ग पर लाने के लिए हमारे हार्दिक अभिनन्दन और शुभाशीर्वाद।

(5) नि. ली. गो. श्री ब्रजभूषण लाल जी (चापासनी, जामनगर)

तार मिला, समारोह की सफलता के लिए शुभकामना। हार्दिक शुभाशीर्वाद स्वीकार करें।

(6) विद्वद्मूर्धन्य पू. पा. गो. कल्याणराय जी (सूरत-पूना)।

वर्तमान परिस्थिति के उपचार के रूप में, स्वतंत्रत रुप से श्रीमहाप्रभुजी की सेवा का प्रकार उचित ही है। यह प्रयास सफल हो, यह मंगल कामना! इस संबंध में निजी विचार कभी सूचित करूंगा।

इस रद्दो-बदल की सूचना भी हम उच्च न्यायालय को देंगे, जब केस सुनवाई के लिए बोर्ड पर आयेगा।

अर्थात उक्त हवेली में न तो जनता की भेंट स्वीकारी जाती है और न ही यह सार्वजनिक देवालय है, फिर आचार्य वंशज होने के नाते क्यों मुझे अपने अधिकार का अंतिम संस्कार करना चाहिए?

समझो कि कल उच्च न्यायालय अथवा सर्वोच्च न्यायालय मुझे विवश करें कि पुन: देव मंदिर बनाओ तो क्या मुझे धर्म के संबंध में श्री महाप्रभु जी आदि स्वमार्गाचार्यों के वचनों को प्रामाणिक गिनना या धर्म निरपेक्ष न्यायाधीशों के निर्णय को? कल को यदि सर्वोच्च न्यायालय धर्म निरपेक्ष होकर अपने श्री राम की जन्म भूमि को बावरी मस्जिद तरीके रखने का आदेश पारित कर दे तो क्या सभी राम मंदिरों को मस्जिदों में तब्दील कर देना? या राम के समक्ष नमाज पढ़ने लगना?

समझो कि कभी कोई अदालत ऐसे मूर्खतापूर्ण विधान करने वाले महानुभाव को मौलवी घोषित कर दे तो क्या वे अपने गले में से कंठी निकाल कर मौलवी बन जायेंगे! क्या धर्माचार्य की पदवी छोड़कर मौलवी की पदवी स्वीकार कर लेंगे। भारतीय नागरिक की हैसियत से हम अपने देश के न्यायालय के विरुद्ध आचरण नहीं कर सकते इस कारण क्या अपनी धार्मिक आस्था को छोड़कर धर्म निरपेक्ष बन जाना?

धर्म के मामले में किसी भी देश की सरकार के आदेश प्रमाण नहीं बन सकते। सरकार के ये आदेश देह पर लागू हो सकते हैं, हृदय अथवा आत्मा पर नहीं। इसलिए मेरे धर्माचार्य होने के अधिकार का अंतिम संस्कार करने की मुझे कोई सैद्धान्तिक आवश्कता दिखाई नहीं देती। कोई अंतिम संस्कार के शौकीन शव ढोने वाले भले ही ऐसे मनोरथ करते रहें। मैं पुष्टिमार्ग में जन्मा हूँ, स्वस्थ हूँ या बीमार, पुष्टिमार्ग में जी रहा हूँ, और जीना चाहता हूँ ; मात्र जीवन के अंतिम क्षणों तक ही नहीं, जन्म जन्मान्तर तक पुष्टिमार्गीय रहना चाहता हूँ।

3. अब तो राजस्थान की बड़ी अदालत हाई कोर्ट ने भी पुष्टिमार्ग की सूक्ष्म छानबीन कर, सैद्धान्तिक और नियमों के आधार पर, इस हवेली को हमारी निजी घोषित कर दिया है। इस निर्णय के विरुद्ध देश की बड़ी अदालत सुप्रीम कोर्ट में जाने की हिम्मत राजस्थान सरकार आज दिन तक जुटा नहीं पाई है।

अतएव हिम्मत नगर के ही नहीं परंतु दुनिया भर के पुष्टिमार्गीय जो मंदिरवाद के अपसिद्धान्तिक खड्ड में पड़कर स्वयं के पांव तुड़ा चुके हैं, उनके लिए भी मेरे हृदय में एक ही शुभेच्छा है कि उनके पाँव न केवल पुन: स्वस्थ हो जाएं अपितु प्रभु कृपा से इतने सतर्क, सावधान और समर्थ हो जाएं कि भविष्य में कभी भी पुष्टिमार्ग पर बढ़ते किसी भी कदम को कोई कष्ट न हो। मैं तो पुष्टिमार्ग को आलू बैंगन जितना सस्ता विश्वधर्म कभी मानता नहीं। अत: मेरे विश्वधर्मा मन की निगूढ़ अभिलाषा तो एक ही है कि प्रत्येक पुष्टिमार्गीय स्वस्थ पुष्टिमार्गीय बने, प्रत्येक मर्यादामार्गीय स्वस्थ मर्यादामार्गीय बने, प्रत्येक जैन या बौद्ध निष्ठावान स्वामार्गानुगामी बने, प्रत्येक मुसलमान या ईसाई या पारसी स्वस्थ मुसलमान या ईसाई या पारसी बने!

सर्वेऽत्र सुखिन: सन्तु सर्वे सन्तु निरामया:। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् (स्व) धर्महा भवेद्॥

प्रश्न (7=8+9 का सारांश)

(7/क) घर में सेवा होती है तो वह केवल प्रात:काल की सेवा है। पूरे दिन की सेवा तो आज के व्यस्त जीवन में मंदिरों में ही संभव है। इस व्यस्त जीवन के युग में पूर्व के समय से भी आज अधिक से अधिक मंदिरों की आवश्यकता हो गई है। कारण कि व्यापार, नौकरी और पढ़ाई आदि में से कुछेक मिनिट निकाल कर झांकी कर लेने की सुविधा प्रत्येक वर्ग को है। जिसको जो समय अनुकूल हो वह समय निकाल कर दर्शन का लाभ मंदिर में ले सकता है। सत्संग-हॉल से यह लाभ मिलेगा? क्या अपने घर में सेवा होती हो वहाँ भी यह लाभ मिलेगा? पूरे दिन की सेवा मंदिर की तरह भाग्य से ही किसी घर में शक्य है, और जो शक्य हो तो उसका लाभ

शहर में रहने वाले और बाहर गाँव से आने वाले वैष्णव समुदाय को नहीं ही मिल सकता। इस दृष्टि से क्या मंदिर अनिवार्य नहीं?

(7/ख) ईडर में बहुत कम वैष्णव हैं, फिर भी वहाँ मंदिर का जीर्णोद्धार हुआ है। जबकि हिम्मत नगर शहर में तो वैष्णव विपुल मात्रा में हैं और बढ़ रहे हैं। ठाकुर जी जहाँ बिराजते हों वहाँ गलत कुछ नहीं होता। हम आश्रय के पद गाते हैं --- श्रद्धा रखते नहीं रखते!

उत्तर (7=8+9)

(7/क) सार्वजनिक स्थल पर नौकरी या धंधे के रूप में दर्शनार्थी - मनोरथी जनता के धन से की जाती पूरे दिन की सेवा पूरे दिन के द्रव्य, क्रिया शक्ति, समय और श्रद्धा की हास्यास्पद बरबादी है। क्योंकि सेवा का सच्चा स्वरूप जो कुछ अपने को रूच जाये वह नहीं 'परंतु श्री कृष्णज्ञानदो-गुरुः-भक्त्याचारोपदेष्टा' श्रीमहाप्रभुजी ने जो समझाया है तदनुसार ही हो सकता है। इस वास्तविकता से इन्कार कम से कम श्रीमहाप्रभुजी के नाम से चलते, इनके वंशज गुरुजन और अनुयायी वैष्णवजनों के पुष्टिमार्ग में तो संभव नहीं है।

अतएव जाहिर मंदिरों में जो चलती है वह पुष्टिमार्गीय सेवा नहीं है और जो पुष्टिमार्गीय सेवा है वह जाहिर मंदिरों में, पूरे दिन की तो बात दूर, एक मिनट भी नहीं चल सकती। स्वयं के धन से स्वयं के परिवारजनों के साथ स्वयं के घर में बिराजते श्रीठाकुरजी की सेवा कुछ मिनिटों के लिए प्रातः काल तक ही चलती हो तो भी, पूरे दिन की न सही - कुछ मिनिटों तक की हो; है तो सिद्धांत सम्मत प्रकार वाली सेवा।

सैद्धान्तिक व्यवस्थानुसार सेवा करने का कम से कम समय श्री महाप्रभु जी ने तीन घंटे का स्वीकार किया है। अतः प्रातः काल के मात्र

तीन घंटे भी यदि हम सेवा के लिए उपयोग कर सकते हों तो सम्पूर्ण दिवस की सेवा को श्री महाप्रभु जी अनिवार्य नहीं मानते -- एककालं द्विकालं वा त्रिकालं वापि पूजयेत्। सर्वथा वृत्तिहीनश्चेद् याममात्रं हरौ नयेद्॥

अर्थात् व्यस्त जीवन के कारण - अथवा व्यस्त मन के कारण घर में यदि प्रातः काल की सेवा भी होती हो तो यह सिद्धांत सम्मत प्रकार है।

व्यापार, नौकरी या पढ़ाई आदि प्रवृत्तियों में से कुछेक मिनिट जो भगवान के लिए निकाल सकते हों उनके लिए श्री महाप्रभु जी ने निबंध या षोडश ग्रन्थों में एक भी विधान कहीं भी "मंदिरों में दर्शन कर लेने से कृतार्थ हो जाते हैं" - ऐसे आशय का किया नहीं है। अलबत्ता भक्ति वर्धिनी ग्रन्थ में इस प्रश्न की छानबीन करने पर एक ही बात समझाने में आई है कि जिसका व्यावृत्तिमय जीवन हो, उसे सेवा करने के बजाय भगवन्नाम - भगवल्लीला - भगवन्मार्ग के उपदेशों का श्रवण - मनन - कीर्तन करने में तत्पर रहना चाहिए।

इतना ही नहीं बल्कि श्रीमहाप्रभुजी तो यहाँ तक खुलासा करते हैं कि भगवन्नाम - भगवल्लीला - भगवन्मार्गीय सिद्धान्त आदि के श्रवण से भी पुष्टिभक्ति का उत्तरोत्तर विकास, प्रेम आसक्ति और व्यसन के रूप में निश्चित ही होगा। भक्ति का व्यसन दशा तक का विकास पुष्टिजीव को कृतार्थ कर देता है। जो पुष्टिमार्गीय समय निकाल सकता हो उसे तो स्वयं के घर में बिराजते श्री ठाकुर जी की सेवा ही करनी चाहिए।

जिसे समय न मिलता हो उसे जाहिर मंदिर में दर्शन नहीं, अपितु पुष्टिमार्गीय भगवदीय के मुख से भगवन्नाम - भगवल्लीला और भगवन्मार्गीय सिद्धान्त का श्रवण - मनन - कीर्तन करना चाहिए। जिनसे

स्वयं के घर में भगवत्सेवा निभानी शक्य न हो, विषय - वैराग्य अथवा भगवद्भाव भी दृढ़ न होने से, ऐसे प्रतिकूल घर का अथवा भगवत्सेवा का त्याग भी शक्य न हो, ऐसी परिस्थिति की चिंता भी श्री महाप्रभु जी को है। आपश्री आज्ञा करते हैं कि ऐसे जीवों को हरिस्थान में रहने वाले भगवदीय, जो भगवत्सेवा - कथा परायण हों, के साथ या पास रहना चाहिए। वह भी इतना पास नहीं कि, उनके लौकिक दोषों का रंग अपने को लग जाये; और इतना दूर भी नहीं कि उनके भक्तिमार्गीय गुणों का भी हम लाभ न ले सकें। विचारणीय है कि इसमें कहीं भी पूर्ण दिवस की सेवा वाले जाहिर मंदिरों में दर्शन कर लेने के विचार या उपदेश की गन्ध तक नहीं है।

जाहिर मंदिरवादियों में यदि हिम्मत है तो वे चैलेंज को स्वीकारते हुये खोज करके बतायें कि श्रीमहाप्रभुजी या श्री गुसांई जी के ग्रन्थों में ऐसा एक भी वचन कहाँ लिखा है।

'साधन दीपिका' में मात्र एक जगह श्री गोपीनाथ जी ने ऐसी आज्ञा की है कि श्री ठाकुर जी के शृंगार हो जायें तब स्वयं के जो निजी भगवदीय हों उन्हें अपने ठाकुर जी के दर्शन करा सकते हैं। इसका सीधा सा अर्थ यह है कि जो अपने निजी हों पर एतन्मार्गीय भक्त न हों उनको भी दर्शन नहीं कराने चाहिए और जो एतन्मार्गीय भक्त हों पर स्वयं के निजी न हों उनको भी दर्शन नहीं कराने चाहिए।

बाकी व्यापार, नौकरी या पढ़ाई के कारण आज जीवन व्यस्त बन गया है और पहले ऐसा नहीं था, यह मान लेने का कोई कारण नहीं है।84 और 252 वैष्णवों में से बहुत से भगवदीय व्यापारी और नौकरी पेशा वाले

सकते हैं। बैंक के क्लर्कया डॉक्टर को भी नहीं कह सकते। फिर भी स्वयं की सुविधानुसार/जिसको दर्शन करने की इच्छा हो - उसकी सुविधानुसार हम श्री ठाकुर जी के स्वरूप को खड़ा रखना चाहते हैं। अखिल ब्रह्मांड के नायक के समक्ष ऐसी साहिबी और क्षुद्र सरकारी अफसरों के सामने अपनी दयनीय दीनता आधुनिक पुष्टिमार्गीयों की एक लाक्षणिक मनोवृत्ति है। पुष्टिभक्ति का स्वरूप कभी इस तरह का हो ही नहीं सकता। चित्रजी यदि भावात्मिका सेवा के लिए पुष्ट न हुए हों तो उनको माला धराके दर्शन-वंदन का प्रकार परम्परा से सिद्धांत विरुद्ध न होने से मान्य है और बाधा जनक नहीं है। भावपुष्ट स्वरूप के संबंध में, परंतु परिश्रम का विचार जिस जीव के हृदय में नहीं जगता हो, उस जीव को पुष्टि जीव कैसे कह सकते हैं? श्री महाप्रभु जी तो सुन्दर आज्ञा करते हैं- 'भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यिथा भवेत्' और स्वरूप सेवा अर्थात् स्वरूप के सुख का विचार ऐसी साहिबी की वृत्ति में सम्भव है?

स्वयं के घर में बिराजते स्वरूप का लाभ शहर में रहने वाले या बाहर गाँव से आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को न मिलता हो तो इसमें असंगत क्या है? एक गृहस्थी के घर में एक गृहिणी से आवभगत का लाभ गाँव में रहते या बाहर गाँव से आते प्रत्येक मनुष्य को नहीं भी मिलता हो परंतु परिवार के अतिथि को यदि मिलता हो तो इसमें गलत क्या है? आखिर पारिवारिक घर न तो कोई धर्मशाला है और न कोई 'लोजिंग-बोर्डिंग' ।

एक बात यह भी पूछने में आयी है कि क्या स्वयं के घर में होती सेवा में यह लाभ मिलेगा? (बाहर गाँव से आते वैष्णवों को दर्शन करने का लाभ)। पूरे दिन की सेवा मंदिर की तरह भाग्य से ही किसी घर में होती हो और यदि होती हो तो उसका लाभ शहर में रहते और बाहर गाँव से आते वैष्णव समुदाय को मिल सकता है?

इस लेख माला की पूर्व कड़ियों में हम देख चुके हैं कि स्वार्थप्रतिष्ठा और परार्थप्रतिष्ठा के भेद के आधार पर, आराध्य भगवत्स्वरूपों में भेद होता है। हालांकि अपने यहाँ प्राणप्रतिष्ठा का मर्यादामार्गीय प्रकार नहीं है, फिर भी धातु की या शिला की मूर्ति अथवा वस्त्र या कागज के चित्रजी में पुरुषोत्तम की भावात्मिका प्रतिष्ठा की रीति स्वीकारी गई है!

इस सन्दर्भ में श्रीमहाप्रभुजी के ज्येष्ठात्मज श्रीगोपीनाथजी द्वारा 'साधन दीपिका' में किया गया खुलासा मननीय है। आपश्री आज्ञा करते हैं --- ''जो स्वमार्गीय सिद्धांत और प्रणालिका से अनभिज्ञ हो अथवा तो एक परिवार में ही बड़ों के अधीन होमे के कारण सिद्धांतानुसार स्वाधीनतया सेवा करने में समर्थ न हों, उनको चित्र सेवा करनी चाहिए।''

सामान्यतया गुरु देव द्वारा प्रदत्त भगवत्स्वरूप जो तीर्थ जल से और स्वमार्गीय मंत्रों से संस्कृत - शुद्ध, सुघड़ - सुन्दर - मनोहर - छोटी मूर्तिरूप हो, उसका भजन स्वयं के पास सहज उपलब्ध सामग्रियों से करना चाहिए। जीवात्मा के स्वरूप से विलक्षण, परमात्मा की सर्वव्यापिता (सर्वोपादानता - सर्वान्तर्यामिता) के कारण अपने यहाँ प्राणप्रतिष्ठा का प्रकार नहीं है। फिर भी किसी अशुद्धि के कारण हम स्वयं अपनी शुद्धि जिस तरह स्नान, होम - दान आदि शास्त्रीय प्रकारों से करते हैं उसी तरह सेव्य स्वरूप की शुद्धि भी करनी चाहिए। (जैसे अत्यन्त अशुद्धि होने पर अपने लिए पंचगव्य से शुद्धि का प्रकार है उसी प्रकार अपने ठाकुर जी की सेवा के दर्शन गैर पुष्टिमार्गीय को कराने पर ठाकुर जी इतने अधिक श्रमित हो जाते हैं कि श्री हरिराय जी के अनुसार तो उनको भी पंचामृत स्नान कराकर शुद्ध करने का कर्तव्य है। जाहिर मंदिरों में आते

दर्शनार्थी पुष्टिमार्गीय हैं या गैर पुष्टिमार्गीय, उसकी परख कैसे करनी? : गोस्वामी श्याम मनोहर)। इस शुद्धि का विधान अपने यहाँ शास्त्रानुसार अनुष्ठेय है। परंतु प्राणप्रतिष्ठा का शास्त्रीय प्रकार अपने पुष्टि स्वरूप के लिए श्री महाप्रभु जी द्वारा उपदेशित नहीं है। अपने यहाँ सेव्य स्वरूप के बाबत में छूट इस प्रकार हैं:- (गुरुदेव द्वारा प्रदत्त स्वरूप की तरह अपने को स्वयं प्राप्त स्वरूप अथवा प्राचीन भगवदीयों द्वारा सेवित स्वरूप और यदि भाव खंडित न हुआ हो तो खंडित स्वरूप की भी सेवा हो सकती है। (जो कि प्राण प्रतिष्ठापित स्वरूप के लिए सर्वथा शास्त्र विरुद्ध है)।

श्री पुरुषोत्तमजी ने सर्वनिर्णय निबंध के आवरण भंग में इस बाबत में अतिशय मननीय खुलासा दिया है। आपश्री आज्ञा करते हैं कि :

जिस तरह प्रह्लाद आदि स्वभक्तों के लिए नृसिंहादि रूप धारण कर स्तंभादि स्थल में प्रभु प्रकट हुए उसी तरह अमुक व्यक्ति या परिवार के लोगों को स्वयं की भावात्मिका सेवा प्रदानार्थ अपने पुष्टिमार्ग में पुष्टि प्रभु का प्राकट्य होता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि पुष्टिमार्ग में तो स्वतनुवित्तजात्मिका, स्वपरिजनों के सहयोग से - स्वगृह में करने में आती सेवा की तरह सेव्य स्वरूप भी किसी व्यक्ति या परिवारजनों के सेव्य स्वरूप की तरह ही प्रकट होते हैं। ऐसे स्वरूप की जाहिर जनता के द्रव्य से जाहिर जनता के बीच की जाती सेवा उन-उन स्वरूपों के प्राकट्य के प्रयोजन से विसंगत होने से सेवा ही नहीं रह जाती। ऐसी सेवा के दर्शन भी प्रकट सेव्य स्वरूप को पुनः अन्तर्हित करने का सेव्यापराध है। जैसे रसोई या जलपान के पात्र को उसके प्रयोजन से विरुद्ध अशुद्ध कार्य के लिए वापरने पर उस पात्र में रसोई या जलपान अनुमोदनीय नहीं रह जाता।

चाहते हैं। इसीलिए तो कबीर ने कहा था कि .. 'डूबे वंश कबीर का कि उपजे पूत कमाल।' श्री हरिराय जी आदि महानुभाव नाद-बिन्दु के भेद से प्रत्येक पुष्टिजीव के पूर्व पुरुष हैं। उनकी भी आज्ञा का उल्लंघन हमारे लिये सभी तरह से कलंक रूप ही है। अतः सेवा की तरह सेवा स्थल भी जाहिर नहीं हो सकता।

इस प्रकार सेव्य स्वरूप, सेवा या सेवास्थल की तरह सेवक भी आम जनता नहीं हो सकती। इसका भी खुलासा श्री हरिराय जी (द्वितीय पीठाधीश्वर) ने किया है : -- एवं हि ब्रह्मसंबंधः संस्कारोऽत्र निरूपितः। तदुत्तरं तस्य सर्वसमर्पणमिहोच्यते॥ यस्मात्कृतो हि सम्बन्धो विनियोगार्थ सर्वथा। स्वा संबंधी यतः कृष्णो न गृहणातीति निश्चयः॥

भावार्थ -- ब्रह्मसंबंध अपने यहाँ संस्कार की तरह मान्य है। अतः ब्रह्म संबंध लेने के बाद सर्वसमर्पणात्मिका सेवा स्वगृह में ही करनी चाहिए। क्योंकि जो संबंध बांधा है वह प्रत्येक वस्तु का सेवा में विनियोग करने हेतु ही बांधा है। इसका कारण यही है कि स्वयं की सत्ता की जो वस्तु नहीं होती उसे श्री कृष्ण अंगीकार करते ही नहीं हैं।

हम पुष्टिमार्गीय श्री हरिराय जी के कृतघ्न अपराधी न बन जायें, इस हेतु से भी अपने लिए यह आवश्यक है कि सरकारी दबाव या अन्य आजीविका अपने को सुलभ न हो इस दबाव से या लोभ - मोह - पाखंड की मनोवृत्ति के दबाव में चलने वाले धंधाकीय मंदिर आज बंद न कर सकते हों तो, कुछ दिन विवशता में चलाकर भी, अन्त में अपनी पुष्टिसृष्टि को सच्चे सिद्धान्तों की जानकारी कराते रहने की सावधानी तो रखनी ही चाहिए। श्री हरिराय जी सुन्दर आज्ञा करते हैं कि जिसको ब्रह्मसंबंध (दीक्षा) नहीं है, उसके द्रव्य से सेवा में वपराती कोई भी वस्तु प्रभु

मैं अपनी पत्नी को प्रभु को समर्पित कर सकता हूँ पर विमान की या ऑफिस की किसी सुन्दर परिचारिका या सेविका को अथवा एक्ट्रेस को समर्पित नहीं कर सकता। ऐसी मनोविकृति जगने पर उसका उपाय पुष्टि प्रभु को समर्पण नहीं, अपितु किसी मनोचिकित्सालय में मानसरोग विशेषज्ञ के सामने आत्म समर्पण करने का होना चाहिए!

इससे सिद्ध होता है कि सर्वसाधारण जनता के लिए न तो पुष्टिभक्ति की भावात्मिका सेवा है और न ही पुष्टिभक्ति का सेवा स्थल और न ही पुष्टिभक्ति का भावात्मक स्वरूप।

किशोरीबाई की वार्ता में आता है कि वह सूत कात कर अपना निर्वाह करती थी। एक दिन एक वैष्णव ने कुछ सामग्री किशोरी बाई को दी और किशोरी बाई ने उस सामग्री को सिद्ध कर श्रीठाकुरजी को भोग धरा। श्रीठाकुरजी ने परंतु वह भोग आरोगा ही नहीं और श्रीठाकुरजी ने आज्ञा की "तुमने दूसरे से मेरे लिए सामग्री क्यों ली? ऐसी सामग्री मैं कैसे आरोगूं?

इस वार्ता के भाव प्रकाश में श्री हरिराय जी (द्वितीय गृहाधीश्वर) जो बात समझा रहे हैं - उस बात को पढ़कर सच में जो जीव पुष्टिबीजभाव से सम्पन्न होगा उसके शरीर - हृदय और बुद्धि में से तो सार्वजनिक मंदिरों का भूत उतर ही जायेगा। व्यावसायिक सार्वजनिक मंदिरों में परंतु, ग्राहक, विक्रेता, नौकर या दलाल के रूप में जो मनुष्य संलिप्त हो उसे तो पुष्टिजीव मानना भी अपनी भ्रमणा है।

हाँ तो भाव प्रकाश में कहते हैं :- इससे सिद्ध होता है कि वैष्णव को दूसरे के स्वामित्व वाली कोई भी वस्तु स्वयं के ठाकुर जी की सेवा में, विनियोग करनी ही नहीं चाहिये। और इसी प्रकार एक वैष्णव को दूसरे वैष्णव से ली हुई सामग्री का अपने ठाकुरजी की सेवा में विनियोग करना ही नहीं चाहिए। क्योंकि ऐसे विनियोग को श्रीठाकुरजी अंगीकार करते ही नहीं।

गौर करने लायक बात है कि किशोरी बाई भी पुष्टिमार्गीय वैष्णव थी और सामग्री देने वाला भी पुष्टिमार्गीय वैष्णव था। तदुपरांत भी ठाकुर जी आरोगे नहीं। तो जाहिर मंदिरों में जाहिर जनता से कि जिसमें कोई पुष्टिमार्गीय है या नहीं यह भी चिंता नहीं की जाती, उनके स्वामित्व के द्रव्य से धरने में आती सामग्री पुष्टि प्रभु कैसे आरोगेंगे? और जो आरोगते नहीं हैं तो आज जनता से फंड इकट्‌ठा करके धराने में आते छप्पन भोग - कुंडवारा और अन्नकूट मात्र धर्म के नाम पर चलता एक व्यर्थ का ढोंग नहीं तो और क्या हो सकता है?

यह प्रश्न वर्तमान पुष्टिमार्गीयों से मैं नहीं पूछ रहा हूँ, श्री महाप्रभु जी - श्रीगुसांईजी - श्रीहरिरायजी (द्वितीय पीठाधीश्वर) और पुरुषोत्तम जी (तृतीय उपगृह पीठाधीश्वर) आदि महानुभाव, अपने पूर्वज पूछ रहे हैं। जवाब दो! जवाब दो तुम पुष्टिमार्ग को किसलिए बदनाम कर रहे हो? जवाब दो कि आचार्यचरण ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है कि ऐसा निष्ठुर विश्वासघात तुम पुष्टिमार्ग के साथ क्यों कर रहे हो? तुम्हें जवाब देना ही पड़ेगा कि तुम्हारे ऐसे निष्ठुर ढोंग का मूल, अपने कौन से ग्रन्थ में है, कौनसी आज्ञा में है?

यदि तुम जवाब नहीं दे सकते तो तुम्हारी सिद्धान्त विरुद्ध मति से जो तुम्हें अच्छा लगे सो करो, परंतु मेहरबानी करके पुष्टिमार्ग, पुष्टिमार्गाचार्य और पुष्टिप्रभु को अपनी मानवीय दुर्बलता का शिकार मत बनाओ।

स्वमार्गीय भगवत्सेवा के मुख्य तीन पहलू सेवाकर्ता की (1) कृति. (2) मति और (3) रति अर्थात् क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्ति और भावशक्ति के भगवद् विनियोग के लिए हैं। इन तीन पक्षों में (क) तनुवित्तजा सेवा (ख) आत्म समर्पण और (ग) ब्रजभक्तों के भावों और ब्रजराजकुंवर की लीलाओं की भावना के रूप में भगवत्सेवा समायोजित है।

(क) इस प्रकार सेवोपयोगी सामग्री का सम्पादन और विनियोग स्वयं के धन और स्वयं के तन से ही करने का नियम जाहिर मंदिर प्रणाली को सर्वथा अप्रासंगिक बना देता है। क्योंकि जाहिर मंदिरों में वित्तजा सेवा दर्शनार्थी अथवा मनोरथी के वित्त से ही सम्पादित होती है और तनुजा सेवा, सवैतनिक मुखिया, भीतरिया, दूधघरिया, जलघरिया, फूलघरिया, पानघरिया, कीर्तनिया आदि नाममात्र के पुष्टिमार्गीय नौकरों द्वारा करने में आती है। इस तरह तनुजा और वित्तजा के रूप में दो भद्दे भेद सेवा के हो जाते हैं। अत: भगवत्सेवा का क्रियात्मक पहलू जिसके माथे ठाकुर जी बिराजते हों उसको देवलक बनाकर आचार्यपदवी से निम्न से निम्न पायदान पर पटक देता है। अत: क्रियात्मक पहलू के विचार से अपने मार्ग में जाहिर मंदिरों का होना श्री महाप्रभुजी, उनके दिव्य सिद्धान्तों और पुष्टिप्रभु के साथ निष्ठुर विश्वासघात है, जिसको आज हम पुष्टिधर्म मान बैठे हैं!

(ख) स्वमार्गीय भगवत्सेवा के दूसरे पहलू, अर्थात् अपनी ज्ञानशक्ति का भगवदर्थ विनियोग, के लिए अपने मार्ग में ब्रह्मसंबंध अर्थात् आत्मसमर्पण का प्रकार है। इस पहलू से भी हम जाहिर मंदिर में सेवा करने की प्रणाली स्वीकार नहीं सकते।

इस बात को अच्छी तरह समझने का प्रयास करने से पहले इसकी सुन्दर व्याख्या करने वाले द्वितीय गृह के वर्तमान पीठाधीश्वर पू. पा. गो. श्री कल्याणरायजी द्वारा स्वयं के बड़े पूर्वज श्री हरिराय जी के बारे में किए गए, अतिशय मननीय विधान को उद्धृत करने का लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता। आपश्री आज्ञा करते हैं कि ---

पूजा – सेवा, मूर्ति – स्वरूप, समर्पित – असमर्पित, अन्याश्रय – आश्रय, मर्यादा – पुष्टि भक्ति आदि का विश्लेषणयुक्त सूक्ष्म तारतम्य दृष्टि गोचर हुए बिना नहीं रह सकता। ग्रन्थादिक भावात्मक हों या दार्शनिक –

त्यागात्याग-विभेदेन गृह भक्तगृहे तथा। (भक्तिवर्धिनी विवृति)

(4) यदुक्तमस्मदाचार्यैः गौणमुख्य-विभेदतः।

त्यागो गृहधनादीनामथवा कृष्णयोजनम्। (शि.प.:17/1)

केवलौदरिकत्वं तु तदीयानां नचोचितम्।

न पूरयेत् किमुदरं सेवकानां कृपानिधिः (शि.प.:18/2)

तस्य सेवां प्रकुर्वीत यावज्जीवं स्वधर्मतः।

न फलार्थं न भोगार्थं न प्रतिष्ठा प्रसिद्धये श्रीमदाचार्यमार्गेण नान्येनापि कदाचन।

न कल्पितप्रकारेण न दुर्भावसमन्वयात्। (शि.प.:18-/12-13)

संक्षेप में : सेवा स्वधर्म के रूप में करना चाहिए, उदरपूर्ति अर्थात व्यापार, धंधा-नौकरी के रूप में नहीं। सेवा स्वगृह में ही करनी चाहिए, अर्थात जाहिर मंदिरों में नहीं। सेवा तनुवित्तजा के रूप में ही करनी चाहिए, अर्थात स्वयं के तन-धन-मन से ही सेवा करनी चाहिए। जाहिर जनता जो कि दर्शनार्थी या मनोरथी के रूप में आज जाहिर मंदिरों में भटक रही है, उनके द्रव्य-सामग्री-मनोरथों के कारण नहीं। श्रीमहाप्रभुजी-श्रीगुसांईजी द्वारा सिद्धान्तरहस्य, भक्तिवर्धिनी, निबंध, अणुभाष्य आदि ग्रन्थों में उपदिष्ट प्रकार से ही सेवा करनी चाहिए। नेग-भोग-शृगांर के वैभव को निभाने का नाटक करके कभी नहीं।

ऐसी सभी बातों में सम्पूर्णतया हृदयंगम योग्य उपदेश श्रीहरिरायजी महाप्रभु ने दिया है।

आज अपने पुष्टिमार्गीयों की यही विडंबना है कि हम श्रीहरिरायजी आदि पूर्वपुरुषों के नामों का उपयोग बैल की तरह चारा चरने के लिए तो अच्छी तरह कर लेते हैं, परंतु पूर्वपुरुषों के उपदिष्ट मार्ग पर निष्ठा से चलना नहीं चाहते। इसलिए वर्तमान द्वितीय पीठाधीश्वर

इससे यह सिद्ध होता है कि जिस व्यक्ति या वस्तु के प्रति आत्मनिवेदनकर्ता पुष्टिजीव में न्यायोचित स्वामित्व या ममत्व का भाव नहीं होता, उसका समर्पण आत्मनिवेदन के समय हो ही नहीं सकता। जिसका समर्पण उसने स्वयं नहीं किया हो तो वह वस्तु या व्यक्ति उसके माथे बिराजते सेव्यस्वरूप संबंधी नहीं हो सकती। मैं दूसरे की पत्नी या संतति का अथवा तो संपत्ति का समर्पण नहीं कर सकता। दूसरे की पत्नी या संतति के प्रति मेरे मन में ममत्व जगता है तो यह अनीतिभरा भाव, आसुरी भाव है, पुष्टि भाव नहीं। मैं अमेरिका के राष्ट्राध्यक्ष के निवासस्थान व्हाइट हाउस का समर्पण मेरे ब्रह्मसंबंध के वक्त प्रभु को करूं तो यह मेरी मानसिक विकृति का परिचायक है। अन्य दंपती की संतति का समर्पण मुझे क्यों करना चाहिए? अर्थात यदि वह संपत्ति या संतति समर्पित न होती हो तो, मेरे पुष्टिप्रभु के साथ उसका संबंध संभव ही नहीं है। स्वयं के साथ संबंध न रखने वाली वस्तु या व्यक्ति का मेरी भगवत्सेवा में विनियोग भी मैं करूं तो भी पुष्टि प्रभु उसका अंगीकार करेंगे ही नहीं। अत: श्रीठाकुरजी के नाम से वसूल किये जाते द्रव्य या सामग्री से धरने में आते बूंदी-मोहनथाल-मठड़ी-पेडा में डायबिटीज बढ़ाने वाले स्वाद की मिठास तो हो सकती है, परंतु भक्तिभाव को बढाने वाले प्रसाद की दिव्य मिठास उसमें संभव नहीं!

प्रसाद की दिव्य मिठास के बिना जीभ के स्वाद के लिये - खरीदने में और बेचने में आते बूंदी-मोहनथाल-मठड़ी पेड़ाओं ने व्यापारिक मंदिरों में भ्रष्ट दुर्गन्ध को बढाने में गजब का कार्य किया है, इसमें दो मत नहीं हो सकते।

कहाँ तो किशोरीबाई, सन्तदास, पूरणमलक्षत्री, दामोदरदासजी संभलवारे की वार्ताओं में गर्जना करती यह दिव्यध्वनि कि सेवाकर्ता की

सत्ता न होने कारण पुष्टिप्रभु-पुष्टिभक्त द्वारा समर्पित सामग्री भी आरोगते या अंगीकार नहीं करते और कहां आधुनिक पुष्टिमार्गीय मंदिरों के संचालकों की अधोगति कि हम जैन-मुसलमान-सिख-ईसाई प्रत्येक की जेब पर नजर गड़ाकर बैठे हैं। मेरे एक परिचित और पुष्टिमार्गीय मंदिर के समाधानी से परेशान वैष्णवभाई ने मुझे एक दिन एक सूत्र समझाया कि "जय श्री कृष्ण बोल - थैली का मुख खोल।" मैंने पूछा इसका अर्थ क्या? वे बोले - पुष्टि मार्गीय मंदिरों के समाधानी जब वैष्णवों को जय श्रीकृष्ण कहें तब समझ लेना कि अब पूर्वजन्म का कोई लेनदार आ गया है। वह मंगला-राजभोग-हिंडोला-पलना या फूलमंडली आदि के नाम से पैसे लिए बिना जाने वाला नहीं है। मैं यदि ना करूं तो घरवाली के साथ झगड़ा हो जाता है, इसलिए कहता हूँ - जय श्री कृष्ण बोल - थैली का मुख खोल!

"स्वासंबंधी यत: कृष्णो न गृहणातीति निश्चय:"- कहने में समर्थ अपनी पुष्टिमति आज कहां चली गई है?

"मेरी सत्ता का मेरे प्रभु को भोग न धर सका, अत: आज मेरे प्रभु आरोगे नहीं।" - ऐसा मानने वाले पुष्टिजीवों की वह दिव्य पुष्टिअस्मिता आज कैसी अधोगति में गिर गई है?

"जो वस्तु मेरी ममता का विषय नहीं, उसका मैंने समर्पण नहीं किया; जो समर्पित नहीं, वह वस्तु मेरे प्रभु के साथ संबंध रखती नहीं, अब जिसका मेरे प्रभु के साथ संबंध नहीं उस बूंदी-मोहनथाल.. मठड़ी या पेड़ा की सामग्री के भुक्खड भोजनभट्ट जैसे, मेरे पुष्टि प्रभु हो ही नहीं सकते।

जाहिर मंदिरों में इकट्ठा हुई परसादिया भक्तों की भीड़ में चुरा न जाए इस भय से चप्पल-बूट भी न उतारने वाले दर्शनार्थियों के पांवों तले अपना पुष्टिभाव भी आज कुचल गया लगता है।

श्रीहरिरायजी महाप्रभु क्या आज्ञा करते हैं – ''न फलार्थं न भोगार्थं न प्रतिष्ठा प्रसिद्धये, श्रीमदाचार्यमार्गेण नान्येनापि कदाचन, न कल्पितप्रकारेण न (धंधाकीय) दुर्भावसमन्वयात्।'' इसका लेशमात्र विचार भी आज अपनी मति में सुरक्षित है ?

जवाब दो – पुष्टिमार्ग का ढोंग करने वालो ! जवाब दो कि – तुम किसकी अनुपालना में, कौन से ग्रन्थ में कही गई कौन सी आज्ञानुसार, किस उद्देश्य से अथवा तो स्वयं की कौनसी कमजोरी या लाचारी को ढकने के लिए पुष्टिधर्म का बहाना कर जनता को छल रहे हो?

पढ़ो – एक बार नहीं, हजार बार पढ़ो ! और बुद्धि लगाकर पढ़ो !! सम्पूर्ण निष्ठा से पढो और देखो कि द्वितीय गृह के वर्तमान पीठाधीश्वर पूज्यपाद गोस्वामी श्रीकल्याणरायजी सेवा का सिद्धान्त शुद्ध प्रकार समझाते हुए कैसी वस्तुदर्शी आज्ञा दे रहे हैं –

आपश्री (श्रीकल्याणराजी) कहते हैं – ''भक्तवत्सल (भगवान) साधन सम्पत्ति, दंभे से की गई सेवा से कदापि प्रसन्न व संतुष्ट नहीं होते। द्रव्य पात्र के अभाव से दिखावे (प्रदर्शन) भरा अर्पित दूषित द्रव्य श्री .. की सान्निध्य सेवा से वंचित ही नहीं रखता अपितु भाव संरक्षण के लिए भी प्रतिकूल ही है। इसके विपरीत दैवी द्रव्य, भले ही न्यून मात्रा में ही क्यों न हो, प्रेमानुरक्त अकिंचन वैष्णव अंगीकार कराये तो वही सेवा हेतु पर्याप्त व सुखप्रद होता है। शुद्धभावना के पोषक 'पूर्ण पुष्टिपुरुषोत्तम' की बालभावमय सेवा में स्नेह नियामक है।'' (शिक्षा पत्र – आमुख पृष्ठ : 4)

जो इतनी भी हृदयपूर्वक संभाल हम ने पुष्टिमार्ग में रखी होती तो कितने अधिक पुष्टिमार्गीय निधिस्वरूप सरकार के शिकंजे में फंसे नहीं होते। अपने श्रीठाकुरजी की सेवोपयोगी गृहसंपत्ति का सार्वजनिक ट्रस्ट हमें बनाना नहीं पड़ता। परंतु इस एक दारूण हकीकत को स्वीकारने के

सिवाय अब कोई छुटकारा ही नहीं है कि अपने सिद्धांत और व्यवहार में आज आकाश पाताल जितना अन्तर है। इसीलिए अपने पति या पत्नी का कोई तटस्थ स्त्री या पुरुष मनोरथी बने तो अपना कलेजा धड़कने लगता है ! अपने अनन्य स्वामी स्त्रीगूढभावात्मक सेव्यस्वरूप के, परंतु, मनोरथी बनाने के लिये हम दैनिक अखबारों में विज्ञापन देते हैं और ऐसा करते हुए अपने पेट का पानी तक नहीं हिलता?

अपनी पत्नी या संतति को हम सार्वजनिक संस्थाओं में भरण-पोषण हेतु भर्ती नहीं करते हैं परंतु अपने घर के आधिदैविक स्वामी को नेग-भोग या राग-शृंगार के वैभवयुक्त आडंबर दिखाने के लिए सार्वजनिक न्यास के सुपुर्द कर देते हैं। अरे ! इससे अधिक घृणित विश्वासघात और क्यां हो सकता है?

बहुत से लोग दलील देते हैं कि यह तो आधुनिक सरकार के धर्मविरोधी कानून के कारण करना पड़ता है। इसमें अपना क्या गुनाह ?

एकदम गलत बात है यह, सरकारी कानून के शिकंजे में अपने फंसने का पहला कारण यह है कि – हमने अपना सिद्धांत छोड़ दिया । अपना सिद्धांत यदि अपने को सरकारी कानूनों के छलकपट में फंसने के कारण छोड़ना पड़ा होता तो फिर भी क्षमा योग्य घटना कही जाती! वास्तव में हुआ तो इसके विपरीत है। हमने गृहसेवा के सिद्धांत को दगा देकर सार्वजनिक मंदिर चलाये हैं, इसीलिए आधुनिक कानून लागू हुए हैं।

गायकवाड़ राज्य में इसीलिए अमरेली के मंदिर के निर्णय में कहा गया था कि पुष्टिमार्ग में जाहिर मंदिर होते ही नहीं हैं। गुरु महाराजों की निजी हवेलियां होती हैं। उस जीती हुई हवेली को जाहिर ट्रस्ट किसने

बनाया ? पू.पा. तिलाकायत महाराजश्री (नाथद्वारा) के केस में भी उच्च न्यायालय ने यही उद्‌गार व्यक्त किये थे –

Some temples of this cult may have been private in past and some of them may be private even today. Whether or not a particular temple is a public temple must necessarily be considered in the light of the relevant facts related to it.

अर्थात कि इस मार्ग में कितने ही मंदिर भूतकाल में निजी होंगे और कितने ही मंदिर वर्तमान में भी निजी होंगे। कोई मंदिर सार्वजनिक है या निजी इसका निर्णय (ऐसे सिद्धांत उस समय अदालत में नहीं समझाये गये होने के कारण : गो. श्याम मनोहर) अमुक मंदिर की हकीकत का विषय है।

इससे आगे बढ़कर उस समय के निर्णयों में सर्वोच्च न्यायालय ने जो ध्यान में रखने लायक बात कही, वह यह है कि–

The participation of the members of the public in the darshan in the temple and in the daily acts of worship or in the celebration of festival occasion, may be very important factor to consider in determining the character of the temple (para 23 AIR 1638)

अर्थात दर्शन, नित्य-सेवाविधि और उत्सवों मे जनता भाग लेती है या नहीं, यह तथ्य कोई मंदिर निजी है या सर्वाजनिक, इस छान-बीन का प्रमुख आधार है।

यदि हम ने खुद के घर में निजी हैसियत से स्वयं के माथे बिराजते पुष्टिप्रभु की सेवा में स्वयं समर्पित किया हुआ तन-धन-मन-परिजन के विनियोग का सिद्धांत, धन लालसा और प्रसिद्धि की लालसा के वशीभूत होकर, तोड़ा न होता तो किस लिए कोई अदालत अपने गोस्वामी बालकों

की गुरुपदोचित गरिमा को पुजारीपन के निम्न पायदान पर या अपनी आधिदैविक निधि को अथवा आधिभौतिक गृहसंपत्ति को सार्वजनिक ठहराती ?

हम यह कहते थे कि हमारे यहाँ सार्वजनिक देवालय नहीं, महाराजश्री की हवेलियाँ होती हैं जबकि उन निजी हवेलियों में अपना व्यवहार सार्वजनिक देवालय की तरह ही होता था। इसीलिए नये कानून, उदाहरणतया राजस्थान पब्लिकट्रस्ट एक्ट में सुस्पष्ट शब्दों में मंदिर की परिभाषा करते हुए कहा गया है –

Public trust means an express or constructive trust for either a public, religious or charitable purpose or both and includes a temple (16) 'Temple' means a place by whatever designation known, used as public religious worship (sect.2)

इससे सिद्ध होता है कि हम 'हवेली' 'गृह' 'पीठ' या गृहपीठ कोई भी नाम प्रयुक्त करें, परंतु धन लिप्सा या प्रसिद्धि लिप्सा की स्वधर्मविरुद्ध आन्तरिक कमजोरी के कारण यदि जाहिर जनता को – दर्शन भेट सामग्री मनोरथ और प्रसाद – समाधानात्मिका पंचधा भगती के आडंबर करते ही रहेंगे तो आज के कानून अपने सिद्धान्तों को सुनने के लिए तैयार नहीं ही होंगे। अपने सेवास्थलों को 'गृहपीठ' नहीं मानकर सार्वजनिक देवालय ही मानेंगे। इससे सिद्ध होता है कि, सरकार ने पुष्टिमार्गीय धर्मगुरुओं से इनके सर्वस्व निधिस्वरूप, इनकी गृहसम्पत्ति और गुरुपदोचित गरिमा छीन ली। इसका मूल कारण यही है कि हम ने अपने सर्वस्व निधि स्वरूपों की बजाय जनता से मिलते द्रव्य को अधिक महत्व दिया। अपने गृह को, साम्प्रदायिक आयोजनों को स्वमार्गीय सिद्धांत अनुसार भगवत्सेवानुकूल रखने के बजाय धर्म के व्यापारिक

केन्द्र या आयोजनों के रूप में अधिक विकसित किया है। पुष्टिमार्गीय जनता को इसलिए स्वमार्ग के सच्चे सिद्धान्त कहते हुए आज कितने ही पुष्टिमार्गीय धर्मगुरु शरमाते हैं – घबराते हैं – और स्वयं नंगे न हो जाएं – ऐसे भयवशात् सिद्धांत प्रकट करने पर आगबबूला हो जाते हैं और गालियां तक निकालने लगते हैं। भागवत् प्रवचन की व्यावृत्ति करने वाले प्रवचनकारों को सार्वजनिक व्याख्यानों में यद्वा-तद्वा ग्राम्य गाली देने के लिए विख्यात एक महानुभाव सिफारिश करते हैं कि सच्चे सिद्धान्त भी कटु शब्दों में कहे जाएं तो लोगों के गले नहीं उतरते (मतलब कि मात्र गैरव्यापारिक सेवा के लिए ही, भागवत प्रवचन के लिए नहीं)। यह तो भगवान के नाम पर चेले मूंडने के चक्कर में भगवान को ही भुला देने अथवा छीने जाने जैसा हाल बन गया है।

इसमें शांत चित्त से विचारने लायक इतना ही है कि बहुत सारे नये कानून भी आखिर किसी भी जाहिर संस्था, स्थान या सम्पदा, जिस सम्प्रदाय के जिन सिद्धान्तों के प्रतिनिधि या प्रतीक के रूप में स्थापित होते हैं, उनको यथोचित आदर देने की जमानत देते हैं। उदाहरणार्थ – राजस्थान पब्लिक ट्रस्ट एक्ट को भी देखें तो उसमें स्पष्ट शब्दों में स्वीकारने में आया है कि –

The maintenance of a public trust shall include - the running there of in accordance with the tenets of the religion or persuasion represented by the public trust and with due regard to the obects and purposes underlying the foundation there of (Sec.61/j/expl.1)

अर्थात जो पब्लिक ट्रस्ट जिस हेतु या लक्ष्य की पूर्ति हेतु अथवा तो जिन धार्मिक मान्यओं के आधार पर सिद्धांत स्थापित हुए होंगे, उनको यथोचित आदर प्रदान कर उस ट्रस्ट का निर्वहन किया जाता रहेगा।

आज की तारीख में भी यदि एक बार सभी पुष्टिमार्गीय मंदिरों में आत्मसमर्पण, तनुवित्तजा और भाव संगोपनात्मक सेवा के स्वमार्गीय सिद्धान्तों को अमल में लाये जाये तो, अपनी कृति – रति – मति का फिर से शुद्ध भावात्मक विनियोग होने से, सरकारी नियम – कायदे अपने मार्ग में बाधक नहीं बन सकते। कोई भी कानून यह नहीं कह सकता कि तुम तुम्हारा धर्म मत पालो, फिर किसलिए हम सार्वजनिक जनता के लिए मंदिर चलाना चाहते हैं? किसलिए हम अपने स्त्री गूढ़ भावात्मक प्रभु के मनोरथ के समाचार पत्रों में विज्ञापन छपा-छपा कर दूसरों को मनोरथी बनने के लिए निमन्त्रण देते हैं? इतना सा सुधार तो, अपने मार्ग में व्याप्त सड़ांध का, सैद्धान्तिक उपायों द्वारा भी कर सकते हैं।

किशोरी बाई की वार्ता के भावप्रकाश में श्रीहरिरायजी महाप्रभु ने तो स्पष्ट शब्दों में प्रकाश डाला ही है कि –"अन्य के स्वामित्व वाली कोई भी वस्तु स्वयं के श्रीठाकुरजी के विनियोग में लानी ही नहीं चाहिये, और एक वैष्णव द्वारा दूसरे वैष्णव से ली गई सामग्री का स्वयं के श्रीठाकुरजी की सेवा में विनियोग नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि उस विनियोग का ठाकुरजी अंगीकार ही नहीं करते"। गौर करने लायक है कि किशोरी बाई को सामग्री देने वाला भी वैष्णव ही था तदुपरांत भी श्री ठाकुर जी आरोगे नहीं तो वैष्णव – अवैष्णव, ब्रह्म संबंधी – गैर ब्रह्मसंबंधी श्री महाप्रभु जी के पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तानुसार भाव वाले या ऐसे भाव से सर्वथा रहित इस तरह का कोई भी भेद किए बिना 'लाओ पैसे -- लाओ पैसे' की मनोवृत्ति से करने में आती सेवा में होते विनियोग को प्रभु कैसे अंगीकार करेंगे? इसलिए स्वीकारना पड़ेगा कि या तो गोस्वामी बालक वैष्णव नहीं हैं अथवा स्वयं के माथे बिराजते श्रीठाकुरजी के नाम से जो भिखमंगापन

हवेलियों में चल रहा है, उस अपराध के कारण हवेली में बिराजते श्रीठाकुरजी को भोग धरने में आती सामग्री को आरोगते ही नहीं हैं।

क्षुद्र स्वार्थ के कीचड़ में ही बहुत से लोगों की बुद्धि भैंस की तरह गले तक डूबी होने से वे यह कहते पाए जाते हैं कि गोस्वामी बालकों के माथे बिराजते ठाकुरजी के मुखारविन्द की, क्योंकि श्रीमहाप्रभु को पुरुषोत्तम के मुखारविन्द के सम माना गया होने से, सेवार्थ कोई भेंट या सामग्री लेने -देने में आये तो देवद्रव्य की सामग्री का भोग धरने या उसका प्रसाद लेने का अपराध लग नहीं सकता। कारण कि आरोगाने के लिए मांगी जाती (भेंट - सामग्री) आचार्यचरण के लिए आयी हुई भेंट माननी चाहिए। उसी तरह गोस्वामी बालकों के माथे बिराजते ठाकुरजी के चरणारविन्द - पुष्टिपुरुषोत्तम - भावात्मक होने से ब्रह्मसंबंध उसी स्वरूप के सामने दिया जा सकता है ; वैष्णवों के माथे बिराजते स्वरूप के सामने नहीं। कारण कि वैष्णवों के माथे बिराजते श्रीठाकुरजी आचार्यभावात्मक होने से उनके सामने दिया गया ब्रह्मसंबंध पुष्टिपुरुषोत्तम के साथ हुआ ब्रह्मसंबंध नहीं माना जा सकता। ऐसे ही तुलसी - पत्र भी आचार्य भाव से बिराजते स्वरूप के चरणों में समर्पित नहीं किया जा सकता। वैष्णवों के माथे बिराजते ठाकुर जी का मुखारविन्द पुरुषोत्तम भावात्मक होता है, वरना ठाकुरजी ने वहाँ पक्की मरजाद ली हो तो भी सखड़ी अनसखडी सामग्री आरोग नहीं सकते। ऐसी लंबी चौड़ी गप्पबाजी का क्या जवाब देना?

यदि ऐसे अगड़म्-बगडम् सिद्धान्तों का व्यापक प्रचार हो जाये तो गोस्वामी बालकों को पुष्टिपुरुषोत्तम के प्रसाद से वंचित मानना पड़ेगा, कारण कि वह तो फिर वैष्णवों के घर में ही मिल सकेगा। उसी तरह फिर

पुष्टिमार्ग में जाहिर मंदिरों का जीर्णोद्धार पुष्टि सिद्धान्त और पुष्टिभावों को जीर्ण-शीर्ण करने की कारस्तानी है। इसलिए मैं तो हिम्मत नगर के पुष्टिमार्गीयों से अपेक्षा रखता हूँ कि वे हिम्मत दिखाकर जाहिर मंदिरों के निर्माण का विरोध नहीं तो कम से कम सम्पूर्ण असहयोग तो अवश्य करें।

दिन प्रतिदिन गाये जाते आश्रय के पदों में जो श्रद्धा रखने की सिफारिश की है वह सच्ची है। श्रीमहाप्रभुजी - श्रीगुसांईजी - श्रीगोकुलनाथजी - श्रीहरिरायजी आदि अनेकानेक अपने पूर्वज महानुभावों के द्वारा उपदेशित सिद्धान्तों को हिम्मत से अनुसरो। तुम हिम्मत नगर के रहवासी हो। क्या सूरदास जी द्वारा गाया गया आश्रय पद तुम भूल जाओगे?? सूरदास जी कहते हैं -

यामें कहा घटेगो तेरो। नन्दनन्दन कर घर को ठाकुर आप होय रहे चेरो॥

भली भई जो सम्पत्ति बाढ़ी बहुत कियो घर घेरो॥
सुत वनिता बहु यूथ संकेले वैभव भयो जु घनेरो॥
सूर समर्पण करो श्याम कों - यह सांचो मत मेरो॥

प्रश्न (8-9=10 का सारांश)

प्रश्न - मंदिर या सत्संग हाल को विवाद का विषय गलत बनाया गया है।

उत्तर (8-9=10)

इस सृष्टि में मन, वाणी और काया के उपकरणों द्वारा मति - शब्दाभिव्यक्ति और कृति का एक अनूठा सामर्थ्य या वरदान परमात्मा ने जीवात्मा को प्रदान किया है। इससे स्वयं के भीतर और बाहर चारों तरफ चलती क्रिया-प्रतिक्रियाओं की प्रत्येक कड़ी को सचेतन प्राणी अपनी-

(2) बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः। अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णम् ॥ (श्रीमहाप्रभु, सि.मु.2)

(3) यस्य वा भगवत्कार्यं यदा स्पष्टं न दृश्यते। तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः॥ (श्रीमहाप्रभु, निरोध ल.19)

आधुनिक प्रतिमति

(1) स्वमार्गीय प्रणालिकानुसार नेग - भोग - शृंगार के वैभव को निभाने हेतु दूसरे का द्रव्य ले सकते हैं। अर्थात् जनता से वित्तजा सेवा करा सकते हैं और मुखिया भीतरिया आदि नौकरों से तनुजा सेवा कराई जा सकती है।

(2) अपने - अपने घर में मेंड - मरजाद - नेग - शृंगार - राग के वैभव विस्तार वाली सेवा प्रणाली का निर्वाह कठिन होने से अपने - अपने घर में सेवा करने के बजाय आम जनता के द्रव्य से मुखिया - भीतरिया द्वारा सार्वजनिक मंदिरों में सेवा करवा लें तो ही, स्वमार्गीय प्रणालिकानुसार सेवा हो सकती है।

(3) घर में श्रीठाकुरजी न भी बिराजते हों तो कोई खास फर्क नहीं पड़ता; यदि नियम से मंदिर में दर्शन करने की आदत रखी हो तो।

विमति

जो महाप्रभुजी - श्रीप्रभुचरण - श्रीपुरुषोत्तमजी आदि पूर्वाचार्यों से लेकर पू. पा. श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज (सूरत), नि. ली. श्रीरणछोड़ाचार्य प्रथमेशजी, पू.पा. श्रीघनश्यामलालजी (कामवन), पू.पा. वाजपेय सोमयाजी श्रीवल्लभरायजी जैसे आधुनिक गोस्वामी बालकों के वचनों से सुप्रमाणित सिद्धान्तों से विरुद्ध प्रणालिका की प्रामाणिकता कितनी?

मूलवाद

(1) लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा।

भावार्थ – जो कोई लोकार्थी बनकर कृष्ण भजन करता हो तो उसको भगवान कृष्ण के बजाय मात्र क्लेश ही मिलेगा!! (वादी – श्रीमहाप्रभुजी, सि.मु.)

ननु कश्चिद् जीविकाद्यर्थमपि भजते तस्य का गति:? इत्यत आहु: 'लोकार्थीति'। 'लोक' पदेन लौकिको अर्थ: उच्यते, तदर्थी चेत् कृष्णं भजेत्, तदा व्यापारवद् अर्थे सिद्धे तस्यापि अनर्थरूपत्वेन तत्कृतभजनस्य भक्तित्वाभावात् तत्कृतं सर्वं क्लेश रूपमेव .. न केवलं ऐहिक: क्लेश: किंतु परलोकोऽपि नश्यति, निषिद्धाचरणादिति यस्य स्वल्पमपि ज्ञानं स न एवं करोति।

भावार्थ – किसी तरह की जीविका आदि के प्रयोजन से, जो भजन करता हो तो उसकी क्या गति होती है? इस प्रश्न का समाधान करते हैं -- लोकार्थी पद से। 'लोक' कहने से लौकिक अर्थ समझना, ऐसे लौकिक अर्थ की कामना वाला यदि कृष्ण भजन करता हो और उसकी कामना पूर्ण भी हो! जाए तो भी ऐसे भजन को भजन नहीं अपितु व्यापार समझना। अत: भजन आजीविकार्थ करने से प्राप्त अर्थ = धन की प्राप्ति अनर्थरूप होने से, ऐसा भजन भक्ति है ही नहीं, अत: ऐसे लोकार्थी द्वारा किया जाता सब कुछ क्लेश रूप ही होता है .. केवल लौकिक क्लेश होता हो इतना ही नहीं, उसका परलोक भी नष्ट हो जाता है – निषिद्ध आचरण के कारण। (व्याख्याकार=श्रीप्रभुचरण-सिमुविवृति)

लाभपूजार्थयत्नस्य उपधर्मत्व-देवलकत्वादि-संपादकत्वाद् तद्व्यतिरिक्तेन अनिषिद्धप्रकारेण ऐहिकं मे भवतु इति अनुसंधाय प्रवृत्तो लोकार्थी, तादृशश्चेत् कृष्णं भजेत्, तदा सर्वथा क्लिष्टो भवति।

(2) स्वयं की चरणभेंट के रूप में प्राप्त द्रव्य से भगवत्सेवा करने का मतलब क्या?, क्या श्रीठाकुरजी को भोग धरने की सामग्री, पहले हमारे पावों में धरकर फिर ऐसी अपवित्र सामग्री प्रभु को भोग धरनी? कोई अन्य लोग यह भी कहते हैं कि षोडश ग्रन्थों में से वचन ढूँढ - ढूँढकर, अपनी चली आती परम्परा का विरोध करने वालों को होश ही नहीं है कि षोडश ग्रन्थ तो श्रीमहाप्रभुजी द्वारा वैष्णवों को दिये गये उपदेश हैं। उक्त वचन गोस्वामी बालकों के लिए कहे गये न होने से उनके नियम गोस्वामी बालकों के लिए बन्धनकारी नहीं हैं। गोस्वामी बालकों के यहाँ तो साक्षात् पुष्टिपुरुषोत्तम की सेवा होती है -- मर्यादापुरुषोत्तम की नहीं। वैष्णवों के माथे तो गुरुभाव से ठाकुरजी पधराने में आते हैं, अत: वैष्णवों को दूसरे के द्रव्य से सेवा नहीं करनी चाहिए।

(3) गोस्वामी बालक क्या करें? स्वयं की चरणभेंट से स्वयं के निर्वाह का आग्रह संभवत: सच्चा भी हो तो भी महंगाई के समय में ऐसा आग्रह रखने से निर्वाह ही अशक्य हो जाता है। श्रीठाकुरजी की भेंट - सामग्री - मनोरथ के नाम से आज वैष्णव सौ रुपये धरते हों तो बालकों की चरणभेंट के रूप में पाँच या दस रुपये भेंट धरके खिसक जाते हैं।

(4) ब्रह्मसंबंध लेने के बाद अहंता - ममता छोड़ देनी होती है। तब फिर स्वयं के देह से ही, स्वयं के परिजनों के सहयोग से ही, स्वयं के द्रव्य से ही, स्वयं के घर में बिराज़ते स्वरूप की सेवा का आग्रह पुन: मिथ्या अहंता - ममता को बढ़ाने की ही मूर्खता नहीं तो और क्या है?

(5) 'बालक सब ब्रह्म जानिये'- कहा गया होने से गोस्वामी बालक स्वयं पुरुषोत्तमस्वरूप हैं। ऐसे बालक सिद्धान्तानुसार आचरण करते हों या सिद्धान्त विरुद्ध, इनकी कृति में दोष बुद्धि नहीं लानी चाहिए।

श्रीमहाप्रभुजी ने भी आज्ञा की है कि - 'दोषा: न मन्तव्या: कथंचन'। अरे एक वैष्णव की कृति में - दूजे वैष्णव को दोष बुद्धि लाने की मनाही है तो फिर गोस्वामी बालकों की कृति में सिद्धान्त या अपसिद्धान्त की विवेचना द्वारा दोष बुद्धि कैसे की जा सकती है?

(6) हर जगह अलग-अलग सम्प्रदाय अपने-अपने मंदिर बना रहे हैं, उसमें पुष्टिमार्गीयों को भी पीछे नहीं हटना चाहिए। मुसलमानों की मस्जिदों की तरह गाँव-गाँव में, गली-कूचों में मंदिर बनाकर उनमें लाउडस्पीकर लगाकर सुबह-शाम, यमुनाष्टक-कीर्तनों का प्रसारण करना चाहिए।

(7) श्यामुबाबा एण्ड कम्पनी ने श्रीमहाप्रभुजी आदि पूर्वाचार्यों के जितने ग्रन्थ देखे भी नहीं होंगे उतने -हमारे संग्रह में विद्यमान हैं। हमने पर्याप्त वचनों का संग्रह कर लिया है, जिनके आधार पर जनता से भगवत्सेवार्थ भेंट-सामग्री लेकर उनके मनोरथ पूर्ण करने के लिए सार्वजनिक मंदिर चला सकते हैं। हम इस विषय पर शास्त्रार्थ करने के लिए तैयार बैठे हैं परन्तु श्यामुबाबा जैसी हलकी भाषा हम वापर नहीं सकते, यह हमारी लाचारी है।

ऊपर वर्णित सभी छ:-सात मुद्दों की सूक्ष्मता से छानबीन करने पर इतना तो एकदम स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे प्रतिवाद 'मूलवाद' शीर्षक के नीचे दिए गये, श्रीमहाप्रभुजी - श्रीप्रभुचरण - श्रीपुरुषोत्तम जी आदि सभी स्वसिद्धान्त प्रवर्तक व्याख्याकार पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित सेवाप्रणाली से मात्र विरुद्ध ही नहीं अपितु प्रवाही जीवसुलभ काम - क्रोध - लोभ - मद - मात्सर्य वाली नरकदायिनी वृत्ति से भी प्रेरित हैं। जैसे कि :-

(1) पहले प्रतिवाद के अनुसार - सिद्धान्तमुक्तावली में उपदिष्ट

एककर्तृका तनुवित्तजा सेवा के नियम में छूट का उपाय खोजने के लिए पुष्टिप्रभु को महंगी, उत्तमोत्तम सामग्री धरके तत्सुख का बहाना ढूँढ़ा गया है। यदि हकीकत में इसके पीछे तत्सुख का ही निष्काम विचार हो तो ऐसे देवद्रव्य का प्रसाद स्वयं खाने और वैष्णवों को बेचने का दुराग्रह किसलिए? श्रीमहाप्रभुजी के नियम के अनुसार भोग धरके गोग्रास में और किसी नदी अथवा 'मड आईलैण्ड' की खाड़ी में पधरा देना चाहिए। आज तो इससे विपरीत मंदिर ट्रस्ट की स्कीम में 'कणका' प्रसाद की जगह छः-छः पत्तल और बादाम - पिस्ता, मसाले और केसर आदि स्वयं के घर ले आने का जुगाड़ करने में आता है जिसको आरोग - आरोग कर, तोंद का घेरा स्वयं से डेढ़ गज आगे चलता होता है। अतएव इस विधान में कामदोष प्रकट हो रहा है।

कई लोग कहते हैं कि बिकती पत्तल या बिकते हुए बूंदी - मोहनथाल की मिठाई खरीदने पर देवद्रव्य की बाधा नहीं आती, मुफ्त में लें तो ही बाधा आती है। हकीकत में तो शास्त्र का सिद्धान्त इस संबंध में अतिशय स्पष्ट है -

सर्वान् रसानपोहेत कृतान्नं च तिलैः सह।
अश्मानो लवणं चैव पशवो ये च मानुषाः॥
सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवेणन च।
त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणःक्षीरविक्रयात्॥

(मनुस्मृतिः 10/85-92)

अर्थात् -- तीन दिन तक जो ब्राह्मण दूध या दूधघर की सामग्री बेचता है उसका ब्राह्मणत्व समाप्त होकर वह शूद्र बन जाता है। इस प्रकार तो शूद्र बनने में भी किसी को आपत्ति न होती हो! परंतु मंदिरों में ब्राह्मणों को ही मुखिया भीतरिया के रूप में रखने का दुराग्रह तब निर्मूल

हो जाता है। प्रसाद बेचने वाले सार्वजनिक मंदिरों में हरिजनों को क्यों भीतरिया के रूप में नियुक्त नहीं किया जाता? नये युग में तो इसकी वाहवाही भी खूब मिल सकती है।

कितने ही लोग समझते हैं कि 'विक्रय' कहने पर यह दोष लागू होता है, 'न्योछावर' कहकर देने या लेने में क्रय-विक्रय का अपराध नहीं लगता। इस प्रसंग में हमारे परिचित एक भाई के मुँह से सुनी हुई घटना याद आ जाती है : उनको अपने प्लाट पर मकान बनवाना था, अतः वाटरवर्क्स में अफसर के पास मंजूरी लेने गये। सौभाग्य या दुर्भाग्य से वह अफसर भी पुष्टिमार्गीय थे। उनकी टेबल पर एक सुवाक्य लिखा हुआ था "सेवा ही स्वधर्म है।" तमाम कागजी कार्यवाही पूरी होने के बाद अफसर बोले : "ऐसे तो सारी कार्यवाही पूरी होने में दो-तीन माह आसानी से लग जाते हैं, पर तुम भी पुष्टिमार्गीय हो, इसलिए मैंने सारा काम शीघ्र पूर्ण करवा दिया है, अतः मैं कुछ मांगता नहीं हूँ, पर आप जो भी उचित समझो, वह दे दो।" तब मकान बनवाने वाले वैष्णव जरा टोकते हुए बोले कि टेबल को तो अतिशय सुन्दर वाक्य "सेवा ही स्वधर्म" से सजा रखा है। तब अफसर भाई झुंझलाते हुए बोले - "सेवा की ही न्योछावर माँग रहा हूँ, कोई घूस-रिश्वत नहीं माँग रहा हूँ!" अंततः कोई छुटकारा न देखकर पाइप कनेक्शन की सेवा करने हेतु अफसर को न्योछावर देनी ही पड़ी!

वास्तव में ऐसे प्रसाद विक्रय से मिलते रुपयों को 'मूल्य' न कहकर 'न्योछावर' कहने मात्र से यदि दोष मिट जाता होता तो कल को कोई रूपजीविनी (वेश्या) भी कह सकती है कि "मैं देह विक्रय नहीं करती। अतः खरीदने की ओछी मनोवृत्ति रखकर कोई मेरे सामने नहीं आवे! अलबत्ता, मेरे चाहने वाले, यदि मेरे रूप पर 'न्योछावर' के रूप में

मुझे कुछ द्रव्य देते हैं तो उसमें मुझे कोई एतराज नहीं है।'' कोई भी नाम दो, ऐसी प्रणाली में शुद्ध निष्काम पुष्टिभाव तो नहीं ही है।

(2) दूसरे प्रतिवाद में, एककर्तृका तनुवित्तजा के विषय में छूट के उपाय खोजने के लिए 'चरणभेंट' में 'चरण' का गलत अर्थ पाडाबुद्धि से क्रोधावेश में आकर निकाला गया है। क्योंकि भोग धरने की सामग्री को भोग धरने के पहले गोस्वामी बालकों के पांवों या चरणों पर धरने का प्रश्न ही अप्रासंगिक है। चरणभेंट के रूप में जो द्रव्य बालकों को भेंट में आता है वह चरण के सामने धरने में आता है, सामान्य ब्राह्मणों को हाथ में द्रव्य देने की प्रणालिका से विपरीत, गुरु भक्ति के प्रतीक रूप में चरणों के समक्ष रखने की प्रणालिका है। चरणभेंट के रूप में आये हुए द्रव्य को सीधा ही प्रभु को भोग धरने की हास्यास्पद बात कोई भी नहीं करता। उस द्रव्य से सामग्री खरीदने में आती है उसको मेंड के अनुसार सिद्ध करके प्रभु को भोग धरनी चाहिए। प्रभु के नाम से दूसरे से भेंट या सामग्री नहीं लेनी चाहिए।

जूनागढ़ - हवेली के केस के निर्णय में पुष्टिमार्गीय महाराजों को वैष्णवों की भेंट सामग्री को ठाकुरजी तक पहुँचाने वाला 'कंड्यूईट पाईप' अर्थात् वैष्णवों की जेब और ठाकुरजी को जोड़ने वाली मोरी कहा गया है। एक वास्तविकता के रूप में यह बात आज संभवत: सच भी हो सकती है। परंतु, सैद्धान्तिक दृष्टि से गोस्वामी बालकों का इससे अधिक अनादर किन्हीं और शब्दों में नहीं हो सकता!

किसी भी स्थिति में चरणों के समक्ष धरने के कारण, चरण - भेंट में किसी तरह की अपवित्रता आती हो तो फिर ऐसे द्रव्य से प्राप्त घर - वस्त्र - आभूषण आदि श्रीठाकुरजी के अथवा टी.वी.फ्रिज आदि स्वयं के

भी उपयोग में लाने नहीं चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि ऐसे प्रतिवाद में सिद्धान्तनिष्ठा के बजाय क्रोध का अवगुण अधिक बोल रहा है।

साक्षात् उपदिष्ट वचनों के बजाय यदि परम्परा ही अधिक प्रबल प्रमाण हो तो, प्राचीन परम्परानुसार प्रवास बैलगाड़ियों से करना चाहिए, विमान, मोटर या ट्रेन से नहीं; मनोरंजनार्थ रासलीला का आयोजन करना चाहिए, टी.वी.- वीडियो का नहीं; प्रकाश के लिए घी - तेल के दीपक जलाने चाहिए, बिजली के नहीं। अब जो यदि परम्परा से चलते आये प्रकारों का त्याग और नये प्रकारों का अनुसरण करने के लिए कहीं कोई निषेध वचन मिलता नहीं, यह सफाई दी जाए, तो यह सिद्ध हुआ कि परम्परा के बजाय विधि-निषेध वचनों का प्रमाण अधिक प्रबल है। इसके उपरांत षोडशग्रन्थोक्त नियम यदि मात्र वैष्णवों के लिए ही बन्धनकारी मानने में आते हों, अर्थात् गोस्वामी बालकों के लिए नहीं तो पुन: यह सिद्ध हो गया कि वैष्णवों को भगवत्सेवार्थ जैसे दूसरे लोगों से पैसे नहीं लेने चाहिए, उसी तरह अन्य (=गोस्वामी, बेटीजी, लालाजी, मुखियाजी, समाधानी या ट्रस्टी - भ्रष्टियों) को देने भी नहीं चाहिए! गोस्वामी बालकों को भी वैष्णवों से नहीं अपितु गैरवैष्णवों से ही भगवत्सेवार्थ पैसे लेने चाहिए - नही तो उन बन्धनकारी नियमों को तोड़ने के अपराध के भागी गोस्वामी बालक बन जायेंगे। वैष्णवों को तो स्वयं के घर में ही सेवा करनी चाहिए, गोस्वामी बालकों के सार्वजनिक मंदिरों में नहीं। अलबत्ता, गैरवैष्णव ऐसे मंदिरों में दर्शन करने अवश्य आ सकते हैं। इसके अलावा वैष्णवों के यहाँ यदि पुरुषोत्तमभाव से न बिराजकर गुरुभाव से ही ठाकुरजी बिराजते हों तो प्रांचीन समय से लेकर आज तक किसी ने भी नहीं देखा, ऐसे किसी पत्र में यदि गुरु के घर में दर्शन - भेंट करने की

बन्धन कारी आज्ञा हो, उसकी भी सार्वजनिक मंदिरों में जाकर पालन करने की आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि वैष्णवों के घर में बिराजते ठाकुरजी गुरुभाव से बिराजते होने से वैष्णवों का घर भी गुरु घर ही सिद्ध होता है। अत: इस विधान में, लोभ - मोह - मद और मात्सर्य की चौकड़ी नग्न दर्शन दे रही है।

(3) तीसरे प्रतिवाद के बारे में समझने योग्य यह है कि पुरुषोत्तमजी -- सेवाकर्ता को देवलक बनाने वाले जिस लाभ पूजार्थ प्रयत्न को निषिद्ध सेवा कहकर निंदा करते हैं उसी को अपनाने के लिए, अर्थात् मात्र जनता से अधिक से अधिक द्रव्य प्राप्त करने की इच्छा मात्र के कारण, धर्म के ढोंग खड़े किये जा रहे हैं। अर्थलोलुपता के सिवा इसकी और कोई व्याख्या सम्भव ही नहीं है।

(4) चौथे प्रतिवाद के बाबत में भी कहना है कि स्वयं की देवलकवृत्ति नहीं छोड़ने की असामर्थ्य के कारण ही, अहंता - ममता - त्याग का खोटा मोह खड़ा किया जा रहा है। क्योंकि यदि अन्य सभी बातों में अहंता - ममता के त्याग की कोई आवश्यकता न लगती हो और सिद्धान्तशुद्ध स्वतनुवित्तजा और स्वगृहस्थित स्वरूप की सेवा में ही अहंता - ममता के त्याग की आवश्यकता लगती हो तो सिद्ध हो गया कि ऐसा त्याग मोहजन्य त्याग है। सैद्धान्तिक दृष्टि से तो अहंता - ममता के त्याग के बजाय उसका भगवद् विनियोग ही अधिक श्रेयस्कर है।

(5) पांचवां प्रतिवाद यदि स्वयं गोस्वामी बालक करते हों तो, वह सिद्धान्तनिष्ठा के बजाय प्रवाहीजीव - सुलभ मद रूप दोष ही कहा जायेगा। क्योंकि दूसरे के दोष न देखना गुण कहा जाता है, किन्तु स्वयं के दोषों का विचार करके उन्हें दूर करने का प्रयास नहीं किया जाए तो भक्ति

मार्ग की ही निंदा होगी। यदि वैष्णव ऐसा प्रतिवाद करते हों तो उसमें इतना अंश कदाचित सच हो सकता है कि गुरु में दोष बुद्धि नहीं लानी। पर उसकी प्रत्येक सदोषकृति में सहयोग करना आवश्यक नहीं है। वेद में भी गुरु को आदेश देने में आया है कि उसे अपने शिष्यों को यह उपदेश देना चाहिए कि मेरे जो सुचरित्र हों - उसमें तुम्हें सहयोग करना चाहिए अथवा तुम्हें तुम्हारा अनुकरण करना चाहिए; गुरु बुद्धि के मोह के कारण, मेरे दुश्चरित्रों का नहीं।

यान्यस्माकं सुचरितानि तानि नो इतराणि (तैत्तिरीयोपनिषद्)

इसीलिए श्रीमहाप्रभुजी भी भक्तिमार्ग में आद्यतम साधन के रूप में - गुरु परीक्षण के बारे में ही समझाते हैं। उसकी व्याख्या करते हुए श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं कि अपने मार्ग की यह विलक्षणता है कि अन्य मार्गों में केवल शिष्य का ही परीक्षण होता है जबकि अपने यहाँ गुरु परीक्षण प्रथम सीढ़ी है। क्योंकि यदि गुरु परीक्षण न किया जाये तो एक नेत्रहीन के पीछे दूसरा चलेगा और जिसे गड्ढे में न गिरना हो वह भी गिर ही जायेगा! इसलिए श्रीमहाप्रभु जी ने 'जलभेद' ग्रन्थ प्रकट किया है -- 'वीक्ष्ये' त्यनेन मार्गान्तराद् वैलक्षण्यं ज्ञापितम्। 'ईक्ष' दर्शनांकयो: 'वि' ना च सम्यक्त्वं परीक्षणे द्योत्यते। तथा च तन्त्र:-- 'गुरु: परीक्षयेत् शिष्यं' इति वाक्यात् शिष्यो यथा परीक्ष्यते तथा अत्र गुरु: नोचेद् अतादृशस्य लोकानुगत - पशुरूपत्वात् तादृशो अनुसरणे अन्धानुगान्धवद् उभावपि पतेताम्। एतदर्थमेव जलभेदग्रंथकरणम् (सर्व नि.आवर.227)

आज अपने मार्ग की ऐसी दुरावस्था हो गई है कि जिस 'जलभेद' ग्रन्थ में भगवल्लीला को द्रव्य संचय का साधन बनाने पर उसकी तुलना गटर के पानी से भरे हुए गड्ढे से की गई है, ऐसे धन संचय

के लिए भगवत्कथा कहने वाले, सार्वजनिक मंदिरों की सेवा - प्रणाली की निंदा कर रहे हैं; और भगवत्स्वरूप होने के कारण जिस भागवतपुराण का उपयोग अर्थोपार्जन के लिए वर्जित है, उसकी निंदा करने वाले वापस साक्षात् भगवत्स्वरूप का धन संचयी उपयोग करते शर्माते नहीं हैं। यह कैसी यादवास्थली है!

अत: अपसिद्धान्त के मोह वाली कुमति के कारण कोई अर्थकरी भगवत्सेवा करना चाहता हो उसमें वैष्णवों को वित्तजा या तनुजा सेवा द्वारा सहयोग करने की कोई आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। भगवदीय हो या गुरु हो, किसी की भी सिद्धान्तशुद्ध कृति में दोषबुद्धि न जगे, इसके लिए, ऐसी भावना करनी चाहिए कि अनधिकारी प्रवाहीजीव आज गडरिया प्रवाह में ब्रह्मसंबंध लेकर पुष्टिमार्ग में घुस गये हैं, उनको पुष्टि फल से वंचित रखने के लिए कोई भगवदीय या गोस्वामी बालक स्वयं के सेव्यस्वरूप का सार्वजनिक प्रदर्शन करके लोगों से पैसे मांगते होंगे, आसुरव्यामोहनार्थ! अत: ऐसे आयोजन से आसुरीजीव को व्यामोह होता है - पुष्टिजीव को नहीं । इसलिए ऐसे आयोजन में स्वयं को जो पुष्टिजीव मानता हो उसके सम्मिलित होने की आवश्यकता स्वीकार्य नहीं!!

ऐसी भावना करने से गुरुओं में दोष बुद्धि भी नहीं जागेगी और उनकी सिद्धान्तविरुद्ध कृति में सहयोग करने के अपराध से भी हम बच जायेंगे।

(6) छठे प्रतिवाद के बारे में भी हम देख सकते हैं कि स्वधर्म को सिद्धान्तशुद्ध रीति से अनुसरने के बजाय दूसरे व्यक्ति या धर्म सम्प्रदायों के साथ प्रतिस्पर्धा में, अर्थात् स्वयं का नाक कटा कर भी दूसरे की यात्रा में अपशकुन करने की मनोवृत्ति जैसी ही बात करने में आ रही है। यह सच्ची स्वधर्म - निष्ठा न होकर मात्सर्य या ईर्ष्या का अवगुण है।

हाल ही यूरोप - अमेरिका में स्त्रियों ने शोर मचाया कि 'बाइबल' में परमात्मा को पुरुष रूप में दिखाकर, स्त्री - जाति का अनादर किया गया है। अत: सद्य प्रकाशित हुई बाइबल में परमात्मा को और जीसस क्राइस्ट को 'पुरुष' न कहकर 'व्यक्ति' कहने में आया है। अब ऐसी फैशन के कारण, क्योंकि गीता में भगवान स्वयं को वनितोत्तम न कहकर पुरुषोत्तम कह रहे हैं, कोई एतराज करे तो क्या अपने को भी पुरुषोत्तम को 'व्यक्त्युत्तम' कहना शुरू कर देना चाहिए?

हर कोई अपने - अपने धर्म का प्रचार करे इसमें कोई खराबी नहीं है; परंतु प्रचार की धुन में स्वयं के ही सिद्धान्तों से विरुद्ध जाकर, छल - कपट करना किस तरह अनुमोदनीय हो सकता है? - ''स्वधर्मे निधनं श्रेय परधर्मो भयावह।''

(7) सातवां प्रतिवाद तो एकदम बेसिर पैर का है। क्योंकि मैं अधिक विद्वान हूँ या अन्य कोई, मुझे कोई शास्त्रार्थ में जीत सकता है या नहीं, इस संबंध में तो विचारणीय कुछ भी नहीं है। अपना मुख्य मुद्दा तो यह है कि :- अपने मान्य आर्षशास्त्र और श्रीमहाप्रभुजी आदि पूर्वाचार्यों के वचनों के सच्चे अभिप्रायानुसार भगवत्सेवा धंधे के रूप में सार्वजनिक मंदिरों में अनुमोदनीय है या नहीं। सच्चा शास्त्रार्थ तो उपरोक्त शास्त्रों का सच्चा अर्थ (प्रकट) करने में निहित है। अब ऐसा शास्त्रार्थ करने में तो धोती ढीली होने लग जाती है तो ; और खोटा शास्त्रार्थ अर्थात् चादर में बिछौना कूटने की स्पर्धा (छद्म युद्ध) करना हो तो, उसमें तो मुझे हार कबूल करने में लेशमात्र भी ग्लानि अनुभव नहीं होती।

कल को कोई संगीत के क्षेत्र में या द्वन्द्व युद्ध अथवा 'बोक्सिंग' आदि के लिए मुझे चुनौती दे तो मुझे तो हार स्वीकार करने के सिवा कोई रास्ता ही नहीं है। क्योंकि उपरोक्त के बारे में कौशल्य या अकौशल्य से

विचारणीय मुद्दों के निर्णय में परिवर्तन हो नही सकता। ऐसे ही बहुत बार षडदर्शन में से किसी भी विषय पर शास्त्रार्थ की चेलेंज मुझे मिलती रहती है। मैं मुकाबले के पहले ही अपनी हार कबूल कर लेता हूँ। क्योंकि साहित्य - व्याकरण के विषय में मेरा ज्ञान नहीं के बराबर है। न्याय का मात्र मूल मुक्तावली पर्यन्त ही मैंने अध्ययन किया है। सांख्य - पूर्वमीमांसा का थोड़ा बहुत अध्ययन कर लेने के बाद भी, उसमें विशेषज्ञता हासिल न कर सका। वैशेषिक - योगशास्त्र का तो अध्ययन ही नहीं किया। वेदान्त में शांकर और वाल्लभ ग्रन्थों का थोड़ा अच्छा अध्ययन किया है, फिर भी अपने आपको इन विषयों का उत्कृष्ट कोटि का विद्वान तो मैं मानता नहीं। अर्थात् वैदुष्य के संबंध में पुष्टिमार्ग को उजाड़ देश के रूप में स्वीकार कर ऐरंड समान मेरे वैदुष्य की छांह में सुख मानने की भ्रमणा में कोई जीता हो तो यह एक अल्पभाग्य की बात है। अर्थात् मुझे शास्त्रार्थ में कोई जीत भी ले तो उसके कारण किसी बड़े शेर को मारने की सिद्धि किसी को मिल जायेगी मैं यह नहीं मानता हूँ। फिर भी किसी की शास्त्रार्थ की इच्छा अधिक बलवती हो तो उन्हें उनकी खाज को शांत करने के लिए दो तीन नामों का सुझाव दे सकता हूँ - जैसे -- न्यायशास्त्र में मेरे बजाय खूब अधिक अध्ययन सूरत के सोमयाजी श्रीवल्लभरायजी दीक्षितजी का किया हुआ हैं, उनके साथ शास्त्रार्थ करके कोई भी अपनी न्यायशास्त्रीय प्यास बुझा सकता है। साहित्य - व्याकरण का गहन अध्ययन चापासनी वाले श्री हरिराय जी महाकवि (विशेष :- पुष्टिसिद्धान्त चर्चा सभा 10-13 जनवरी, मुम्बई में हुई, प्रत्यक्ष चर्चा के बाद इस संबंध में मेरे विचार बदल गये हैं - (देखें परिशिष्ट - 1 गो.श्याम म.) का संभवत: होगा, अत: उनके साथ शास्त्रार्थ करके कोई भी अपनी क्षुधा मिटा सकता है।

सम्प्रदाय के आज दिन तक न देखे गये ग्रन्थों का ढेर किसके पास अधिक है इस संबंध की प्रतिस्पर्धा में भी मैं हार मानने के लिए तैयार हूँ। क्योंकि मेरे सामने मुद्दा एकदम सीमित इतना ही है कि इस लेखमाला में उद्धृत श्री महाप्रभुजी आदि पूर्वाचार्यों के वचनों का यदि मैंने सच्चा अर्थ न किया हो तो, ऐसा कहने वालों को मैं सच्चा अर्थ करके दिखाने की खुली चुनौती देता हूँ। पूर्वकाल में भी बहुत से महानुभावों के समक्ष (मैंने) शुद्ध विनम्रता पूर्वक यह जिज्ञासा रखी थी। मुझे दु:ख के साथ स्वीकारना पड़ता है कि वे श्रीमान जैसा अर्थ मैंने किया है वह सच्चा है, ऐसा मेरे सामने स्वीकार कर भी, पीठ पीछे - विरोधी वक्तव्य देते रहे हैं। एतदर्थ ही निराश होकर 'भक्ति का उपहास' या 'धर्म का ढोंग' जैसे कटु शब्द मुझे प्रयोग करने पड़ते हैं, जिससे कि जवाब देने में समर्थ विद्वानों की अस्मिता जाग उठे और मेरी गलती का मुझे स्पष्ट एहसास करा दें। ये 'रणछोड़राय' विद्वान (!) अब कहते हैं -- ''श्याम मनोहर जी जैसी हल्की भाषा हम नहीं वापर सकते।''

मुझे हल्की भाषा का इस्तेमाल करने से रोकना हो तो पवित्रता से ग्रन्थों से उद्धृत वचनों का सच्चा अर्थ लिखकर प्रकट करो और मुझ से भी वचन ले लो कि फिर कभी भी मैं हल्की भाषा नहीं वापरू। पुष्टिमार्ग में श्री महाप्रभुजी के वंशज ही श्रीमहाप्रभुजी के वचनों का अर्थ करने में पीछे हटते हों तो इससे बढ़कर अधिक गुस्ताखी इस मार्ग में दूसरी क्या हो सकती है?

इस तरह हम देख चुके हैं कि सार्वजनिक मंदिरों का विवाद, जो पैदा हुआ है अथवा पैदा करने में आया है, उसके वास्तविक अपराधी वादी नहीं अपितु सिद्धान्त के प्रतिवादी हैं। ये सिद्धांत को शुद्धनिष्ठा से पालना ही नहीं चाहते। वह भी हकीकत में तो बड़े विवाद का हेतु नहीं है।

विवाद तो तब पैदा होता है जब श्रीमहाप्रभुजी के ही नाम से उनके सिद्धान्तों से एकदम विरुद्ध आयोजन, उन्हीं के साम्प्रदायिक कार्यक्रमों के रूप में आयोजित किये जाते हैं। श्रीमहाप्रभुजी के वचनों के समक्ष प्रतिवाद करने में आता है। यदि कोई भी पुष्टिमार्गीय स्वयं के नाम से व्यावसायिक भगवत्सेवा या व्यावसायिक भगवत्कथा करे तो उसमें किसी को क्या आपत्ति हो सकती है?

श्रीमहाप्रभु आदि पूर्वाचार्यों के वचनों के आधार पर शुद्ध सैद्धान्तिक प्रस्तुति के लिए आवश्यक अध्ययन - ज्ञान या साहस के अभाव के कारण कई लोग अब ''मार्ग की प्राचीन चलती आती प्रणालिका'' की दुहाई देने लगे हैं। वास्तव में, परंतु, प्राचीन से प्राचीन प्रणालिका तो मर्यादामार्ग की है, उस परम्परा का निर्वाह हम क्यों नहीं करते? श्रीमहाप्रभु, श्रीप्रभुचरण आदि पूर्वाचार्यों ने हमको पुष्टिमार्ग को अनुसरने का ही उपदेश दिया है, उसी को यदि हम कारणरूप मानते हों, तो सिद्ध हो गया कि श्रीमहाप्रभु के वचन की तुलना में प्राचीन से प्राचीन प्रणालिका का भी कोई महत्व हम स्वीकार नहीं करते हैं। ऐसी स्थिति में श्रीमहाप्रभु के वचनों से सर्वथा विरुद्ध एक गंदगी या सड़ांध जैसी प्रचलित प्रणालिका का अपने मार्ग में महत्व कितना?

बहुत से वैष्णवों को आज भरमाया जा रहा है कि आज जो कुछ भी पुष्टिमार्ग के नाम से चल रहा है वही अपनी असली प्राचीन प्रणालिका है। हकीकत में तो डेढ़ सौ या दो सौ वर्ष से अधिक यह प्राचीन है ही नहीं। उसी तरह यह विकृत प्रणाली किन परिस्थितियों में प्रारम्भ हुई उसका विस्तृत विवरण अपने को तत्कालीन पुष्टिमार्ग के संवेदनशील हितैषी विचारकों के निम्नोक्त वचनों में मिलता है।

गोस्वामी श्रीदेवकीनन्दनाचार्यजी (कामवन) महाराजश्री द्वारा दिनांक 18-7-1885 के दिन वलसाड़ से मुम्बई के वैष्णवों को लिखे पत्र में, किन परिस्थितियों में इस मार्ग में विकृत प्रणाली शुरू हुई थी, उसका खुलासा देखिये :-

गोकुलेन्दुर्विजयते

सूचनापत्र

दिनांक : 18-7-85

श्रीवल्लभ स-प्रदाय के वैष्णवों को सूचित करना है कि मुझे मुम्बई रहते पौने तीन माह हुए हैं। उसमें हमारे सम्प्रदाय के लोगों की जो रीति-भाँति तथा बर्ताव मेरे देखने में आया है उस विषय में और हाल ही मेरे जाने हुए उस प्रसंग में दो बातें कहनी आवश्यक लगती हैं।

(1) जिस प्रकार हमारे पूर्व पुरुष स्वयं अपने धर्म का सच्चा स्वरूप तथा शुद्धाद्वैत सिद्धान्त सम्पूर्ण रीति से समझकर वैष्णव-धर्म का यथार्थ उपदेश लोगों को करते थे और जो मध्यकाल में संपत्ति आदि कारणों से हमने अधिकांशतया छोड़ दिया है उसी से अधिकांश लोगों को साधारण सेवा और मात्र वित्तजा भक्ति का ही रूढ़ि अनुसार ज्ञान रह गया है।

अपने सम्प्रदाय को बिगाड़ने वालों में, अधिकांशतः हमारे ही लोगों के दुराचरण का दोष दिखलाते है, परंतु यथार्थ में देखें तो पूरी तरह इस दोष के भागी हम ही हों, ऐसा नहीं है। इसमें वैष्णवों का भी पर्याप्त दोष है, ये (वैष्णव) हमारी बिगड़ी हुई मनोवृत्ति को प्रोत्साहित न करें तथा उसे रोकने का प्रयत्न करें तो निश्चय ही थोड़े ही समय में वह निर्मूल हो जायेगी। दुराचार की वृद्धि - उसे प्रोत्साहन मिलने से ही होती है।

हम लोग विद्याभ्यास या भगवत्सेवा करते हैं तो भावुक लोग कहते हैं कि ..''आप सर्वज्ञ हो,आपको अध्ययन करके क्या करना है? लाल बाबा को शास्त्री दु:ख देते हैं, वह हमसे सहन नहीं होता है। आपके चरणों में लक्ष्मी है, आपको कहाँ कथा बांचनी है? अपने मार्ग में वेद का या शास्त्र का कोई अधिक उपयोग नहीं है।'' ऐसे – ऐसे उपदेश हमको करते हैं -- ''फिलहाल खेल रहे हो तो संध्या आरती की मुखिया जी को आज्ञा दे दो। आप शयन के समय पधारना, आप ही प्रभु हो, आपके प्रभु कौन? प्रभु तो आपके करने से प्रभु हुए हैं, आप क्या उनका करते नहीं।'' इत्यादि उपदेश देकर विद्या और सेवा दोनों बातों का उच्छेदन तो मूलत: हमारे भावुक हितशत्रुओं ने किया है। (हाल ही आश्रय के अप्रैल 87 अंक में पुन: प्रकाशित)

इससे हम समझ सकते हैं कि तथा कथित ''मार्ग में चली आती प्राचीन प्रणालिका'' की जड़ें, इस मार्ग के भावुक हित शत्रुओं द्वारा रचित कितनी क्रूर साजिश में रही हुई है! ये षड़यंत्र थे गोस्वामी बालकों को अज्ञान और अधर्म की गहरी खाई में धकेल देने के जिसमें से बाहर निकला ही न जा सके! इस प्रणालिका का शिकार बन अज्ञान के गर्त में पड़ी हुई वल्लभवंशजों की सृष्टि तथा वाल्लभी वैष्णवों की सृष्टि, आज स्वयं श्री वल्लभ के वचनों के बजाय, वचन विरुद्ध प्रणालिका का प्रमाण अधिक स्वीकारती है! स्वयं को 'परम्परावादी' के रूप में प्रसिद्ध कर, श्रीमहाप्रभु के संस्कृत ग्रन्थों में से किसी वचन के उच्चारण को भी 'पाखंड' और 'पंक्ति लगाने वाला' कहकर (सही अर्थ का, मिथ्या अर्थ करने का प्रयास) आलोचना करते हैं। इसमें, परंतु, उनका न तो बुद्धिवैभव है और ना ही पुरुषार्थवैभव है। यह तो केवल दुर्भाग्यपूर्ण जड़ता और नपुसंकता ही है।

बहुत से लोग प्रश्न करते हैं :- क्या मात्र श्यामुबाबा एण्ड कम्पनी ने ही श्रीमहाप्रभुजी के ग्रन्थों अथवा सिद्धान्त वचनों को समझने का ठेका लिया है? क्या बड़ों (पूर्वजों) में निष्ठा नहीं थी या बुद्धि नहीं थी जिससे सिद्धांत वचनों का तात्पर्य वे समझ या जी नहीं सके?

श्यामुबाबा का जवाब इस संबंध में यह है कि यदि श्यामुबाबा एण्ड कम्पनी ने ही यह ठेका लिया होता तो श्री देवकीनन्दनजी महाराजश्री ऊपर वर्णित सूचना – पत्र प्रकट न कर सके होते!

यह सूचना – पत्र तो नि.ली.श्रीदेवकीनन्दन जी महाराजश्री द्वारा, श्यामुबाबा की बात तो जाने दो, इनके पिताश्री के भी प्राकट्य के पहले लिखा हुआ है। छिछोरी भावुकता के कैसे – कैसे व्यवस्थित और क्रूर षड्यन्त्रों तले उस समय के गोस्वामी बालकों को स्वधर्मज्ञानाचरण से रहित करने का यह सूचना – पत्र क्या खुलासा नहीं कर रहा है? श्रीमहाप्रभुजी के उपदेशों से विरुद्ध प्रणालियाँ अपने मार्ग में डेढ़ सौ या दो सौ वर्ष पूर्व ही चलन में आयी हैं। उसके और भी कई प्राचीन उदाहरण हैं। उनमें से अभी मुझे दो तीन प्रस्तुत करने हैं।

(1) अगारी बालकन में, वार्ता (भगवत्कथा) तथा सेवा में निपुनताई ..हती सो लिखायें सो ऐसे तो श्रीमहाप्रभु को कुल एकसार है और अब तो श्रीगोवर्धनधर की लीला ऐसी है – 'लीला लाल गोवर्धनधर की' सो कोई बालक में विद्या तथा विद्याध्ययन की ; तथा सेवा विषे शिथिलता दीसे है.. सो तासों कलियुग को सम्मान राख्यो है ओर श्रीमदाचार्य की कहा इच्छा है सो जानी नहीं परत है। जो अभी हमारे कृत्य देखते तो एक दिना हूँ ना निभती। जो नित्य नेम है सो गपोड़ा मारे हैं .. जो नित्य चेन उठावें हैं। सो ये हमारे चरित्र हैं, सो पलंगड़ीवारे हैं सो पार

लगावेंगे ..अपने मत के ग्रन्थ बहुत हैं जो वाद तथा पाठ के। बड़ेन ने काहू बात की कसर नाहीं राखी है। सो अत्यन्त परिश्रम करके संग्रह कियो है। परि लोगन की बड़ी कसर है सो वासों अहर्निश चिन्ता रहि आवे है। (कांकारोलीवाले श्रीगिरिधरलालजी के वचनामृत - 30)

(2) विद्यावरेषु बलिना कलिना विलीना
हीनादरेषु हरिभक्तिविधौ नवीना।
प्रायेण पद्धतिरु देति मुदेऽतिगानां,
लेखास्ततो गतजनेषु वनेषु खेदा:॥

(मारुतशक्ति की प्रस्तावना में भा.मा. श्रीगट्टुलालाजी)

भावार्थ - हाल में बलवान कलि के कारण गोस्वामी बालकों में विद्याभ्यास की प्रणालिका खतम हो गई है। स्वमार्गीय प्रणालिका का अतिक्रमण या उल्लंघन करने वालों को प्रसन्न करने के लिए नयी - नयी भगवद्भजन की प्रणालिकाएँ शुरू हो रही हैं। ऐसी स्थिति में श्रीमहाप्रभु आदि पूर्वाचार्यों के आलेखन तो अरण्यरोदन जैसे बन गये हैं। (अर्थात् कोई सुनने या अनुसरने को तैयार नहीं)।

इन दोनों महानुभावों को भी 100 से ऊपर वर्ष बीत चुके हैं, ये लोग उस समय के पुष्टिमार्ग में पैठ गई गंदगी से अत्यधिक पीड़ित होकर ऐसा करुण क्रन्दन प्रकट कर रहे हैं! अतएव श्यामुबाबा एण्ड कम्पनी यदि सिद्धान्त और प्रणालिका की सच्ची समझ रखने का अकेले ही दावा करे तो उससे बढ़कर पाखंड का उदाहरण और क्या हो सकता है?

मेरी मान्यतानुसार तो 'श्यामुबाबा एण्ड कम्पनी' जैसी कोई कम्पनी है ही नहीं और हकीकत में तो कम्पनी एक नहीं बल्कि दो हैं : एक उनकी जो वाल्लभ सम्प्रदाय के हितशत्रु हैं। इन लोगों ने पूर्व में

वाल्लभ सम्प्रदाय का उच्छेदन करने के लिए सबसे पहले श्री वल्लभ के नादान वंशजों को खुद का शिकार बनाया। आचार्य वचनों का उल्लंघन कर मार्ग की सच्ची प्रणालिका को नष्ट करने के लिए, उनको 'पुरुषोत्तम' कह-कह कर या सहला-सहला कर श्रीवल्लभ के ही नादान बालकों को शिकार बना कर विद्याभ्यास और स्वधर्माग्रह रहित, अर्थात् सभी तरह अयोग्य बना दिया। उनको ऐयाशी के कीचड़ में आकंठ डूबे हुए भैंसे की तरह पटके रखकर - सम्पूर्ण भैंस बुद्धि सम बनाकर आहिस्ता से अपसिद्धान्त के गहरे खड्ड में उतार दिया है। 'गोस्वामी बालक' का अर्थ विकृत होकर 'बछड़ा' हुआ होता तो कभी सुधरने का उपाय हो पाता, परंतु आज तो वह देवलकता की गंदगी के कीचड़ में आकंठ डूब कर मोज मनाने वाला 'परम्परावादी भैंसा' बन गया है। ऐसा कि उसमें से बाहर आने को स्वयं तैयार नहीं। इन भैंसा बुद्धि देवलकों नें, पेड़ा - बरफी - रबड़ी मलाई के चटोरों की एक दूसरी ऐसी कम्पनी खड़ी की है कि धर्मवाणी के स्वामी, गोस्वामी बनने की बात तो जाने दो, मात्र देवलकता के कीचड़ के गड्ढे में पड़े हुए भैंसो में से, कोई बछड़ा बनने के लिए भी बाहर आना चाहता हो तो उसको यह दूसरी कम्पनी बाहर आने नहीं देती।

इस तरह आज पुष्टिमार्ग में कम्पनी तो दो हैं : एक रेडिमेड धर्म की भैंसबुद्धि विक्रेताओं की और दूसरी ऐसे विक्रेताओं को पाल-पोस कर सहलाकर पालने वाले रेडिमेड धर्म के ग्राहकों की!

पुष्टि मार्ग की इस नयी विकृत प्रणालिका के पक्षपाती प्रवचनकार निषेध कोटि में प्रयुक्त द्विवचन ---- "उक्त सेवा साधने इतरे इत्याहु: - 'तद्' इति" (सि. मु. वि. 2) पर भार देते हैं, परंतु "एतादृश्यौ ते तत्साधिके न इति अभिप्रायज्ञापकं समस्तं पदम्" (सि. मु. वि. 2) में प्रयुक्त, 'एकवचन' के समक्ष आँख मूंद लेना चाहते हैं।

इस संबंध में उल्लेखनीय है कि, प्रथम/3 गृह, मुम्बई (श्रीलालजी) के श्रीनृसिंहलाल जी (वि. सं. 1902). भी सिद्धान्त मुक्तावली की ब्रजभाषा टीका में स्पष्टता करते हैं --

यहाँ 'तनुजावित्तजा' ऐसे भिन्न - भिन्न पद नहीं कह्यो हे, 'तनु-वित्त-जा' ऐसे समस्त पद कह्यो हे, ताको अभिप्राय ऐसो जो अन्य को मूल्य रूप धन देके सेवा करावे तो ' वित्तजा' सेवा भई, परंतु ता करिके राजस आय जाय, सो मानसी सेवा सिद्ध न होय। और मूल्य रूप धन लेके जो शरीर सूं सेवा करे सो तनुजा सेवा भई, परंतु सोहू मानसी सेवा को सिद्ध न करे। जेसे यज्ञ में जितने ब्राह्मणन को वरण होय तिनको यज्ञ को फल नाहीं होय है, ऐसे ही मूल्य लेके सेवा करे ताको तनुजा सेवा को फल सिद्ध न होय। तासों भगवान् में निष्काम स्नेह होय ओर शरीरसूं और धनसूं संग ही जो सेवा करे ताको मानसी सिद्ध होय। (सि.मु.व्र.भा.टीका 2)

यदि श्यामुबाबा एण्ड कम्पनी का ही श्रीमहाप्रभु के सिद्धांत वचन कहने का ठेका होता तो, किसलिए श्रीनृसिंहलालजी महाराज ने सौ वर्ष पूर्व यह टीका लिखी होती?

---

4. इस संबंध में पुष्टिसिद्धान्त चर्चा सभा पारले - मुम्बई - जनवरी 10-13-92 में व्यापारिक जाहिर मंदिरों की विकृत प्रणालिका के समर्थकों के प्रतिनिधि - वकील के रूप में भाग लेने वाले चि. हरिराय जी द्वारा की गई प्रस्तुति को ''पुष्टिसिद्धान्त संरक्षण शिरोमणि'' के रूप में नवाजने के फलस्वरूप माथे पर पड़ी जिम्मेवारी से छटकने के लिए लिखे गये 'विमर्श' ग्रन्थ में जो कुछ भी अधिक निरूपण या उपपत्ति जारी करने में आयी है, उसका निराकरण मैंने 'विशोधनिका भाग 1-2 में किया ही है - गो.श्याम)

सिद्धान्त कहने का ठेका श्यामुबाबा एण्ड कम्पनी का ही होता तो श्री नृसिंहलाल जी महाराज किस तरह ये विधान कर पाते -- ''लौकिक अर्थ की इच्छा राखि के जो भगवद्भजन में प्रवृत्त होय सो सर्वथा क्लेश पावे है। इतने कुछ लाभ के लिए पूजादि में प्रवृत्त होय सो तो 'पाखंडी' और 'देवलक' कह्यो जाय '' (सि. मु. व्र. भा. टीका) '' ओर पुष्टिमार्गीय साधन में मुख्य: सेवा, सो भजनानुकूल गृह में रहे बिना, होय सके नाहीं, तासूं मूल में गृह में रहिवेको कह्यो है। (भ.व.व्र.भ्रा.टीका)।

यदि श्यामुबाबा एण्ड कम्पनी ने ही श्रीमहाप्रभु के वचनों को समझने -- कहने का ठेका ले रखा होता तो 100 वर्ष पूर्व भूतल पर बिराजमान श्रीलालजी के घर के श्री नृसिंहलालजी गृह सेवा और तनुवित्तजा सेवा को स्वसिद्धान्त के रूप में कैसे प्रतिपादित कर पाते?

प्रथम/4 : अमरेली घर के श्रीपुरुषोत्तमजी के पुत्र श्रीवागीशलालजी उर्फ श्रीवागधीशलालजी महाराजश्री के समय में बड़ोदा राज्य के देवस्थान - विभाग और महाराजश्री के बीच ''अमरेली हवेली सार्वजनिक देवालय है या महाराज श्री का निजी घर'' इस संबंध में विवाद ई.सन् 1909 -10 में हुआ था। इस विवाद का निर्णय महाराजश्री के पक्ष में आया था। उसमें से उदधृत करने योग्य सटीक अवतरण यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ--

(1) प्रतिष्ठामयूख आदि ग्रन्थ मैंने देखे हैं, उसमें ऐसा लिखा है कि देव के लिए खास अलग प्रासाद (मंदिर) बने और देव के वर्ष - भर के खर्च जितनी अलग संपत्ति आये और उसमें देव का खर्च चले। वह संपत्ति ब्राह्मण से नहीं ली जाए, यदि ली जाती है तो वह सर्वकर्म से भ्रष्ट हो जाता है और 'देवलक' कहलाता है। (फिर छानबीन में) देव को कोई

भेंट आए तो महाराजश्री (पुष्टिमार्गीय गोस्वामी बालक) नहीं ले। वादी (वागधीशलालजी) के दादा अर्थात् पिता के पिता, श्रीविठ्ठलरायजी उर्फ विठ्ठलेशजी, मुम्बई में बिराजते थे, वे अच्छे विद्वान होने से मैं हमेशा उनके पास जाता था। उस समय एक वैष्णव आया ..उसने कहा कि मेरे पिता, आपके पिता लालमणिजी के सेवक थे, वे मरते समय मुझे 8000 रुपये (आठ हजार उस समय के, आज के समय के नहीं) आपके ठाकुरजी के नेग के लिए निकाल कर आपको देने के लिए कह गये हैं, अतः आप स्वीकार करो। तब विठ्ठलेशजी ने जवाब दिया कि ठाकुर जी (अर्थात् उनके सेव्य स्वरूप - हाल मजीठिया नगर, कांदीवली में बिराजते ठाकुर जी) का और तुम्हारे पिता का या तुम्हारा कोई संबंध नहीं है। ठाकुर जी हमारे हैं, अतः हम ये नहीं रखेंगे। .. ता: 28-12-1910 शास्त्री छगनलाल अमरजी, द: स्वयं)

यह जबानी (साक्षी) तत्कालीन स्वमार्ग के प्रसिद्ध विद्वान शास्त्री छगनलालजी ने उक्त महाराजश्री के गवाह के रूप में गायकवाड़ राज्य के न्यायालय में दी थी। इससे मार्ग की चालू प्रणालिका कितनी प्राचीन है इसकी पोल खुल जाती है, इसके अतिरिक्त तत्कालीन समय में महाराजश्री स्वयं न्यायालय में उपस्थित नहीं होते थे अतः उनके कुलमुखत्यार (प्रतिनिधि) अमरेली वाले प. भ. श्रीजमनादास मोनजी कपोल महाजन द्वारा श्री महाराजश्री की ओर से दी गई जबानी तो सुवर्ण अक्षरों में चित्रित करके रखने जैसी है ---

(2) वादी (श्रीवागीशलालजी) को अमरेली के अलावा भी दूसरे गाँवों से नेग/दस्तूरी मिलती है। पालीतणा राज्य की ओर से महाराज को प्रतिजोत पर रुपया 1/= दिया जाता है। इस प्रकार प्रतिवर्ष रु. 492/=

पालीतणा के राजा से महाराज श्री को मिलते हैं। महाराजश्री स्वयं कभी पालीतणा राजा के निमंत्रण पर (वहाँ) पधारते हैं। वहाँ राजा भेंट धरते हैं। महीना - पन्द्रह दिन रखते हैं - मोटी रकम भेंट करते हैं --- (इसके बाद द्वारका, लुणकी, भावनगर, कोड़नार स्थानों की प्रजा या राजा की ओर से होती मोटी रकम की आमदनी का लेखा - जोखा है)। इस सभी तरह की भेंट और जोत (हासिल) की, मालिकी महाराजश्री की है। ठाकुरजी वादी के हैं। महाराज को जो आवक वैष्णवों आदि से होती है, उसमें से घर खर्च के रूप में, श्री ठाकुर जी का खर्च महाराज चलाते हैं। श्रीठाकुरजी के निमित्त स्थावर या जंगम अमुक मिल्कियत अलग निकालकर उसमें से महाराज खर्च नहीं चलाते। श्रीठाकुरजी के वैभव का, भोग का, आभूषण - वस्त्र आदि का खर्च महाराज करते हैं। स्वयं की आमदनी से ही सब खर्च करते हैं। -- कोई भी वैष्णव तिबारी के अन्दर नहीं जा सकता। -- उसी प्रकार ठाकुर जी के चरणस्पर्श नहीं कर सकता, -- ना भेंट ही धर सकता है। महाराज के ठाकुरजी वे अपने को क्यों स्पर्श करने दें। महाराज के स्वयं के सेव्य ठाकुर, अतः दूसरों को स्पर्श नहीं करने देते -- महाराज को घर पधराकर या प्रसंगवश महाराज के पास मंदिर में जाकर भेंट धर सकते हैं। ठाकुरजी के सन्मुख भेंट नहीं धर सकते। ठाकुरजी के सन्मुख महाराज (स्वयं) भेंट धरते हैं। जन्माष्टमी - पवित्रा एकादशी - दीवाली ऐसे उत्सव पर तथा महाराज परदेश पधारें या परदेश से वापस लौटते हैं तब ठाकुरजी को भेंट करते हैं। वह भेंट ठाकुरजी के नाम पर जमा होती है और महाराज जब श्रीनाथद्वारा पधारते हैं तब उस रकम के आभूषण बनवाकर ले जाते हैं। या तो नगद रुपये देते हैं - या वस्त्र बनवाते हैं। श्रीनाथजी स्वयं ही अपनी भेंट लेते हैं और खुद

की मिल्कियत ही धारण करते हैं और वह 'देव मंदिर' कहलाता है, अत: ठाकुर जी की भेंट देव मंदिर में ही देनी पड़ती है, महाराज द्वारा उक्त भेंट का उपयोग नहीं किया जा सकता -- ता.3/1/11 : जमनादासजी मोनजी (द: स्वयं)।

श्रीनाथजी के सेवास्थल को जो 'देव मंदिर' यहाँ कहा गया है, उसका भी खुलासा स्वसम्प्रदाय के तत्कालीन, अग्रणी वैष्णव, वैष्णव परिषद् के वाइस प्रेसीडेन्ट, पालीताणा राज्य के मुख्यमंत्री, प. भ. श्री रणछोड़दास पटवारी, बीएएलएलबी. की साक्षी में मिल जाता है -

(3) हवेली में बिराजते ठाकुरजी महाराजश्री के (Family God) तरीके गिने जाते हैं और निजी गृहस्थ की हवेली हो तो कुटुंब के ठाकुरजी कहे जाते हैं --- इस सम्प्रदाय के महाराज गृहस्थाश्रमी होते हैं। उत्तराधिकार के जो नियम साधारण हिन्दुओं में होते हैं, उसी तरह इनमें भी हैं। उत्तराधिकार में ठाकुरजी भी मिल्कियत के समान आते हैं। ठाकुर जी पर से महाराजों का हक वैष्णव कभी भी किसी भी स्थिति में छीन नहीं सकते, क्योंकि वंश परम्परा से हक प्राप्त हुआ है --- हवेली को हम घर ही मानते हैं। निजी गृहस्थ का घर छोटा होता है, महाराज का बड़ा घर या हवेली होती है। (सेवा में) कमी पूर्ति हेतु सेवकों से भेंट नहीं ली जाती, सेवक की मरजी पर है। भेंट लेना और देना, यह एक दूसरे की (स्वसिद्धान्त को नहीं पालने की) मरजी पर है। (महाराज) भेंट मांगे तो भी वैष्णव कह सकते हैं कि आपका मंदिर है, अत: आप ही पूर्ति करो। सेवकों पर बंधन नहीं है। महाराज को बड़ा मन रखकर स्वयं की अन्य आमदनी में से ही ठाकुरजी का खर्च पूर्ण करना चाहिए। पुष्टिमार्ग में सार्वजनकि देवल (मंदिर) है ही नहीं। श्रीनाथजी का मंदिर -

'सार्वजनिक' नहीं कहलाता, इसलिए नहीं कि सभी लोगों का उसमें हक है तो सार्वजनिक नहीं कहा जा सकता बल्कि श्रीगुसांईजी के सात लालजी के वंशजों का इसमें हक है, अत: इन सात घर के वंशजों का है, और इसीलिए, श्रीनाथजी को टीकायत महाराज के (Family God) की तरह नहीं गिना जाता। (श्री नवनीतप्रियाजी, जबकि, टीकायतजी के (Family God) हैं। तारीख : 17/4/11 - आर.वी.पटवारी।

इन सभी गवाहियों के शब्द, सन्दर्भ का खुलासा करने के लिए मैंने प्रस्तुत किये हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो - हर एक ब्रह्मसंबंधी, गोस्वामी या वैष्णव के स्वयं के घर में - स्वयं के द्रव्य से, स्वयं के पारिवारिक जनों के सहयोग से सेव्य अलग-अलग ठाकुर जी होने चाहिए। भगवत्सेवा किसी की भी नौकरी या धन्धा नहीं बन सकती और उसके बिना जाहिर मंदिर नहीं चल सकते। श्रीनाथजी -- जो कि किसी भी एक गोस्वामी के निजी ठाकुर जी नहीं थे, फिर भी सभी गोस्वामी बालकों के अविभक्त स्वत्व वाले एक सेव्यस्वरूप हैं। इसलिए देवमंदिर की मर्यादा में बिराजते होने पर भी स्वसिद्धान्त और स्वमार्गीय सच्ची प्रणालिकानुसार, वह मंदिर भी आखिर सार्वजनिक मंदिर न होकर Hindu Undivided Family का देव मंदिर था।

अलबत्ता ये सभी गवाहियां साक्षी देती हैं कि विकृत प्रणालिका अपने मार्ग में पांव फैला रही थी तब भी सावधानी से उसकी निंदा करने वाले लोग थे ही! आज परंतु -- इससे सिद्ध होता है कि श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धान्तों का बलिदान खोटी विकृत प्रणालिका की बलिवेदी पर चढ़ाने का ठेका, कुछ लोगों ने अवश्य लिया है। अत: खोटी प्रणालिका के नाम पर श्रीमहाप्रभु के सिद्धान्तों के बलिदान का विरोध करने पर उन ठेकेदारों की कमाई की कामना अपूर्ण रह जाने का भय उनको सताता रहता है।

दूसरे कई लोग कहते हैं कि – "श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धान्त प्रत्येक पुष्टिमार्गीय को सम्पूर्णतया मानने चाहिये और हमें भी मान्य हैं, परंतु श्यामुबाबा जिस तरह इनका अर्थ घटन करते हैं वह हमको मान्य नहीं है।"

इस स्थिति में मुझे एक खुलासा करना है कि मैं व्याख्या करने से पहले उन – उन वचनों का अनुवाद प्रस्तुत करता रहता हूँ उसी प्रकार इन महानुभावों को भी उल्लिखित वचनों का शुद्ध अनुवाद प्रस्तुत कर स्वयं की अभिप्रेत व्याख्या क्या है, वह प्रकाशित करनी चाहिए। वरना स्वयं की व्याख्या अलग है तो वचनों के अनुवाद के साथ स्वयं की व्याख्या को प्रकट करने में इनको किस का भय सता रहा है, उसका स्पष्टीकरण करना चाहिए।

क्या किसी कानूनी, सामाजिक या आर्थिक अड़चन के कारण प्रकट नहीं कर सकते? तो उसका उपाय सिद्धान्त की सच्ची व्याख्या को छुपाने से नहीं निकलेगा। अलबत्ता शुद्ध हृदय से सच्ची व्याख्या को प्रकट करके स्वयं की कानूनी, सामाजिक या आर्थिक विवशता को स्वीकार लेने से उसका उपाय शायद निकल भी सकता है। अर्थात् कानूनी दांवपेच तथा सामाजिक या आर्थिक अड़चन को दूर करने का भी उपाय मिल सकता है।

जिनके मंदिर ट्रस्ट में दो चार ट्रस्टी जनता में से घुस जाते हैं, (वहाँ) जैसे बिल्ली से चूहा डरता है, उसी तरह ट्रस्टियों से वे डर जाते हैं इससे विपरीत चौबीस गाँवों के ट्रस्टियों की समिति को सच्चे सिद्धान्त समझाकर हाल ही में, चतुर्थ गृहाधिपति गोस्वामी श्रीसुरेशबाबा (गोकुल) ने बहुत सारी अपसिद्धान्तजन्य विकृतियों को गोकुल में और

गुजरात के भी अनेक गाँवों में सुधारा भी है। निःसंदेह उन्होंने जैसा सिद्धान्तशुद्ध सुधार प्रस्तुत किया है, वह पुष्टिमार्ग के इतिहास में स्वर्ण अक्षरों में लिखने जैसा पराक्रम है! श्रीगोकुलनाथ जी के कृपाबल से चतुर्थ सृष्टि में स्वसिद्धान्त के पुनरंकुरित होने का संकेत अब मिलने लगा है। श्रीमहाप्रभु उनको इस संघर्ष में सम्पूर्ण सानुकूलता प्रदान करें!

अतः वस्तुतः तो प्रत्येक पुष्टिमार्गीय की कृति श्रीमहाप्रभु – श्रीप्रभुचरण आदि पूर्वाचार्यों के मत और उपदेश के अनुसार ही होनी चाहिए, परंतु जब पुष्टिमार्गीय स्वयं ही श्रीमहाप्रभु के उपदेश को सीधे या आड़े – तिरछे रूप में चुनौती देने पर उतर आते हैं, तब कलह अनिवार्य बन जाती है। इसके बावजूद भी हम तो शांतिपूर्ण असहयोगात्मक कलह ही करना चाहते हैं। इसलिए कहते रहते हैं कि व्यापारिक नित्य – सेवा, द्रव्यार्थ की जाती मनोरथों की झांकि .ाँ, अर्थोपार्जनार्थ भागवत कथाओं में शारीरिक – आर्थिक या अन्य किसी भी प्रकार से सहयोग नहीं करना चाहिए। यह शांतिपूर्ण लड़ाई किये बिना पुष्टिमार्ग के हितशत्रुओं द्वारा रचित षड्यन्त्र के शिकार बने लोगों की आँखें खुलेंगी ही नहीं। यदि एकबार अमुक प्रतिशत में भी श्रीमहाप्रभु के दिव्य सिद्धान्तों को फिर से जन मान्यता मिल जायेगी तो महाप्रभु जी के सिद्धान्त की पताका, शायद दूसरे किसी व्यक्ति के बजाय, ऐसे जनमान्य रहना चाहने वाले व्यक्ति ही अधिक से अधिक फहराने लग जायेंगे! क्योंकि जिनको जनमान्यता का महत्व सिद्धान्तों की तुलना में अधिक लगता है, वे सिद्धान्त को जनमान्यता मिलने पर अधिक कट्टर सिद्धान्तवादी बन जायेंगे। इससे सिद्ध होता है कि हमारा विरोध किसी बालक के साथ नहीं ही है अपितु गोस्वामी बालकों को अधर्म और अज्ञान के गड्ढे में कैद रखने के निष्ठुर षड्यन्त्र के प्रति सख्त विरोध है। ये षड्यन्त्र स्वमार्ग के हितशत्रुओं द्वारा 150-200

वर्ष पूर्व रचे गये थे और इसमें आज हम पूरी तरह से फंस गये हैं।

इसलिए हम स्पष्ट रूप से कहना चाहते हैं कि प्रत्येक गाँव में पुष्टिमार्गीय वैष्णवों में स्वतनुवित्तजा सेवा को स्वगृह में करने का सिद्धान्तशुद्ध धर्माग्रह पुनः जाग्रत करना चाहिए। जो सिद्धान्त प्रकार से अपने घर में स्वयं भगवत्सेवा करने में समर्थ न हों उनके लिए कहीं एकत्र होकर सत्संग कर सकें अर्थात् स्वसिद्धान्त, भगवन्नाम और भगवल्लीला का अनुसंधान कर सकें ऐसे सत्संग भवनों की कतार खड़ी करनी चाहिए। इसमें व्यावसायिक प्रवृत्ति से सत्संग करने वाले न घुस जाएं, ऐसा अंकुश उस पर रखना चाहिए। सार्वजनिक मंदिर पब्लिक ट्रस्ट बन जाने से कानूनी तरीके से, तुरन्त बंद न हो सकते हों तो, धीमे -धीमे लोगों को स्वसिद्धान्त के शुद्ध उपदेश द्वारा इस विकृति को प्रोत्साहित होने से रोकना चाहिए। ऐसा करने से स्वतः ही यह विकृति अपने मार्ग में शून्यवत् होकर अपने मार्ग को निष्कलंक बना देगी।

प्रश्न (9=10 का अवशिष्टांश)

(9/क) दूसरा मंदिर बनाने की बात गैरवाजिब हो सकती है, परंतु गाँव में तो एक भी मंदिर नहीं है, यह अपना दुर्भाग्य नहीं है?

(9/ख) उमरेठ - फलौदी आदि गाँवों में उन गाँवों के बाबाश्रीओं ने उन - उन मंदिरों के लिए स्वरूप पुष्ट करके पधराये हैं।

उत्तर (9=10)

(9/क) सार्वजनिक मंदिर पुष्टिमार्गीय भावनाओं के लिए मृत्युघंट समान होते हैं। किसी भी गाँव में, अतः पुष्टिमार्गीय भावनाओं का एक भी मृत्युघंट नहीं बजना चाहिए। अतएव जिस गाँव में एक से अधिक सार्वजनिक पुष्टिमार्गीय मंदिर हैं उसकी भयंकरता का तो ख्याल आते ही प्रत्येक पुष्टिजीव को कंपकंपी छूटनी चाहिए। इसलिए जिस गाँव में

मृत्युघंट नहीं बज रहा, उस गाँव के वैष्णवों का ऐसा दुर्भाग्य कदापि भविष्य में न हो, ऐसी शुभेच्छाएँ। भले फिर वह हिम्मत नगर हो या नाहिम्मतनगर हो।

(9/ख) सार्वजनिक मंदिर पुष्टि भावनाओं की मृत्यु का एलान करने वाले मृत्युघंट समान हैं। उमेठ या फलौदी नगर में पहले यह मृत्युघंट नहीं बजते थे या जीर्ण-शीर्ण रूप में बजते थे, उनको पुनः नये सिरे से बजाने का सिद्धान्तशुद्ध हेतु क्या हो सकता है यह तो बजाने वालों के समक्ष श्रीमहाप्रभु के वचनों की प्रस्तुति करके समझाने का प्रयास करना चाहिए। अपने को तो मृत्युघंट के निःशब्द होने की शुभेच्छा करने का ही मात्र अधिकार है।

प्रश्न - (10=11+12 का सारांश)

प्रश्न - (10/क) सत्संग अर्थात् श्री ठाकुर जी में मन पिरोने का प्रयास, परंतु प्रवण हुए मन से श्रीठाकुरजी के सन्मुख कीर्तन गाना रुचे, तब यह आवश्यकता सत्संग-हाल से पूरी नहीं होती?

प्रश्न - (10/ख) मंदिर बहती गंगा सम पवित्र हैं। उनमें लोगों को गंदगी डालने से रोकना चाहिए परंतु उससे गंगा की वंदनीयता या प्रवाह का विरोध योग्य नहीं कहा जा सकता है।

उत्तर - (10=11+12)

(10/क) सन्मुख कीर्तन में जो आनन्द मिलता है, वह तो एक हकीकत है, पर स्वयं के घर में बिराजमान श्रीठाकुरजी के सन्मुख - मधुर स्वरों में कीर्तन गाने का दिव्य आनन्द और जाहिर मंदिरो में होते झांझिया की शोरगुल की रस्साकशी में मिलते विकृत आनन्द की तुलना करनी हो तो इतना ही कहा जा सकता है कि प्रसव की पीड़ा को वंध्या क्या जाने ''वंध्या शुं जाणे प्रसवनी पीड़ा।''

(10/ख) मंदिर यदि बहती गंगा होते तो कोई कारण नहीं है कि मंदिरों से जुड़े हुए लोगों में भक्तिभाव बढ़ने के बजाय जगह - जगह सेवा, झांकी और प्रसाद के वित्तीय भाव-ताव की विकृतियाँ पनप सकी होतीं। जो हास्पिटल डॉक्टर को ही बीमार कर देता हो उसमें मरीज स्वस्थ होंगे, यह कल्पना कैसे सम्भव है हकीकत में तो भगवन्नाम या भगवल्लीला या व्यापारिक या द्रव्योपार्जनार्थ उपयोग करने वालों की तुलना - श्रीमहाप्रभुजी ने तो गटर के गंदगी भरे गड्ढे के साथ की है - "जलार्थमेव गर्तास्तु नीचाः गानोपजीविनः (जलभेद)"। जो इतनी घिन आपश्री को भगवन्नाम या भगवल्लीला के द्रव्योपार्जनार्थ उपयोग करने की बाबत है तो साक्षात् भगवत्स्वरूप की नित्यसेवा या मनोरथों की झांकियों अथवा प्रसाद के क्रय - विक्रय करने वाली प्रणालिकाओं के लिए तो 'गंगा' पद वापरना भी श्री गंगाजी का अनादर लगता है। जो स्वयं गंदी नाली हो उसमें किसी को गंदगी डालने पर रोकटोक की जाती हो या नहीं पर इससे गंदी नाली की अपवित्रता में कोई अंतर नहीं आता। फिर भी यदि शहर में नगरपालिका का सुधार-विभाग व्यवस्थित हो तो वहाँ गंदी नाली की भी व्यवस्था सुचारू हो सकती है। इसीलिए मेरा एक अभिप्राय वर्षों से रहा है और रहेगा कि हम पुष्टिमार्गीय पुष्टिप्रभु की सेवा को स्वधर्म तरीके तो अच्छी तरह से नहीं निभा सके। अपनी बुद्धि की परंतु यह एक ऐतिहासिक विडंबना है कि धुंआधार व्यावसायिक उपयोग करने के पश्चात् भी, परलोक को जाने दो, इस लोक को सुधारने में भी हम सफल नहीं हो सके।

जिंसको 'कमर्शियल डीसेंसी' कहा जाता है, वह भी हंम सहेज कर नहीं रख सके। प्रसाद खिलानेवाले सुन्दर - सुन्दर 'लग्जरी' रेस्टोरेंट

प्रश्न(11=13 का सारांश)

मंदिर के अभाव में दर्शन सुख से वंचित रहते हैं, उनका सूरदास जी जैसी उच्च कक्षा की भक्ति प्राप्त हुए बिना आधिदैविक विकास कैसे संभव होगा।

उत्तर -(11=13)

सिद्धान्त विरुद्ध प्रकार से जाहिर मंदिर में की जाती भक्ति त के ढोंग से उच्च कक्षा की भक्ति त सिद्ध नहीं हो सकती।

यदि होती हो तो -- श्रीमहाप्रभु के सिद्धान्त ही झूठे या अप्रामाणिक सिद्ध होंगे।

प्रश्न (12=14 का सारांश)

12 धर्मप्रचार के मूलस्त्रोत मंदिरों की रक्षा पूर्वजों ने प्राण देकर भी की थी। आज जबकि मंदिर नष्ट होने का जरा भी भय नहीं रहा, तब मंदिरविरोधी मनोवृत्ति किस प्रकार योग्य कही जा सकती है?

उत्तर(12=14)

मर्यादा मार्ग में, सम्भवतः हिन्दूमंदिर धर्म प्रचार के स्त्रोत हो सकते हैं। सार्वजनिक मंदिर, परन्तु, पुष्टिमार्ग में तो धर्मह्रास के ही केवल हेतु बने हैं, अतः इन्हें समाप्त नहीं किया गया तो सार्वजनिक मंदिर पुष्टिधर्म का समूल नाश एक दिन कर ही देंगे, इसमें दो मत हो ही नहीं सकते।

पूर्वजों द्वारा प्राण देकर भी मंदिरों की रक्षा करने का इतिहास अपने मर्यादामार्गीय भाइयों के पूर्वजों के सन्दर्भ में एक सच्ची और गौरवास्पद हकीकत है।

इस प्राणाहुति के पीछे अपने मार्यादामार्गीय बन्धुओं के पूर्वजों की शास्त्रीय अथवा सैद्धान्तिक विवशता थी, जिसका खयाल आज

किसको है? तंत्र - पुराण और शास्त्रों के अनुसार, 'चलप्रतिष्ठा और अचलप्रतिष्ठा' के भेद से, किसी मंदिर में यदि देवमूर्ति की अचलप्रतिष्ठा की गई हो अर्थात् नित्य आवाहन - विसर्जन रहित प्रतिष्ठा की गई हो तो ऐसी मूर्ति का स्थलान्तरण शास्त्रानुमोदित नहीं था, इसलिए कहने में आता था कि, ''अस्थानस्थापिता काचित् स्वस्थानपरिभ्रंशिता। देवताद्वय - कोपेन राष्ट्रमेव विनश्यति।

इसलिए प्राणों की आहुति देकर मंदिरों की रक्षा किये बिना कोई विकल्प ही नहीं था। इससे विपरीत पुष्टिमार्ग के इतिहास का किंचित भी ज्ञान रखने वाले व्यक्ति से यह हकीकत ओझल नहीं हो सकती कि हमने अपने तथाकथित मंदिर या सेवास्थल के बजाय स्वरूप की ही महत्ता सबसे अधिक स्वीकारी थी। इसलिए जब भी कोई भयजनक स्थिति उत्पन्न होती तो स्वयं के धार्मिक हक या साहस का लेशमात्र भी दुराग्रह रखे बिना, सेव्यस्वरूप की सुरक्षा के आग्रह को ही सर्वोपरि प्रमुखता देते हुए, अपने पूर्वजों ने स्थलान्तरण कर लिया था। इसीलिए सिद्धान्त मुक्तावली में कहा गया है कि ''पुष्टिमार्गीये विशेषमाहुः 'अनुग्रह' इति। तस्य स्थितौ न देशनियमः किन्तु प्रभुः अनुग्रह्य यत्रैव स्थापयति तत्रैव तिष्ठति'' (श्री प्रभुचरणकृत सि. मु. वि. 18)। इसी के परिणामस्वरूप ओरंगजेब की तोप या तलवार अपना कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकी। सभी पुष्टिस्वरूप जब तब स्थलान्तरण करते ही हैं। कभी भी किसी पुष्टिमार्गीय द्वारा किसी मंदिर के लिए प्राणोत्सर्ग करने के इतिहास की जानकारी, कम से कम मुझे तो मिली नहीं; आज जतिपुरा की श्रीनाथजी की हवेली के अपवाद को छोड़कर। आज भी सचमुच में ऐसी भयंकर स्थिति प्रवर्तित नहीं हो रही है, बावजूद इसके अमुक-अमुक पुष्टिस्वरूपों की सेवा करने वाले तथा कथित गोस्वामी परिवार के हक कागजी

कार्यवाही के कारण निरस्त हो गये हैं! यह कैसी विडंबना है? शांतचित्त से विचार करें तो इसके कारणों को पहचानने में देर नहीं लगेगी कि अपने सम्प्रदाय में पुष्टिस्वरूप की सर्वोपरि प्रमुखता की जगह शानोशौकत वाली नेग-भोग-राग-शृंगार के मिथ्या आडंबरवाली सार्वजनिक मंदिरों की प्रणालिका को सर्वोपरि प्रमुखता देने में आयी है। स्वरूपासक्ति से पुष्टिजीवों को वंचित करने वाली इस जाहिर मंदिरप्रणाली को एक नहीं - अनेकानेक धिक्कार है।

स्वरूपासक्ति से रहित होकर पुष्टिमार्ग में भगवत्सेवा तो 'मम माता वंध्या' जैसा विरोधाभास है। सच्ची स्वरूपासक्ति स्वगृहस्थित पुष्टिस्वरूप में ही संभव है, अन्यत्र नहीं। इससे विपरीत आज हम गोस्वामी महाराज जाहिर मंदिरों में धर्मार्थी जनता की धनराशि और धर्मराशि को भगवत्सवरूप तक पहुँचाने वाले केवल कंड्यूइट पाइप बन गये हैं। कोर्ट अब अपने सिद्धान्त सुनने या विचारने को तैयार नहीं है। सुप्रीम कोर्ट तीन-तीन फैसले अपने सिद्धान्तों से विरुद्ध दे चुका है। फिर भी कई लोग कहते हैं कि "सिद्धान्त सम्भवत: सच्चे भी हों, तो भी सिद्धान्तों को अमल में लाने का श्यामुबाबा का दुराग्रह, पुष्टिमार्ग के इतिहास में नादिरशाही चलाने का एक प्रकार है"। स्वयं की जमीन, मकान या फैक्टरी यदि इस तरह सरकार हजम करती होती तो, इनको बचाने के उपाय तत्काल क्या ये लोग नहीं करते? परंतु महाराजश्री के ठाकुरजी, गृहसंपत्ति पर स्वयं का हुकुम चलाने की चतुराई के कारण सिद्धान्तों को अमल में लाने को ये लोग नादिरशाही तरीके प्रचारित करना चाहते हैं।

कुछ वर्ष पूर्व की एक घटना का स्मरण होता है। पुष्टिमार्गीय हवेलियों के ट्रस्टी बनने के शौकीन एक वैष्णव भाई के घर बिराजमान

सेव्यस्वरूप का, बाप - दादाओं के समय का प्रचुर वैभव था। उन भाइयों के बीच में किसी पारिवारिक कारण से मनोमालिन्य पैदा हो गया। तब एक भाई ने दूसरे भाई को नोटिस दिया कि या तो इस संपत्ति का विभाजन होना चाहिए या दोनों में से कोई भी यह सम्पत्ति न रखे और इसका ट्रस्ट बनना चाहिए। तब ट्रस्टी बनने का शौकीन वह भाई मेरे पास आया और बोला - "आप ऐसे सिद्धान्तवचन ढूँढ़ कर बताओ कि जिससे हमारे ठाकुरजी की सम्पत्ति का विभाजन या ट्रस्ट दोनों ही को गैरकानूनी ठहराया जा सके"। पराई सम्पत्ति का ट्रस्टी बनना बहुत आसान है पर स्वयं की सम्पत्ति ट्रस्ट में फंसती हो तो ट्रस्टी बनने के शौकीन भी सिद्धान्तवचन ढूँढ़ने को छटपटाते लगते हैं। इसीलिए तो हाथी के खाने के और दिखाने के दांत अलग - अलग होते हैं। ऐसे ही ठाकुरजी के संबंध में भी अपने मार्ग के धनिक वैष्णवों के हृदय में बालकों के ठाकुर जी और स्वयं के ठाकुर जी के संबंध में दो तरह की मान्यताएँ उभरती हैं; गोस्वामी बालकों के ठाकुरजी अर्थात् पब्लिक ट्रस्ट के ठाकुरजी, और स्वयं के अर्थात् - तुम्हारा - हमारा दोनों का साझा, और, मेरा मेरे बाप का। कारण एक ही है कि कितने ही गोस्वामी बालक वैष्णवों से सेवा मनोरथ के नाम से पैसे मांगते हैं, अर्थात् धनिक शुरूआत में दानवीर, प. भ. (परम भगवदीय) बनकर अन्त में शूरवीर ट्रस्टी बन जाते हैं। महाराज स्वयं - स्वयं के घर में - स्वयं के सेवकों के सेवक बन जाते हैं। भक्तिमार्गीय दैन्य के कारण दासानुदास नहीं, अपितु भीतिमार्गीय क्षुद्र स्वार्थवश बन जाते हैं ट्रस्टियों के दासानुदास।

गोस्वामी बालकों की भी एक विडंबना होती है कि वे अपने ट्रस्ट में इस मार्ग की गुरुगादी के प्रति अखंड निश्चल श्रद्धा रखने वाले साधारण वैष्णवों को कभी ट्रस्टी बनाते नहीं हैं। श्रद्धा और आदर से विहीन, धनिक

व्यापारी वैष्णवों (?) को ही ट्रस्टी बनने के योग्य माना जाता है। क्योंकि अंदर से बालकों की भी मंदिर के नाम से धंधा ही चलाने की मनोवृत्ति प्रबल होती है। इसलिए वे धनिक तो क्षमा के पात्र हैं। उनकी धर्माचरण की या धर्म जानने की चाह इतनी तीव्र नहीं होती, जितनी कि बिकती हुई प्रत्येक वस्तु को खरीदकर पाकेट हल्की कर लेने की जबरदस्त खुमारी होती है। अर्थात् वे स्वभाव से लाचार होते हैं।

प्रश्न (13=15) अरब (दुबई) भूमि में पुष्टिमार्गीय वैष्णव मंदिर बने हैं। ऐसे भयप्रद देश में मंदिर बनाकर वैष्णवों ने और पुष्ट करके ठाकुरजी पधरानेवाले गोस्वामी बालकों ने गलत किया है, अब तो इंगलैंड, अमेरिका में भी अपने मंदिर बने हैं।

उत्तर (13=15) विदेशों में बसने वाले पुष्टिमार्गीयों के लिए निर्मित सार्वजनिक मंदिर के बारे में पू.पा.विदुषी सु.श्री इन्दराबेटीजी ने स्वयं के पुष्टस्वरूप को :-

''सात सागर श्रीजी दोट मूकी आवजो।
साथ श्रीयमुनाजी अने श्री वल्लभ प्रभु ने लावजो॥
गोप गोपीजन अने श्रीराधिकाने लावजो।
गोलोक गोकुलनी लीला बधी अहीं स्थापजो॥
वैष्णवजनों ना चित्तमां भक्ति दृढ़ाश्रय स्थापजो।
प्रतिबन्धक तन्तुओं बचला सहुना कापजो॥''

('ब्रजरेणु' यू.एस.ए.21 से साभार)

इस तरह विनती करके पधराने के समाचार मैंने पढ़े तब मुझे दुविधा होती थी। सात समुद्र पार जाहेर मंदिर में बिराजने वाले श्रीजी को गोप - गोपीजन - श्रीराधिकाजी - श्रीयमुनाजी - श्रीवल्लभ प्रभु मिलेंगे नहीं तो, लायेंगे किस तरह? गोकुल में तो प्रभु शुद्ध-शुद्ध पुष्टिभावात्मक

होते हैं ; जबकि जाहिर मंदिर में बिराजमान श्रीजी तो व्यावसायिक भावात्मक होते हैं। (अत्र मूलनामोक्तिः भजनकर्तुः अभिप्रायेण अन्यथा तदसंभवात्'' श्री प्रभुचरणकृत सि.मु.वि.16) अतः प्रतिबंधक कारक तन्तुओं को काटकर, वैष्णवों के चित्त में भक्ति दृढ़ाश्रय, ऐसे प्रभु स्थापित ही कैसे कर सकते हैं? मेरी इस उलझन का समाधान हाल ही में 'वैष्णव परिवार' मासिक में प्रकाशित हुए पू.पा.बेटीजी के वक्तव्य से मिल गया है। वह अक्षरशः उद्धृत कर रहा हूँ।

''श्रीमहाप्रभु ने अलग-अलग मंदिरों की प्रणालिका खड़ी ही नहीं की थी, पर इसमें जगद्गुरूश्रीवल्लभाचार्यजी का एक दीर्घ दृष्टिकोण था - प्रत्येक वैष्णव का घर नन्दालय बनना चाहिए, प्रत्येक वैष्णव के घर में ऐसा आनन्द आना चाहिए, जैसा गोपियों को अपने-अपने घर में आता था। पर आज क्या हो गया है? हमने अपने ठाकुरजी को एक तरफ फेंक दिया है। जिस आनन्द की अनुभूति इस स्वरूप सें करनी चाहिए, वह करते नहीं।

मैं कुछेक वैष्णवों का उदाहरण आपको दूं। एक मंदिर के पास एक बहन रहती है, इसके यहाँ ठाकुरजी बिराजते हैं। मंदिर की आरती के (मेरे शब्दों में पुष्टिभावों की मृत्यु के) घंटे इसके यहाँ सुनाई देते हैं। सेवा करने बैठी हुई यह बहन ठाकुरजी के वस्त्र निकाल कर स्नान करा रही थी, तभी आरती के (मेरे शब्दों में पुष्टिभावों की मृत्यु के) घंटे बजे और वह बहन ठाकुरजी को ऐसे ही छोड़कर मंदिर दौड़ी, कुछ देर बाद घर आयी। अब विचार करो कि इस प्रकार कोई सेवा करता है तो इसमें क्या सेवा का आनन्द आ सकता है? यहाँ तो प्रत्येक वैष्णव का घर नन्दालय है। और इस तरह अंतर में जागृति हो तो प्रत्येक वैष्णव के घर में श्री महाप्रभु जी की कानी से और कृपा से पूर्ण पुरुषोत्तम का अनुभव हो सकता है।'' (वैष्णव परिवार अंक जून, 1990 पृष्ठ 25)।

मैं मुक्त हृदय से आज बेटीजी की पुष्टिजीवों और प्रवाही जीवों को पृथक – पृथक परख सकने की विलक्षण आंतरिक शक्ति से अतिशय प्रभावित हुआ हूँ। वे देश जहाँ पर बेटीजी ने व्यावसायिक मंदिर खोले हैं, वहाँ या तो अधिकांश भाग में पुष्टिजीवों की न्यूनता होगी या फिर उनमें आसुरावेश बढ़ गया लगता है। अर्थात् प्रतिस्पर्धा में किसी न किसी तरह ब्रह्मसंबंध दीक्षा लेकर जो वहाँ के प्रवाही या आसुरावेशी पुष्टिजीव पुष्टिमार्ग में घुस गये हैं, उनके अनधिकार का गहरा विवेकरखकर पू.पा. बेटीजी ने स्वयं के द्वारा पुष्ट श्रीगोवर्धननाथजी को पधरा दिया होगा। इस तरह मेरी उलझन दूर होने के साथ – साथ पू.पा.बेटीजी की सात सागर पार कविता में रहा हुआ गूढ़ अभिप्राय अब कुछ – कुछ समझ में आने लगा है। पू. पा. बेटीजी ने कविता शायद अमेरिका में लिखी होगी परन्तु कवयित्री की भावभूमि में भारत ही बसा हुआ होने से वे श्रीजी को विनती कर रही हैं कि तनुवित्तजा सेवा खुदके घर में स्वीकारने के लिए सात सागर पार से दौड़ लगाकर श्रीजी पुन: भारत भूमि में आना। जो स्वयं के घर में भगवत्सेवा करने के अधिकारी नहीं हैं फिर भी पुष्टिभावनाओं की मृत्यु के घंटानाद से मोहित होकर जाहिर मंदिरों में दौड़ादौड़ ही मात्र करना चाहते हैं उनके हृदय में से ब्रज भक्तों, श्री राधिकाजी, श्री यमुना जी और श्री महाप्रभु जी को भारत में पधरा लाना। गोलोक-गोकुल की समस्त लीला का यहां भारतभूमि में ही स्थापना करना। वास्तव में पुष्टिजीवों, परन्तु आसुरावेश के कारण पुष्टिभावनाओं के मृत्युघंट से मोहित जीवों के लिए भी स्वयं की दयालुता दिखाते हुए पू.पा.बेटीजी इस कविता में प्रभु को विनती कर रही हैं कि वैष्णवजनो के चित्त में भक्ति दृढाश्रय स्थापजो (मेरे शब्दो में गृहसेवा के सिद्धांत शुद्ध आग्रह को तोड़नेवाले जाहिर मंदिरों के) प्रतिबन्ध कारक तंतुओं वचला सहूना कापजो।

वास्तव में तो श्रीपुरुषोत्तमजी के घर को शोभायमान करनेवाले, पू.पा.बेटीजी ने एक-एक कदम योग्य विवेक करके ही उठाया है। अत: अब मेर हृदय में से सभी उलझनें और भ्रान्तियां दूर हो गई हैं। श्रीमहाप्रभुजी पू.पा.बेटीजी को अपने मार्ग की योग्य, योग्यतर, योग्यतम सेवा करने का उत्तरोत्तर वृद्धिंगत होने वाला सामर्थ्य प्रदान करें।

एक भाई शंका कर रहे थे कि सहज संभव है कि ये उद्गार जाहिर मंदिर में स्वयं के पुष्टिस्वरूपों को पधरानेवाले पू.पा.बेटीजी के न होकर, 'वैष्णव परिवार' के किसी संपादक या प्रवचन की प्रेसकॉपी बनानेवाले किसी अजनबी व्यक्ति की अनधिकार चेष्टा भी हो सकती है। किसी भी परिस्थिति में जिस नाम से यह सिद्धांतशुद्ध शब्दावली छपी है वे श्रीमान् स्वयं ही स्वयं का अभिप्राय जाहिर न करें, तब तक ऊपर लिखित व्याख्या ही मेरी समझ में ठीक बैठती है। क्योंकि इतने उत्साह से पुष्टिमार्ग की सेवा में जीवन समर्पित करनेवाले पू.पा. बेटीजी स्वयं को ज़ो (बातें) पुष्टिमार्गाचार्यों के सिद्धान्तानुसार मान्य न हो ऐसी विपरीत कृति तो कर ही नहीं सकते।

जहाँ तक वहां स्थापित मंदिरों के पुष्टिमार्गीय वृत्तांत का प्रश्न है, इस सन्दर्भ में हाल ही हुए एक संवाद का उल्लेख किये बिना नहीं रहा जाता।

वहां अमेरिका में चलते जाहिर मंदिरों की व्यवस्था समिति के एक सज्जन मेरे पास आये। वे बता रहे थे कि अधिकांश में अमेरिका में बसे पुष्टिमार्गीय आठवलेजी के स्वाध्याय आंदोलन में फंस रहे हैं। इसलिए वे अपने तथाकथित पुष्टिमार्गीय मंदिरों के सभाभवन में स्वाध्याय चलाना चाहते थे। अब यदि उन स्वाध्यायी पुष्टिमार्गीयों को छूट दे दी जाए तो अपने केन्द्रों को ही वे हजम कर जायेंगे। अत: दूरदर्शिता रखते

हुए (उन केन्द्रों को) जन्मदिन, विवाह आदि लौकिक आयोजनों के लिए किराये पर देना शुरू किया है। इससे मंदिर को बिना खर्चे के आमदनी भी हो रही है और उन स्वाध्यायी वैष्णवों को 'ना' कहने का दु:खमय प्रसंग भी टल गया है।

ऐसी विचित्र बात सुनकर मैंने पूछा- पर यदि हम स्वयं, वहां अपने ग्रन्थों का स्वाध्याय सत्संग का कार्यक्रम रखते तो अधिक उत्तम नहीं होता? वे बोले - पुष्टिमार्ग में यह सब नहीं चलता (अर्थात छप्पनभोग के व्यावसायिक नाटक चलते हैं, पर स्वमार्गीय सिद्धान्तों का स्वाध्याय नहीं चलता)।

उन्होंने स्वयं मुझे बताया कि अपने ही पुष्टिमार्गीय वैष्णव जब स्वाध्याय हेतु एकत्रित होते हैं तब 'पिनड्रोप साइलेंस' हो जाता है, परंतु अपने मंदिरों में मनोरथ या उत्सव के दर्शन करने आते हैं तब गांव भर का प्रपंच-धमाचौकड़ी मचा देते हैं।

फिर, कुछ समय पूर्व ही वहां प्रवास करने वाले महाराजश्री के कार्यक्रम और उसमें प्राप्त सफलता की जानकारी के लिए मैंने पूछना शुरू किया। उसके अनुसंधान में वे भाई बोले - पू.पा. गोस्वामी श्रीरमेशकुमार महाराजश्री भी हमारे मंदिर में प्रवचन करने पधारे थे। तनुवित्तजा-गृहसेवा आदि की बातें उन्होंने मंदिर में किस हेतु से कीं, यह समझ में आया नहीं। सिद्धांत हो और कहना ही हो तो मंदिर के अतिरिक्त और कहीं कहना चाहिए था - मंदिर में सिद्धांत कहने से कितनी अधिक गैर-समझ लोगों में पनप गई! कुछ वैष्णव पूछने लगे कि इसमें सच्चा क्या है किन्तु मैंने समझा दिया कि यह तो महाराजश्रीओं का आपसी विवाद है, उसमें हमें उलझना नहीं। ऐसी कुछेक बाधाएं आती हैं पर अब मंदिर अच्छी तरह चलने लगा है। जो वैष्णव दर्शन करने आते हैं, वे सूखे मेवे

के 'पैकेट' इतनी अधिक मात्रा में लाते हैं कि सामग्री भी धर सकते नहीं। इसका क्या करना यह विचार करना पड़ता है।

मैंने कहा : मंदिर के साथ साथ सूखे मेवे की एक दुकान क्यों नहीं खोल लेते? वे बोले - ठाकुरजी को आई हुई भेंट सामग्री बेच सकते हैं? मैंने कहा - ठाकुरजी को स्वयं को बेचा जा सकता हो तो भेंट आये सूखे मेवे क्यों नहीं बेचे जा सकते। मेरे द्वारा किये गये उपहास की उपेक्षा करते हुए वे भाई बोले-आज नहीं तो कल यह नहीं तो कोई और उपाय ढूंढ़ना तो पड़ेगा ही।

मतलब कि भक्ति की फजीहत का यह दर्दनाक संक्रमण हम ने वहां फैला दिया है। इसीलिए पुष्टिभावनाओं की मृत्यु का ऐलान करने वाले मृत्युघंट के नाद अब वहां भी सुनाई दे रहे हैं।

अपनी ऐसी वैचारिक और भाविक नपुंसकता को देखकर मुझे सच में तीव्र आंतरिक पीड़ा होती है। अपने मार्ग के सिद्धांत के विरुद्ध आचरण का यह दुष्परिणाम है।

जैसे शास्त्रीय प्राचीन प्रणालिकानुसार वर्णाश्रमधर्मानुयायियों में स्वयं की प्राथमिक वय में ब्रह्मचर्य रखने का और विद्याभ्यास (वाग्यज्ञ)करने का विधान था। वह सम्पन्न कर युवावस्था में समावर्तनपूर्वक गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर, स्वगृह में क्रियायज्ञ करने का विधान था। उत्तरावस्था में वानप्रस्थाश्रम और सन्यासाश्रम में मानसिक यज्ञ करने का विधान था। उसके समानान्तर अपने यहां शरणागति दीक्षा लेकर, स्वमार्गीय सिद्धान्तों के अवगाहन पूर्वक विवेक-धैर्याश्रय अपनाने की प्रक्रिया थी। उस विद्यासम्पादन के तप में रुचि रखने के बजाय स्वगृह में स्वतनुवित्तजा सेवा के भद्दे विभाग कर जाहिर प्रदर्शन कर अपने

पुष्टिमार्गीय ब्रह्मचारियों को हम ने आज अयोग्याधिकारक उत्तेजना (प्री-मेच्योर ऐक्साइटमेंट) की अस्वस्थ प्रणालिका द्वारा नपंसुक बना दिया है। इसलिए स्वमार्गीय सिद्धांत या भावना से सर्वथा अनजान लोग सिद्धांत से सर्वथा विरुद्ध जाहिर प्रणाली से निरर्थक उत्तेजित होकर स्वयं का भक्तिमार्गीय पौरुष गंवा बैठे हैं। इसलिए अपने सिद्धांतों के स्वाध्याय में उनको रुचि नहीं रही। इसलिए आठवलेजी के सिद्धांत पसन्द आते हैं और फिर अपने मार्ग में व्यावसायिक जाहिर मंदिर चलाने की खोटी रीति को प्रोत्साहित करते रहते हैं। दूसरी ओर आठवलेजी के उपदेश को भी अनुसरते नहीं हैं। ''न खुदा ही मिला न विसाले सनम, न इधर के रहे, न उधर के रहे'' जैसी विषम स्थिति में फंस गये हैं। अपने मार्ग के महाराजश्रीओं को भी स्वयं के पुजारीपन के अपकर्ष में कुछ आपत्तिजनक लगना बंद होता जा रहा है। वैष्णवों को तो धर्मविक्रय के ढोंग के खरीददार बनने के सिवा अन्य कोई शौक रुचना ही बंद हो गया है। क्या इसका नाम, वल्लभसम्प्रदाय हो सकता है ? नहीं, नहीं और नहीं।

पुष्टिमार्गीयो ! तुम्हारे अंदर रही पुष्टिमार्ग की दिव्य अस्मिता को पुनरुज्जीवित करो। स्वयं के स्वमार्गीय दिव्य सिद्धान्तों का निरंतर अभ्यास, मनन-चिंतन कर उनको अमल में लाने का शौर्य प्रदर्शित करो।

श्रीमहाप्रभुजी के लिए गाया जाता है- ''कौन रस भूतल प्रकट भयो। घर घर नन्दनन्दन फल फूल्यो सेवाविधि सिखयो। आपुन किये रसाल रीति सों श्रीवल्लभ गिरिधर रिझयो।'' श्रीवल्लभ के इस दिव्य सिद्धांत को तुम अर्थहीन मत बनाओ। जाहिर मंदिर में यह पद नहीं गा सकते ? कहां गया तुम्हारा वह दिव्य मनोरथ और वह दृढ़ विश्वास कि :-

रुचिर पद कमल श्रीवल्लभाधीश के रैन और दिवस निज सरसि धरिये।
गहत दृढ़ बांह जिहिं काज श्रीनन्दसुत पत्र फल पुष्प सेवानुसरिये।
प्रेमभावतें निकट संतत रहे सब विश्वास व्रतते न टरिये।
श्रीविठ्ठल गिरधरन हित प्रकट, लक्ष्मणसुवन भक्त के भवन में वास करिये।।

आत्मविनाश के साधन जुटाने से पहले एक बार शांतचित्त से पुष्टिमार्गीय पारमात्मिक सिद्धांतों का गहन विचार करो। बस इतने मात्र से श्रीमहाप्रभुजी तुम्हारे ऊपर प्रसन्न होकर ऐसी कृपावृष्टि करेंगे कि तुमको तुम्हारे घर में पुष्टिप्रभु की सेवा करने का ऐसा अनोखा दिव्य मनोरथ जागेगा कि पुष्टिभावनाओं की मृत्युघंट के समान जाहिर मंदिरों की अमंगल ध्वनि स्वयं ही लुप्त हो जायेगी !

निष्ठयानुष्ठितं भक्तैरुपदिष्टं महाप्रभोः।
अमंगलानां शमनं मंगलानां हि वर्धनम्।

प्रश्न (14=16 का सारांश)

मंदिर बिना अपने को निराधार होने का भाव अनुभव होता है। समाचार - पत्रों में कहीं छप्पनभोग - अन्नकूट - हिंडोला - घटाओं की झांकी के मनोरथ के समाचार पढ़-पढ़ कर सच्चे वैष्णव के मन में जबरदस्त उत्कंठा जगती होती है।

उत्तर (14=16)

मंदिर बिना आधुनिक पुष्टिमार्गीयों को निराधार हो जाने का भाव अनुभव होता है। उसी प्रकार अन्य कहीं पर मनोरथों के समाचार पढकर जबरदस्त उत्कंठा जाग जाती है। यह दोनों बातें हकीकत में सौ प्रतिशत सच्ची हैं। साथ-ही-साथ यह सौ प्रतिशत पुष्टिमार्गीयों को जगत में सिर झुकाना पड़े, ऐसी लज्जा और ग्लानिजनक ही नहीं अपितु किसी भी सच्चे पुष्टिमार्गीय के लिए यह अत्यन्त कष्टदायक वास्तविकता भी है।

क्योंकि यदि अनुयायी स्वयं के मूल आचार्य के मार्गविशिष्टताजनक सिद्धान्तों में निष्ठा खोकर, निरन्तर सिद्धान्तवैपरीत्य में ही उत्कंठा, संतोष और कृतकृत्यता का अनुभव करने लग जायें, तब उनको इस निर्धारित मार्ग के अनुयायी के रूप में अपनी पहचान कायम कर मार्ग के मूल आचार्य की क्रूर हंसी उड़ाने का अधिकार भी नहीं रह जाता।

इसी प्रश्नावली में आगे जाकर 21वें प्रश्न में प्रश्नकर्ता भाई ने एक विधान किया है- ''वल्लभाचार्य का सिद्धांत केवल 'घरमंदिर' के लिए ही हो तो उस जमाने की परिस्थितियों के अनुसार घड़ा गया होगा'' परन्तु यदि मूर्ति/मंदिर-भंजक विधर्मियों के भय के कारण श्रीमहाप्रभुजी ने गृहसेवा का समर्थन किया हो तो, किस लिए 'सर्वनिर्णयनिबंध' की 225-254 कारिका में विस्तार से गृह सेवा की आवश्यकता समझा कर 255-256 वीं कारिका में जिनसे गृह सेवा नहीं निभती हो, ऐसे वैष्णवों के लिए - प्रपत्तिमार्ग में - ''जगन्नाथे विट्ठले च श्रीरंगे वेंकटे तथा यत्र पूजाप्रवाहस्स्यात् तत्र तिष्ठेत तत्पर:'' - वचन में पुष्टिमार्गीयों के लिए मर्यादामार्गीय पूजाप्रणाली वाले प्रसिद्ध मंदिरोंवाले तीर्थस्थलों में भगवत्पूजन में तत्पर रहने का विधान आपश्री ने किया?

अर्थात हकीकत में किसी पुष्टिमार्गीय को पुष्टिमार्गीय होने के बाद भी पुष्टिमार्गीय सिद्धांत और साधनाप्रणाली के साथ यदि रूढ़ द्वेष न हो तो स्वयं के निराधार होने की मानसिक अस्वस्थता का उपचार स्वयं के गांव के मर्यादामार्गीय वैष्णव मंदिरों में क्यों नहीं करना चाहिए ? स्वयं की श्रद्धा का आधार ऐसे मर्यादामार्गीय मंदिरों को बनाने में कोई सैद्धान्तिक बाधा भी नहीं है। श्रीपुरुषोत्तमजी इसकी व्याख्या करते हुए स्पष्ट छूट देते हैं कि -

''सर्वधर्मान् ...... इत्यत्र 'एक' पदाद् अन्याश्रय: सर्वथा बाधक: इति बोधयितुं 'तत्पर' पदस्य तात्पर्यमाहु: प्रपत्तौ इत्यादि, 'तत्पर: तिष्ठेद्' इत्यर्थ: स्थानान्तरस्यापि संग्रहार्थमाहु: 'पूजा' इत्यादि। एतस्यैव शेषो विवेकधैर्याश्रय-कृष्णाश्रयौ ज्ञेयौ।''

अर्थात अन्याश्रयबाधक होने से जिस भगवन्मूर्ति की पूजा करते अन्याश्रय न होता हो वहां पूजा में तत्पर होकर रहना चाहिए। जैसे कि जगदीश-पांडुरंग-विठोबा, श्रीरंगजी-तिरुपतिबालाजी आदि स्थान गिनाये। इसके अतिरिक्त भी ऐसे विष्णुपूजा के स्थानों में अन्याश्रय दोष जैसी कोई बाधा नहीं आती।

इतनी बड़ी छूट मिलने के बाद भी जानबूझकर श्रीमहाप्रभुजी के दिव्य सिद्धान्तों को भंग करके अलौकिक गृहसेवा की प्रणाली की व्यावसायिक सार्वजनिक फजीहत करना और श्रीमहाप्रभुजी को, उनके उपदेशों को और मार्ग को बदनाम करने का दुराग्रह कौन सी आन्तरिक द्वेषग्रन्थि से प्रेरित है, इसका मनोरोग चिकित्सक से निराकरण कराना चाहिए। बाकी धर्मविरुद्ध क्षुद्र भावों को सहलाना ही महत्वपूर्ण हो तो कहना पड़ेगा कि शराबखोर को शराब पीए बिना निराधार बन जाने का भाव कहां नहीं होता और दारू का विज्ञापन पढ़ते ही जबदस्त उत्कंठा कहां नहीं जगती? उसी तरह जुए-मटके आदि के व्यसनी की भी हालत अपने पुष्टिमार्गीयों जैसी ही होती है। इससे मधुशाला और जुए के अड्डे खोलने की वकालत समाज के लिए कल्याणकारी तो सिद्ध नहीं ही हो सकती।

प्रश्न (15=17 का सारांश)

''मंदिर नहीं बनाना'' अर्थात जवाबदारी से छटक जाना है। जनता से चंदा इकट्ठा कर जमीन खरीदकर मंदिर बनाने के लिए

वचन देकर वचनभंग करने वाले की प्रतिष्ठा हास्यास्पद होकर नष्ट हो जायेगी।

उत्तर (15=17)

लौकिक स्त्री-पुरुषों से, लौकिक धन-चंदा उगाह कर, मंदिर नहीं बनाना जिस तरह से आधिभौतिक या नैतिक जवाबदारी से छटकने की खोटी मनोवृत्ति है, उसी तरह ब्रह्मसंबंध लेकर अर्थात - अलौकिक पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण, श्रीयमनुाजी आदि से अलौकिक पुष्टिधन का फंड प्राप्त कर, स्वयं के घर में सेवा के सिद्धान्त और कर्तव्य से विरुद्ध सार्वजनिक मंदिरों में भटकना भी स्वयं की आध्यात्मिक या धार्मिक जवाबदारी से छटकने की हीन मनोवृत्ति ही है। जिसका हृदय अलौकिक पुरुषोत्तम को ठगने में सकुचाता न हो उसका लौकिक पुरुषों को ठगने में लज्जा या भय का भाव भी एक अतिशय हास्यास्पद घटना है। अभी भी लौकिकफंड और खरीदी गई जमीन को मर्यादामार्गीय पूजाप्रणाली के मंदिर खोलने के लिए उपयोग कर, नीति और धर्म दोनों को सुरक्षित रखा जा सकता है, जो सत्संग-हाल के प्रति अरुचि ही हो तो। नहीं तो श्रीमहाप्रभुजी और पुष्टिप्रभु को दिये गये वचनों के प्रति वफादारी का आग्रह अधिक प्रबल होना ही चाहिए। श्रीमहाप्रभु अपने को उपेक्षा या तिरस्कार की दृष्टि से हास्यास्पद, कृतघ्नी माने, क्या उसकी थोडी भी भीति (भय) अपने हृदय में नहीं रही? किस तरह का चिंतन, हम पुष्टिमार्गीय होने के दंभ के साथ करना चाहते हैं?

प्रश्न (16=18 का सारांश) आदर्श मंदिर की भावना बाबाश्री की भी है, जिसमें गौशाला-पाठशाला-पुष्पवाटिका आदि हों। पुष्टिमार्ग शूरों का मार्ग है, अत: दृढ़ता-विनय के साथ बाबाश्री को वचन दो कि आदर्शानुरूप मंदिर बनेगा।

उत्तर (16=18) आदर्श मंदिर की भावना कौनसे बाबाश्री की कही जा रही है, उनका नाम प्रश्नकर्ता भाई ने लिखा नहीं है। पर प्रमुखतया ऐसे उल्लेख प्रश्नावली में चतुर्थपीठाधीश्वर श्रीसुरेशबाबा को उद्देश्य कर किये गये हैं। अत: यहां भी वे ही अभिप्रेत होंगे। इनकी 'आदर्श मंदिर' भावना कैसी है, वह तो आपश्री स्वयं ही स्पष्टता करें तो खयाल में आए। पर, किसी भी परिस्थिति में पुष्टिमार्गीय सेवा (अर्थात - स्वयं के तनुवित्त से, और स्वयं के परिजनों के साथ ; उसी तरह ब्रजभक्तों के भावों की भावना के साथ स्वयं के घर में जाहिर प्रदर्शन किये बिना और देवद्रव्य के विषोपभोग या विषवितरण बिना, करने में आती सेवा) जहां निभती हो, वही आदर्श मंदिर हो सकता है। इसमें चतुर्थपीठाधीश्वर श्रीसुरेशबाबा को मतभेद नहीं हो सकता। इसके लिए हिम्मतनगर के शूर सामने आकर वचन दें तो मुझे नहीं लगता कि चतुर्थपीठाधीश्वर श्रीसुरेशबाबा को उसमें लेशमात्र भी विप्रतिपत्ति (आपत्ति) हो सकती है?

प्रश्न (17=19 का सारांश) सत्संग हाल बनेगा, सत्संग करेंगे, प्रेरणा लेंगे, धन संग्रह करेंगे, यह 'फिर-फिर' कब तक? डा. ..... गांधी, बुजुर्ग ..... काका मंदिर-मंदिर कहते गोलोक पहुंच गये।

उत्तर (17=19) जो हिम्मतनगर के बुजुर्ग वृद्ध वैष्णव, 'मंदिर-मंदिर' कहते-कहते गोलोकवासी हो गये, पुष्टिप्रभु उनको आगामी जन्म में 'गृहसेवा-गृहसेवा' जैसा शिशुरुदन करते-करते सच्चे पुष्टिमार्गीय भगवदीय के घर में जन्म दें कि जिससे उनके स्वगृह में भगवत्सेवा का सिद्धांतशुद्ध आग्रह कभी शिथिल न हो, ऐसी शुभकामना मैं हृदय से करता हूँ।

प्रश्न (18=20 का सारांश) मंदिर की मूल प्रेरणा पूज्य इन्दिरा बेटीजी ने दी है, जो देश के कोन-कोने में श्रीठाकुरजी के

गुणानुवाद कराकर पुष्टिमार्ग के प्रचारार्थ अति परिश्रम ले रहे हैं। आपश्री को हमने सबके सामने वचन दिया है कि मंदिर बनायेंगे। आपश्री से रू. 1001 का दान भी स्वीकार किया है, जो बैंक में जमा है। आपको दिये हुए वचन को भंग करना क्या वैष्णवता है ? गोस्वामी बालक के साथ किये गये वचन भंग का अपराध नहीं लगता ? आपश्री ने भी, भागवतसप्ताह करने और मंदिर के लिए इच्छित सहयोग देने के लिए श्रीमुख से भरोसा दिया हुआ है - आपश्री को रूपये वापस लौटाने जायेंगे तो उनका अपमान कहायेगा। यह कदम नहीं उठाएंगे, गोस्वामी बालक अग्निस्वरूप होते हैं !

उत्तर (18=20) सेवा के सच्चे प्रकार के संबंध में पू.पा. इन्दिरा बेटीजी का अभिप्राय हम पिछली प्रश्नोत्तरी में पढ़ चुके हैं। उन्होंने अपना समग्र जीवन पुष्टिमार्ग के प्रचारार्थ समर्पित किया हुआ है, अतः पुष्टिसिद्धान्त से विरुद्ध प्रेरणा वे दे ही नहीं सकते। यद्यपि इंग्लैंड वगैरह देशों में जैसे भेड़ चाल की तरह ब्रह्मसंबंध लेने वाले अ-पुष्टिमार्गीय जीवों के अनधिकार का गहन विचार करके, उन की तरह ही, हिम्मतनगर के तथाकथित पुष्टिमार्गीयों के लिए जाहिर मंदिर की प्रेरणा संभवतः दे दी हो ऐसा संभव है। ऐसी परिस्थिति में जो वास्तव में मूलतः पुष्टिमार्गीय न हों, उनको पू.पा. इन्दिरा बेटीजी की प्रेरणा/आज्ञानुसार पुष्टिभावनाओं के मृत्युघंट बजाने वाली जाहिर हवेली तुरंत खोलनी चाहिए। परंतु, जो स्वयं को सच्चे पुष्टिमार्गीय मानते हों, उनको 'वैष्णव परिवार' में प्रकाशित लेख आपश्री को बताकर, जाहिर मंदिर खोलने की आज्ञा, सच्चे पुष्टिमार्गीयों के लिए बंधनकारी नहीं है, ऐसी छूट लेनी चाहिए। जहां तक भागवत की बात है तो श्रीमहाप्रभुजी की स्पष्ट आज्ञा है -

पठनीयं प्रयत्नेन सर्व हेतु विवर्जितम्।
वृत्यर्थं नैव युंजीत प्राणैः कण्ठगतैरपि।।
तदभावे यथैव स्यात् तथा निर्वाहमाचरेत्।।

अर्थात : पुष्टिमार्ग के प्रचार हेतु तत्पर रहनेवाले जो जीव हैं उनके लिए तो पू.पा. बेटीजी व्यावसायिक भागवत कभी न करेंगे, हां, जो प्रवाहीजीव हैं या चर्षणीजीव जो भेड़चाल में आकर्षित होकर पुष्टिमार्ग में घुस गये हैं उनके अनधिकार का गहन विचार करके, उनके लिए कभी ऐसी व्यावसायिक भागवत करते होंगे। भगवान बुद्ध ने भी ऐसे आसुरीजीवों को विमुख करने के लिए बुद्धधर्म का उपदेश क्या देश के कोन-कोने में नहीं किया? अतः ऐसी प्रवृत्तियों के पीछे का हेतु सामान्य मनुष्य के समझ में नहीं आये, यह स्वाभाविक है। जो स्वयं धर्म प्रचार के लिए प्रचुर परिश्रम लेते हैं वे धर्मविरुद्ध प्रेरणा, ज्ञानदान-या द्रव्यदान करें यह किसी भी बुद्धिमान मनुष्य के गले उतरने जैसी बात नहीं है।

अलबत्ता, ''अन्तः शैवा:बहिःशाक्ता:, सभामध्ये तु वैष्णवा:।''- ऐसे आधुनिक कथाकारों ने जो ऐसी (व्यावसायिक) कथाओं की शुरूआत की उसमें अपने पुष्टिमार्गीय आकर्षित हो जाते होंगे यह देखकर इस मार्ग को बचाने के लिए, उनका प्रयास लगता है। नीतिशास्त्र में इसीलिए कहा गया है कि-

सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्ध त्यजति पंडितः।
अर्धेन कुरुते कार्यं सर्वनाशो हि दुःसहः।।

सर्वनाश होता हो तो आधे भाग को (छोड़कर) जाने देकर भी बाकी आधे भाग को बचा लेना चाहिए, क्योंकि सर्वनाश के बजाय अर्धनाश अच्छा है। ऐसी सजग जागरूकता का मिथ्या अर्थघटन तो नहीं ही करना चाहिए। हिम्मतनगर के प्रसंग में आपश्री को लगा होगा कि

हिम्मतनगर के शूर ''अन्त:शैवा: बहि:शाक्ता:, सभामध्ये तु वैष्णवा:'' जैसे कथाकारों के सामान्य प्रवाह में आकर्षित हो रहे हैं, अत: उस समय उनका अनुकरण करनेवाली कथा द्वारा - उनको अपुष्टिमार्गीय बाह्य कथाकारों की कथा के आकर्षण से मुक्त करने के लिए व्यावसायिक भागवत की होगी, और सुरक्षादान भी किया होगा। ऐसे अर्धनाश के बाद बचे हुए अर्धांश की सुरक्षा करने का साहस यदि हिम्मतनगर के पुष्टिमार्गीय शूर नहीं करेंगे तो पहले किए गए अर्धनाश का बलिदान भी व्यर्थ जायेगा और सर्वनाश हो जायेगा। जो लोग पू.पा.बेटीजी के प्रयास से पुष्टिमार्गीय के रूप में बच रहे हैं, उनको अब सच्ची हिम्मत दिखाकर जिन वल्लभसिद्धान्तों का सर्वनाश हुआ हो, उनका सुधार कर अब सर्वांगपूर्ण पुष्टिसिद्धान्त की अखण्ड निष्ठा पनपा लेनी चाहिए। दृढ़ निश्चय करना चाहिए कि व्यावसायिक कथा के या जाहिर मंदिर के प्रवाह में कम से कम हिम्मतनगर के शूरवीर तो कभी भागीदार न बनें।

इसमें गोस्वामी बालक के साथ किये गये वचनभंग के अपराध से डरने जैसी कोई बात मुझे लगती नहीं है। क्योंकि इससे अधिक भयानक बात यह है कि गोस्वामी बालकों को अग्निकुल तरीके पूज्यता प्रदान करनेवाले गोस्वामियों के वंशस्थापक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य को जो उनके नाम की कंठी गले में धारण कराते या करते वक्त वचन देने में आते हैं, उनको भंग करने की बेपरवाही हम दिखाने जा रहे हैं।

अतएव, किसी गोस्वामी बालक या बेटीजी के हजार रूपये लौटाने जाने में उनके अपमान की कोई बात ही नहीं आती। अपितु हिम्मतनगर के पुष्टिशूरमाओं को बचाने के लिए आपश्री द्वारा किये गये पुष्टिसिद्धान्त के अर्धबलिदान के गूढ प्रयोजन को फलित होते देख आपश्री निश्चित अमृत वचनों से आशीर्वाद ही देंगे। वल्लभवंशविभूषण

बालक या बेटीजी वल्लभ के सिद्धान्त में अखण्डनिष्ठा की अभिव्यक्ति से अपमानित हो ही नहीं सकते। यदि हो तो सूर्य पश्चिम में उदय हुआ कहलायेगा। क्योंकि गोस्वामी बालक अग्निस्वरूप होते हैं, उसका कारण अन्तंत: अग्निस्वरूप श्रीमहाप्रभुजी के वंशज होना ही है। अत: इसमें भय-संकोच-संशय की किसी भी तरह की आवश्यकता नहीं है - अत: पुन: लौटा सकते हैं।

प्रश्न (19=21 का सारांश) हम जुदे-जुदे गोस्वामी बालकों को पहचानने के लिए साथ में गांव का नाम बोलते हैं जैसे अमरेलीवाले-पोरबंदरवाले-सूरतवाले-जामनगरवाले-अहमदाबादवाले आदि आदि। उसी तरह उस-उस गांव की हवेलियों को भी उसमें बिराजते ठाकुरजी के नामों से पहचानते हैं। वहां मुखिया सेवा करते हैं तो सभी मंदिर क्या दोषपूर्ण हैं ? इन सार्वजनिक मंदिरो के कारण वहां के सभी वैष्णव क्या अपराधी हो गये? नहीं तो हिम्मतनगर के वैष्णवों को लाभ से वंचित रखने का हेतु क्या ? सर्वत्र सर्वजन के लिए सिद्धांत तो एक ही होना चाहिए।

उत्तर (19=21) गोस्वामीबालकों को गांव के नाम से और हवेली को श्रीठाकुरजी के नाम से पहचानने की बातें लोकप्रचलित सिद्धांत-अज्ञान अथवा सिद्धांत में निष्ठाहीनता की आभारी हैं। इसलिए किसी तरह का सैद्धान्तिक निष्कर्ष इससे नहीं निकाला जा सकता। दुनिया में कोई 'धेलाभाई' के नाम से प्रसिद्ध हो तो उसका धेला होना आवश्यक नहीं है।

मेरे एक परिचित चरणदासभाई प्राय: मुझे पूछते रहते हैं कि - ''ब्रह्मसंबंध लेने के बाद भी अहंकार जाता नहीं, इसका कारण क्या''? इसी तरह अमथालालभाई का भी धंधा तो अच्छा चलता है - पर वे कोई अमथा (व्यर्थ) ही फिरते हों, ऐसा तो नहीं है।

उसी तरह अमरेलीवाले बालक मुम्बई भी बिराजते हैं। केवल अमरेली में ही बिराजते हों ऐसा नहीं है। जामनगरवाले बालक भी नडियाद-चापासनी आदि अनेक गांवों में बिराजते हैं। अत: पहचान वाले नामों से कोई भी सैद्धांतिक या कानूनी निष्कर्ष नहीं निकल सकता है। हवेलियों में, कोई हवेली वहां बिराजते ठाकुरजी के नाम से पहचानी जाती है, तो कोई महाराजश्री के नाम से भी। इसके अतिरिक्त कोई किसी बेतुके नाम से पहचानी जाती है। यहां मुम्बई में ही 'यदुनाथजी की हवेली' 'मोटी हवेली' 'लालबाबा की हवेली' है। गोकुल में 'मोरवाली हवेली' है - वहां कोई मोरों की ठाकुरजी की तरह सेवा नहीं होती। इसके अलावा कहीं सात स्वरूपवाली हवेलियां हैं - वहां सात में से एक भी स्वरूप नहीं होता। अत: ऐसी क्षुद्र बातों के आधार पर सैद्धांतिक या कानूनी निष्कर्ष निकालना अत्यन्त क्षुद्र वैचारिकता है।

जिन हवेलियों में मुखियाजी सेवा करते हैं इस संबंध में सैद्धांतिक विडंबना तनुवित्तजा-गृहसेवा के निष्ठुर विभाग, देवलकता के अनाचार आदि दूषण तो अपनी निष्ठाविहीनता के कारण आज अपने को दूषण लगने ही बंद हो गये हैं। वर्तमान में, परंतु, बंगाल हाईकोर्ट द्वारा कलकत्ता के प्रसिद्ध 'वैकुंठनाथ मंदिर' के सन्दर्भ में दिया गया निर्णय जिस भवितव्य (होनी) की सूचना दे रहा है। उसके प्रति उपेक्षा रखने पर भविष्य में विकराल समस्या खड़ी होने वाली है, यह भूलना नहीं चाहिए। जन्मभूमि प्रवासी के 19 फरवरी, 1991 के अंक में इस संबंधी वृतांत में जानकारी दी गई है कि ट्रस्ट-मंदिरों में व्यापार-धंधा तथा मालिक-नौकर के संबंध होते हैं। अत: पुजारी-मुखियाओं को कामदार की श्रेणी में और मंदिर की व्यवस्था को उद्योग-धन्धे की श्रेणी में गिनना योग्य होने से औद्यौगिक कानून उन पर लागू होने चाहिए। जानकारी के मुताबिक

हाईकोर्ट ने टिप्पणी की है कि जहां मालिक-नौकर के संबंध प्रस्थापित होते हैं, वहां उदारता-धर्म, नफा-नुकसान, सेवा-लोककल्याण के मुद्दे गौण बन जाते हैं। खरी सेवा-भावना हो तो नौकर मालिक के संबंध प्रस्थापित नहीं होते, वहां औद्योगिक कानून भी लागू नहीं हो सकता। पगार (वेतन) देकर नौकर तरीके पुजारी नियुक्त करने में आते हों, वहां

औद्योगिक कानून के अनुसार -

1 वेतन वृद्धि
2 मंहगाई भत्ता
3 सेवापूजा के कार्य का पूर्व निर्धारित समय
4 साप्ताहिक अवकाश, आधिकारिक अवकाश
5 भोजन भत्ता
6 चिकित्सकीय भत्ता

इतनी सुविधाएं अधिकार के रूप मे देनी ही पड़ती हैं।

अत: यूनियन भी बनेगी और मंदिर में 'लोकआउट' भी होगा। ट्रस्टियों का पक्ष लेने वाले मुखिया-भीतरिया-जलघड़िया आदि नौकरों की यूनियन की प्रतिद्वंद्विता के कारण संभव है कि भविष्य में मर्डर भी होंगे। "ट्रस्टी - महाराज मुर्दाबाद" केनारे भी लगेंगे। अंत में छल-कपट बढेंगे। मुम्बई के हमारे 'मोटा मंदिर' में दूधघरिया-बालभोगिया अधिक सामग्री धरने हेतु एक्सट्रा पेमेंट (अतिरिक्त वेतन) की मांग तो कर ही रहे हैं। फिर भी जो बात हम पुष्टिमार्गीय स्वीकारने को तैयार नहीं हो रहे हैं वह है- श्रीमहाप्रभुजी के उपदेशों को शुद्ध श्रद्धा से स्वीकारने या अनुसरने की। हम ऐसी सभी भद्दी फजीहतों को बंद करने का साहस पैदा नहीं कर सकते! इससे बढकर एक जीवित सम्प्रदाय की विडंबना और क्या हो सकती है?

अत: कहां के गोस्वामी बालक या कहां के वैष्णव दोषी हैं अथवा कहां के नहीं, ऐसे व्यर्थ विचारों में कीमती समय बरबाद करने के बजाय श्रीमहाप्रभुजी द्वारा उपदिष्ट दिशा ग्रहण कर पुष्टिमार्ग पर पहला-दूसरा-तीसरा-चौथा-पांचवां या छठा जो कदम उठा सकते हों, वह कदम उठाने का प्रयास शीघ्र करने की महती आवश्यकता है। इससे जो बिगाड़ हम ने किया है वह फिर से धीरे-धीरे सुधार में परिणत होने लगेगा। क्षति-पूर्ति की शुरुआत कौन करेगा? तुम्हें समझ में आता हो तो तुम करो, तुम मुझसे संभवत: पांच कदम पीछे हो तो निराश होने या ईर्ष्या करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मैं भी किसी दूसरे से पैंतीस कदम पीछे हो सकता हूँ। यदि पुष्टिमार्ग पर चलने के लिए दिशा का चयन हम महाप्रभुजी के वचनों के आधार करेंगे तो कौन आगे बढ गया या कौन पीछे रह गया यह प्रश्न विचारणीय रहता ही नहीं। मुद्दे की बात - एक एक कदम उठा कर सच्ची दिशा की ओर अभिमुख होना :-

असतो मा सद् गमय।
तमसो माज्योतिर्गमय।।
मृत्योर्मा अमृतं गमय।।।

श्रीमहाप्रभुजी द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों से विपरीत किसी खोटी दिशा की तरफ चलना ही अन्धकार और मृत्यु की ओर ले जाने वाली खोटी दिशा में स्वयं कूद पड़ना है। और उपदिष्ट दिशा की ओर अभिमुख होकर एक कदम भी आगे बढना, वही ज्योति और अमृत की सच्ची दिशा खोज लेने जैसा है। हिम्मतनगर के वासियों को परंतु हिम्मत तो जगानी ही पड़ेगी। किमधिकम्? अंतत: सिद्धांत तो सबके लिए एक ही था; है और रहेगा; यदि हम उसमें निष्ठा रखेंगे तो।

प्रश्न - (20=22 का सारांश)

जिन गांवों में मंदिर निभ न सकते हों, उनके उदाहरण दिये गये हैं। जैसे गाबट- चोईला-उभराण आदि। इन गांवों के धनिक वैष्णव गांव छोड़कर बड़े-बड़े शहरों में जा बसे हैं, इसलिए मुश्किल आती है। जबकि हिम्मतनगर में तो उन गांवों की तरह दूसरे गांवों के भी वैष्णव आकर बस रहे हैं, और श्रीमंत हो गये हैं - छोटे गांवों में मंदिर निभना कठिन है - परंतु हिम्मतनगर की स्थिति बहुत सुदृढ़ है, दूसरे शब्दों में भयस्थान नहीं है।

उत्तर -(20=22) इस प्रश्न की शब्दावली पढ़ने के बाद, किसी भी बाहरी व्यक्ति को यह एहसास हुए बिना नहीं रहेगा कि पुष्टिभक्ति धनिकों का ही कोई आडंबर है। निष्किंचन पद्मनाभदास जैसे, सूत कातने वाली किशोरीबाई जैसे प्राचीन वैष्णवों की वार्ताएं फुरसत के समय की गप्पबाजी ही होगी। किसी गांव में धनिक रहते हैं तो ही पुष्टिधर्म निभ सकता है - निर्धनों के गांव में सर्वसमर्थ पुष्टिप्रभु भी पुष्टिमार्गीय प्रणाली से निभने में असमर्थ बन जाते होंगे! फिर पुष्टिभक्ति के सच्चे अधिकारी तो धनिक ही हुए- निष्किंचन वैष्णव नहीं। पुष्टिभक्ति धन बिना भी निभती हो तो गाबट-चोइला- या उभराण गांव के जो उदाहरण देने में आये हैं, वहां मंदिर तो थे ही, फिर वहां के वैष्णव दूसरे गांव में चले गये तो क्या हुआ, स्वयं के गांवों के मंदिरों की संभाल नहीं रख सकते ? समझो कि अपने परिवार में माता-पिता या पत्नी-संतति को गांव में छोड़कर बाहर (गांव) कमाने के लिए गये होते तो क्या स्वयं के परिवार को एकदम भूलकर मात्र कमाई में ही मशगूल हो सकते थे? अत: यदि प्रभुको सर्वसमर्पण करने की भावना रखी हो तो उसको मात्र बाहरगांव जाते ही इस तरह भूल सकते हैं? यदि भूल न गये हों तो बाहर गांव जाने से निभाने

में कैसे मुश्किल आनी चाहिए?, खाड़ी के देशों में नौकरी करके जो भारतीय कमाने हेतु गये हैं, उनके परिवारों की स्थिति यहां भारत में सुधरी है कि नहीं? अत: मंदिरों को निभाने में आती मुश्किलें उन-उन मंदिरों में ग्राम निवास के दौरान दर्शन-भेट-प्रसाद का लाभ लेने वाली दर्शनार्थी जनता की मंदिरों में निष्ठा की अपेक्षा, अर्थोपार्जनकी निष्ठा को अधिक सशक्त सिद्ध करती है- जबकि मंदिर निष्ठा को एकदम अशक्त। इसलिए पुन: एकबार यह सिद्ध होता है कि भक्ति की फजीहत करने वाले ये मंदिर जनता में पुष्टिभावनाओं के पोषण में पूर्णतया अनुपयोगी सिद्ध हुए हैं।

परमात्मा कोई दिन ऐसा न करे पर समझो कि कल को हिम्मतनगर की प्रगतिशीलता में कभी कमी आ जाए और वहां की वैष्णव जनता को अन्यत्र कहीं पलायन करना पड़े, तब निश्चितरूपेण हिम्मतनगर के मंदिरों के निर्वाह में भी मुश्किल नहीं आयेगी इसकी गारंटी क्या?

गृहसेवा में बिराजते ठाकुरजी, घर के लोग बाहर किसी गांव में जायें तो' साथ पधारने के लिए स्वतंत्र होते हैं। मंदिरों के कारागृह में, परंतु, कैद ठाकुरजी इस लाभ से वंचित रह जाते हैं। अभी, यहां मुम्बई के नजदीक स्थित गांव में वैष्णवों की संख्या कम होने पर तथा मंदिर भी जीर्ण-शीर्ण हो जाने से गांव के विसम्प्रदायी धनिकों ने कहा कि गांव के धनिकों की एक कमेटी बनाओ फिर सब काम सरल हो जायेगा। इस तरह पैसे के आकर्षण ने धर्म के स्वाभिमान को दबा दिया। फिर तो उस मंदिर के भवन का जीर्णोद्धार ऐसा हुआ कि उसमें पुष्टिभक्ति का भवन चरमराकर भग्न हो गया। जीर्णोद्धार कराने के लिए बनी मंदिर की व्यवस्था समिति के सदस्य विसंप्रदायी धनिक बन गये। तब उनको छोटे पुष्टिमार्गीय स्वरूप के दर्शन ठीक से न होने से उस मंदिर में हनुमानजी,

देवी या बिठोबा की बड़ी मूर्तियों की स्थापना के लिए अब वे हठ कर रहे हैं। वहां के पुष्टिमार्गीय वैष्णव उस समिति में अल्पमत में आ गये। अत: उक्त गांव के धनिक लोगों को समझाने हेतु मुझे आने के लिए आमंत्रण दिया गया। मैंने कहा कि- ''पुष्टिस्वरूप की घर में सेवा करने को तुम लोगों में से कोई तैयार हो और उन मर्यादामार्गीय धनिकों के पैसे से जीर्णोद्धार हुए (नहीं! नहीं! नहीं!!! खंडित हुए तथाकथित पुष्टिमार्गीय) मंदिर में से स्वरूप को तुरंत हटाने के लिए वहां के पुष्टिमार्गीय वैष्णव तैयार हों तो ही मैं उस गांव में आऊं। अतएव मुझे दिया गया निमंत्रण रद्द कर दिया गया। इसे मैं अपना परम सौभाग्य मानता हूं।

अन्तत: ऐसे मंदिर या गाबट -चोइला या उभरण के मंदिर, दूसरों की बात तो जाने दो, पुष्टिसृष्टि में भी पुष्टिभक्ति के भाव जगाने में हास्यास्पद रूप से निष्फल साबित हुए हैं। इसके प्रमाण सामने हैं- होटल, बार, क्लब, सिनेमा, थियेटर के शौकीन एक गांव से दूसरे गांव में जाते हैं तो वहां के होटल, बार, क्लब, सिनेमा थियेटर आदि को ढूंढ कर अपना शौक पूरा कर लेते है। उसी तरह मंदिरों के शौकीन जिस गांव में पहुंच जाते हैं उस गांव के मंदिरों को ढूंढ कर उनमें होती (भक्ति की) फजीहत को देखने का लाभ ले लेने के स्वयं के शौक को पूरा कर लेते हैं। इस स्वरूपासक्ति से सर्वथाविहीन और स्वरूपसेवाकी निष्ठा से भी विहीन भगती को पुष्टिभक्ति किस मुंह से कह सकते हैं यह समझ में नहीं आता। अपनी पत्नी को चाहने वाला एक पति परदेश भी गया हो तो वहां से स्वयं की पत्नी के प्रति प्रेमभाव को पत्रव्यवहार द्वारा व्यक्त करता है, साथ ही साथ पत्नी की जीवनोपयोगी सुखसुविधा की मनीआर्डर द्वारा पर्याप्त संभाल करता होता है। कालगर्ल की, परंतु, चाहत रखने के शौकीन जिस गांव में पहुंच जाते हैं, वहां की कालगर्ल को ढूंढ कर दर्शन-प्रसाद का

लाभ लेकर भेंट-न्योछावर करने के बाद उसकी सार-संभाल करते हों, ऐसा संभव लगता नहीं है। ऐसी ही गति आधुनिक पुष्टिमार्ग के मंदिरवादियों की होती है। स्वयं के माथे बिराजते स्वरूप में स्वरूपासक्ति रखते हुए उसकी सार संभाल रखने का भाव निभा सके वह तो मंदिरवादी हो नहीं हो सकता।

अभी हाल में, नाथद्वारा निवासी एक मंदिरवादी भट्ट लालाजी का ''मंदिरप्रथा विरोधी आंदोलन'' शीर्षक से एक लेख मेरे देखने में आया। स्वयं की वल्लभवंशज गोस्वामी वर्ग के प्रति रही हुई वर्गविद्वेष की अस्वस्थ मानसिकता और पुष्टिधर्म के बारे में अतिशय अस्पष्ट विरोधाभासों से भरपूर यह लेख है। फिर भी इस लेख में, खुद के अगड़म्-बगडम् विचारों को जिस साहस से प्रस्तुत करने में आया है उसके लिए मै उनका हार्दिक अभिनन्दन करता हुआ इस प्रश्नोत्तरी में उनके द्वारा किये गये आक्षेपोंकी छानबीन करने की छूट लेना चाहता हूँ।

इसके पहले एक मौलिक खुलासा करना चाहता हूँ। वह यह कि मेरी वैचारिक रुचि सामान्य दोष-विश्लेषण द्वारा सामान्य परन्तु आदर्श गुणों के प्रेरक निष्कर्ष निकालने की होती है। हालांकि सदा ही मैं इसमें सफल होऊँ वैसा दावा तो नहीं कर सकता, फिर भी हृदय की चाहना यही रहती है। परंतु आदर्श गुणों के विश्लेषण द्वारा व्यक्तिगत या वर्गगत दोषों को मात्र उजागर करने की विचारशैली, मुझे रुचती नहीं है। हालांकि उसको भी कभी स्वीकारना तो पड़ता ही है। जब-जब मुझे ऐसा करने को विवश होना पड़ता है तब-तब मैं अपनी लेखनी को कोसता होता हूँ।

मुझे लगता है कि स्वयं की अस्वस्थता के प्रति गाफिल मनुष्य को उसकी अस्वस्थता के प्रति सचेत करके स्वस्थ होने की सलाह-सूचना दे सकूं; किन्तु अपनी तंदुरूस्ती की मस्ती में चलते-फिरते मनुष्य को

संभावित बीमारी की शंका-कुशंका से डराकर उसकी मस्ती छीन लेने को मैं बड़ा अपराध मानता हूँ। यद्यपि मुझ से भी ऐसा कृत्य कभी हो जाता है, तो भी। अतः इस संबंध में मेरा मूल्यांकन यद्यपि उन्होंने मेरा नामोल्लेख नहीं किया, तथापि उपरोक्त लालाजी को मैं प्रत्युत्तर देना चाहता हूँ।

यह आक्षेपात्मक लेख बहुत लंबा होने से उसका सारांश यहा दे रहा हूँ:-

आक्षेप

(क/1) स्वगृह में स्वतनुवित्त के साधन से स्वपरिजनों के सहयोग से करने में आती भगवत्सेवा का विचार मात्र पांच-दस वर्ष का नन्हा बाल्य-विचार है।

(क/2) यह विचार मार्ग की श्रद्धालु जनता के हृदय में मार्ग के प्रति, शंका-कुशंका पैदा करता है, और ऐसी चपलता से दूरगामी परिणामस्वरूप मार्ग में आत्मघाती विभेद पैदा हो जायेंगे।

(ख/1) यह आन्दोलन गोस्वामी बालकों के मंदिरों पर से दिन-प्रतिदिन खंडित हो रहे मालिकाना हक की स्वार्थ हानि के भय से प्रेरित होकर चलाया जा रहा है।

(ख/2) इसमें वैष्णवों का कोई दोष है ही नहीं। क्योंकि वैष्णवों को तो मोटे तौर पर गोस्वामी बालकों के प्रति अन्धश्रद्धालु बनाने में आया है, और वैष्णवों का आर्थिक शोषण करने के लिए स्वयं गोस्वामी बालकों ने उस अंधश्रद्धा को पोषित किया है- आज दिन तक किया जा रहा है।

(ख/3) इस तरह स्वयं के द्वारा बोये गये विषबीज के फल अब जब फूटने लगे हैं तो मंदिर विरोधी आंदोलन का बचकाना खेल खेलने के बजाय श्रीमहाप्रभुजी द्वारा उपदिष्ट विवेकधैर्याश्रय रखना चाहिए। वरना शेष बचा थोडा बहुत प्रभाव भी, जो अभी समाज पर है, समाप्त हो जायेगा।

(ग/1) पुष्टिमार्गीय मंदिरों की परम्परा की जड़ें श्रीगुसांईजी के सात बालकों द्वारा अपने-अपने अलग-अलग ठाकुरजी की अलग-अलग सेवा करने की ऐतिहासिक हकीकत में रही हुई है।

(ग/2) श्रीनाथजी ने स्वयं श्रीमहाप्रभुजी को मंदिर स्थापित करने की आज्ञा दी थी। उसका 'अनुशरण' (आक्षेपकर्ता का अभिप्राय शायद 'अनुसरण' शब्द का प्रयोग करने का होना चाहिए) श्रीगुसांईजी के सात बालकों तक हुआ। पीछे से पुष्टिप्रणाली की सेवा के प्रचार हेतु सर्वत्र मंदिर बन गए।

(ग/3) सर्वमान्य, सर्वोत्तमस्तोत्रानुसार भुविभक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृत्-जनशिक्षाकृते कृष्णभक्तिकृत् - भक्त्याचारोपदेष्टा कर्ममार्गप्रवर्तक: - पतितपावन: - स्ववंशे स्थापिताशेषस्वमाहात्म्य:- पतिव्रतापति: नामों के अभिप्राय का विचार करने पर श्री महाप्रभुजी ने भूतल पर पुष्टिभक्ति के प्रचारार्थ स्ववंशगुरुवाद चलाया। इसलिए मंदिरों द्वारा जनता को श्रीकृष्णभक्ति का शिक्षण देना ही गोस्वामी बालकों का परम कर्तव्य है। उस कर्तव्य से विपरीत और वर्णाश्रमधर्म से विरुद्ध अपने शौक-मौज में मंदिरों की आय का उपभोग करने के जनविरोध के कारण आज मंदिर पब्लिक ट्रस्ट बन गये हैं। उस स्वार्थहानि से प्रेरित होकर अब मंदिरों का विरोध करने वाले गोस्वामी बालकों का गुरुपदोचित माहात्म्य तो दूर बल्कि गुरूद्वारपदोचित माहात्म्य भी नष्ट हुआ समझना चाहिए। अत: मंदिरों द्वारा पुष्टिभक्ति का उपदेश देकर, अपने वर्णाश्रमोचित कर्म का (कर्म कराने वाले पुरोहितों का भी; सच में या नहीं ? गो.श्याम.) पोषण कर पतितों को पावन करना चाहिए। जो ऐसा नहीं करते वे गोस्वामी बालक 'पतिव्रतापति:' नाम की व्याख्या में वर्णित बीजक्षेत्र में तारतम्य के उदाहरण हैं। अत: मंदिर विरोधी आंदोलन निर्मूल है।

समाधान - दक्षिण भारत से श्रीमहाप्रभुजी-श्रीप्रभुचरण जब अडेल-गढा-मथुरा-गोकुल में स्थायी आवास बनाकर रहने लगे, तब अन्य भी कई इनके सजातीय भट्टों के परिवार उत्तर में जहां-तहां बस गये। इनमें से कितने ही पुष्टिमार्ग में दीक्षित भी हो गये और श्रीमहाप्रभुजी के परिवार के साथ वैवाहिक संबंध से भी जुड़ गये थे। दूसरे कई अलग-अलग संप्रदायों से जुड़कर वहां आदरणीय गुरुपद भी प्राप्त कर सके और आज भी उनके वंशज गुरूपद भोग रहे हैं। यद्यपि साठ-सत्तर वर्ष पूर्व से उनके साथ गोस्वामियों का कोई संबंध रहा नहीं परंतु अभी फिर से जुड़ने लगे हैं। जो परंतु, पुष्टिमार्ग में दीक्षित हुए, उनमें से कितने ही स्वयं समृद्ध होने से गोस्वामी बालकों के साथ वर्गविद्वेष का भाव नहीं रखते। सगे-संबंधी होने पर भी दूसरे कई स्वयं की आर्थिक-सामाजिक विषमता के फलस्वरूप गोस्वामी बालकों के प्रति वर्गविद्वेष की मानसिक ग्रन्थि से ग्रस्त रहते हैं। इस तरह की मानसिक दुर्बलता को क्षम्य समझ कर ही हम निष्पक्ष विचार प्रस्तुत पत्र के लेख के संबंध में कर पायेंगे, अन्यथा नहीं। क्योंकि इनमें से कितने ही आज, गोस्वामी बालकों के प्रति तीव्र और असह्य ईर्ष्या-प्रतिस्पर्धा की मानसिक रुग्णता से जकड़े हुए हैं। अत: किसी न किसी प्रसंग में स्वयं के आंतरिक अमर्ष का विष-वमन करने की वृत्ति पर काबू न पाने के लिए वे बेचारे लाचार हैं।

कोई माने या ना माने परंतु अन्तर्यामी परमात्मा जान सकता है कि मेरा यह सेवा का सिद्धांतशुद्ध प्रकार का लेखन ऐसी किसी भी आन्तरिक ईर्ष्या-प्रतिस्पर्धा -असूया के अभावात्मक मनोभावों से प्रेरित नहीं है। वल्लभवंशजों द्वारा अंधश्रद्धालु बनाई जाकर, तथाकथित आर्थिक शोषण का शिकार बनी वैष्णव जनता के प्रतिनिधि ट्रस्टियों के प्रति प्रतिशोध की

भावना से प्रेरित होकर भी यह लेख नहीं लिख गया है। और मंदिरों में वैष्णव जनता के कानूनी अधिकारों के प्रति भी ईर्ष्या, प्रतिस्पर्धा या असूया से प्रेरित यह लेख नहीं है।

मेरा स्पष्ट अभिप्राय यह है कि, गोस्वामी बालकों का पुष्टिसम्प्रदाय में, 'गुरुपद' कहो या 'गुरुद्वारपद' कहो, जो कोई भी पद वे भोगते हों वह, पुष्टिमार्ग के अनुयायियों के लिए उच्चपद 'था', 'है', 'रहेगा' परंतु, जो पुष्टिमार्ग के अनुगामी नहीं, जिसमें गोस्वामी बालकों के सजातीय भट्टवर्ग और असजातीय सामाजिकवर्ग, जैसे - शिक्षक, डाक्टर, वकील आदि जिसमें आ जाते हैं उनके साथ व्यवहार में गोस्वामी बालकों को नाहक गुरुपद का अभिमान नहीं रखना चाहिए। सामान्य सद्गृहस्थोचित विनम्रता, शालीनता, सौजन्ययुक्त व्यवहार ही ऐसों के साथ निभाना चाहिए। साथ ही साथ जो सजातीय बन्धुवर्ग हैं, उनको भी हमारे प्रति असूयाग्रन्थि की कोई आन्तरिक बाधा हो तो उसका मनोचिकित्सक के पास जाकर निराकरण कराना चाहिए।

इस पुष्टिमार्ग की गाड़ी के दो पहिये गोस्वामी बालक और वैष्णव जनता हैं, इनको भी परस्पर शुद्धसिद्धान्त के विचार से एक दूसरे के हकों का अदब-लिहाज रखना चाहिए। एक दूसरे के आर्थिक शोषण या कानूनी शोषण की आत्मघाती स्पर्धा में उलझना नहीं चाहिए।

इस एक प्राथमिक खुलासे के बाद हमारे सजातीय बंधु द्वारा किये गये आक्षेपों का समाधान क्रमशः देख लेते हैं-

(क/1) जो इन विचारों को मात्र पांच-दस वर्ष का 'बालक-विचार' कहते हैं उन्होंने, श्रीमहाप्रभुजी से लेकर इस लेख में दिये गये कितने ही प्राचीन बालकों के उद्धरण या तो पढ़े नहीं, और जवाब लिख

देने की नादानी दिखाई है या फिर इस लेख में रहे हुए गंभीर मुद्दे को समझ सकने की सामर्थ्य उन्हें प्रकृति से मिली ही नहीं, यह कहना पड़ेगा।

(क/2) कोई भी विशेष सम्प्रदाय अपने मौलिक सिद्धांत और साधना प्रणाली की लाक्षणिकता को सहेज कर रखने की सफलता या विफलता के कारण जीवित या मृत बन जाता है। अतः सैद्धान्तिक शुद्धता के विचार के कारण विभाग पड़ते हों तो समझना चाहिए कि, जो भाग शुद्ध सिद्धांत को अनुसरता है वह जीवित है; और जो विकृत सिद्धांत को अनुसरता है, वह मृत है। अपने शरीर में भी किसी अंग की विकृति के कारण पूर्ण शरीर का नाश होता हो तो डाक्टर उस विकृत अंग को काटकर भी (अर्थात् शरीर के भाग कर के) समग्र शरीर को जीवित रखने का प्रयास करते ही हैं। अतः जिजीविषा (जीने की इच्छा) से विभेद पड़ते हों तो कुछ भी आपत्तिजनक नहीं है, और मुमूर्षा (मरने की इच्छा) से इस शरीर में कैंसर से विकृत अंग को सह लेने की बात भी स्वस्थ विचार तरीके मान्य नहीं हो सकती। अतः सरल श्रद्धालु वैष्णवजनता को उनकी श्रद्धा के शरीर में विकृत प्रणालिका के कैंसर के फोड़े के प्रति सशंक या सभान बनाने में किसी तरह की आपत्ति, मेरी मान्यतानुसार होनी नहीं चाहिए।

(ख/1) गोस्वामी बालकों का पुष्टिमार्गीय मंदिरों से मालिकी हक खंडित हो रहा है, इसलिए स्वार्थहानि से प्रेरित होकर यह आंदोलन चलाने में आ रहे है - यह कहनेवालों को या तो सिद्धान्तों का भान ही नहीं है - या फिर ये लोग सिद्धान्तों के प्रति श्रद्धावान नहीं है अथवा इनको पुष्टिमार्ग और इसके गुरुओं के प्रति कोई असूयातिरेक भी हो सकता है, अथवा तीनों कारण एक साथ ही किसी व्यक्ति के उदाहरण में संभव हो सकते है। इसमें आक्षेपकर्ता इनमें से कौन से कारण से प्रेरित होकर ऐसे

आक्षेप कर रहे है, वह उन्हें अन्तर्निरीक्षण से ढूंढ निकालना चाहिए। श्रीमहाप्रभुजी, श्रीप्रभुचरण की कृपा से प्रभुप्रदत्त बुद्धिसामर्थ्य के अनुसार हमने पुष्टिमार्गीय मूल ग्रन्थों का अध्ययन किया है, अत: हमें समझ और श्रद्धा दोनों हैं। पुष्टिमार्गाचार्य के वंश में प्रभुकृपा से जन्म हुआ होने से पुष्टिमार्ग या उसके गुरुवंश के प्रति प्रश्नकर्ता भाई की तरह वर्गविद्वेष की मनोग्रन्थि की आन्तरिक पीड़ा भी नहीं है। अतएव, इस पुष्टिमार्गीय गुरुवर्ग या अनुगामीवर्ग की आलोचना भी आत्मविश्लेषण की वृत्ति से ही मात्र प्रेरित है - संप्रदायविद्वेष या वर्गविद्वेष को इसमें कोई अवकाश ही नहीं है।

(ख/2) यथार्थ में इसी कारण से हमने तो शपथ-पत्र में भी सुस्पष्ट शब्दों में, ''अपने दिव्य सम्प्रदाय की ऐसी दुर्गति करने की जिम्मेदारी वैष्णवों पर है या महाराजश्रीओं पर, इस विवाद का समय अब बीत चुका है''- ऐसा विधान हृदय से स्वीकार करके ही उस पर हस्ताक्षर किये हैं। यदि महाराजश्रीओं की गलती से यह विकृति अपने मार्ग में शुरू हुई हो तो उसको अनुसरने का दोष या अपराध वैष्णवों का भी है; और यदि वैष्णवों की गलती से यह विकृति अपने मार्ग में शुरू हुई है तो उसका विरोध न करने का दोष महाराजश्रीओं का भी है। अत: हमारा मुख्य मुद्दा दोष तुम्हारा या हमारा, इस बात का न होकर, दोष अपना ही है - अर्थात् गोस्वामी बालकों का है तो वैष्णवों का भी है; और वैष्णवों का है तो गोस्वामी बालकों का भी है। मुख्य मुद्दा वास्तव में यह है कि यह विकृति स्वसिद्धान्त के अनुसार दोष है या नहीं; और दोष है तो उसे दूर कैसे करना?

इस विवाद में, अत:, पुष्टिमार्गसम्प्रदाय या इसके गुरुवर्ग के प्रति प्रश्नकर्ता भाई की तरह वर्गविद्वेष रखने वालों के बीच मे पड़कर वैष्णवों

की वकालत करने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वैष्णव सच्चे श्रद्धालु हों या खोटे अंधश्रद्धालु हों, आखिर हमारे ही हैं। उसी तरह गोस्वामीमहाराज वैष्णवों की श्रद्धा के पोषक हों या उनकी अंधश्रद्धा के शोषक हों, किसी भी परिस्थिति में वे वैष्णवों के 'थे', 'हैं' और 'रहेंगे'। इसमें दूसरों को नाहक माथापच्ची क्यों करनी चाहिए? जिनमें ताकत हो वे हमारे अनुगामी वैष्णवों को अपना अनुगामी बना लें। हम कब किसी वैष्णव को गनपाईन्ट पर पुष्टिमार्ग के ही अनुगामी रहने के लिए बाध्य करते हैं? आज कितने ही वैष्णव स्वामीनारायणपंथ में, कितने ही स्वाध्याय-केन्द्रों में, तो कितने ही गायत्री-परिवार में, तो कितने ही ब्रह्माकुमारी आदि सम्प्रदायों में जुड़ गये हैं। कौनसा गोस्वामी बालक-किससे बलात् पुष्टिमार्ग में ही कैद रखने के लिए झगड़ा करने गया ? एक तो उदाहरण दो!

(ख/3) पुष्टिमार्ग और उसके गुरुपद पर स्ववंश का स्थापन करनेवाले श्रीमहाप्रभुजी का विवेकधैर्याश्रय का उपदेश, उनके ही वंशजों को उनके ही साथ वर्गविद्वेष रखने वालों द्वारा, देने की कोई आवश्यकता नहीं है। और हकीकत में प्रश्नकर्ता भाई श्रीमहाप्रभुजी द्वारा उपदिष्ट, विवेक-धैर्य और आश्रय के उपाय में हार्दिक श्रद्धा रखते होते तो सबसे पहले तो 'विवेकस्तु हरि: सर्वं निजेच्छात: करिष्यति'- उपदेश में विश्वास रखकर, मेरे इन विचारों को भी हरिइच्छा से प्रेरित मानकर उनको, मौनसेवन करना चाहिए था। यदि स्वयं, धर्माधर्माग्र-दर्शन का विवेक हमको समझाना चाहते हैं तो पुष्टिमार्गीयों में धर्माधर्म का विवेक, हम श्रीमहाप्रभुजी के षोडशग्रन्थ से समझेंगे, आक्षेपकर्ता की रुग्ण मानसिकता से नहीं। यदि पुष्टिमार्गीय मंदिरों पर से मालिकी का हक चले

जाने के कारण, 'त्रिदुःखसहनं धैर्यम्' आज्ञानुसार आधिभौतिक, आध्यात्मिक या आधिदैविक किसी भी दुःख को सहन करने की हमें कोई सलाह देना चाहते हैं तो पुष्टिमार्गीय मंदिरों, वो फिर, ठाकुरजी के नाम से चलते हों या यमुनाजी के नाम से, उन मंदिरों से जुड़ी आर्थिक स्वार्थहानि को भी सहन कर लेने की धीरता आक्षेपकर्ता को दिखानी चाहिये। यदि श्रीयमुनाजी के या ऐसे अन्य किसी मंदिर की आर्थिक सुरक्षा हेतु "प्रतिकारो यदृच्छातः सिद्धश्चेत्राग्रही भवेत्" आज्ञानुसार हमारे आन्दोलन के प्रतिकार के रूप में ऐसे आक्षेप करने की छूट लेनी हो, तो हमको भी प्रतिकार करने की छूट श्रीमहाप्रभुजी की ही दी हुई है। आश्रय तो समग्र जगत के प्रभु हैं ही, तो हमारे भी हैं, इसमें तो कहने की कोई बात ही नहीं है। हकीकत में तो उस भगवदाश्रय में निष्ठा के कारण ही हमको लगता है कि सच्चे सिद्धान्तों से वाकिफ होने पर पुष्टिसृष्टि, पुष्टिमार्ग में से जाहिर मंदिरों की सड़ांध को निर्मूल करने में प्रभुकृपा से कभी तो सफलता मिलेगी। इसमें यदि आम जनता में हमारा प्रभाव खतम हो जाए तो वह इतना आपत्ति जनक नहीं, जितना पुष्टिजीवों के हृदय-बुद्धि-व्यवहार पर श्रीमहाप्रभुजी के दिव्य सिद्धान्तों का प्रभाव खतम होना हमें आपत्ति जनक लगता है। इसमें आक्षेपकर्ता को यमुनाजी मंदिर का खुलासा जान लेना चाहिए।

(ग/1) पुष्टिमार्ग में एक विकृति की तरह चल निकली जाहिर मंदिर-प्रणाली की जड़ का सात बालकों के अपने-अपने अलग-अलग, सेव्यस्वरूप की, सेवाप्रणालिका के साथ किसी तरह का कोई संबंध नहीं है, वरना 'सात मंदिरों की सेवाप्रणालिका' कही जाती, 'सात घरों की

सेवाप्रणालिका' नहीं। अतः यह विधान तो पुष्टिमार्ग के सिद्धांत के अज्ञान की तरह इतिहास के भी अज्ञान का सबूत देने वाला है।

(ग/2) श्रीनाथजी ने जब जाहिर मंदिर स्थापना की आज्ञा दी तब श्रीमहाप्रभुजी ने श्रीनाथजी की सेवा गैरपुष्टिमार्गीय बंगालियों को सौंपी थी; और श्रीमहाप्रभुजी के सेवक अच्युतदास सनोडिया, जिनके दर्शन करने श्रीगुसांईजी रोज पधारते थे, जैसे महानतम भगवदीय ने भी श्रीमहाप्रभुजी की आज्ञा होने पर भी, श्रीनाथजीकी सेवा करने की आज्ञा शिरोधार्य नहीं की थी - "तब अच्युतदास को नामनिवेदन कराय कहें 'तुम श्रीगोवर्धनधर की सेवा करो'। तब अच्युतदास श्री आचार्यजी को दण्डवत् कर विनती किये 'महाराज! मों पर ऐसी कृपा करो, जो एकान्त में बैठिके मानसी सेवा में मन लागे।'

इसी तरह कृष्णदास अधिकारी की जब देह छूटी, तब नये अधिकारी के रूप में किसको नियुक्त करना, इस संबंध में श्रीप्रभुचरण की 'संकल्प-विकल्प' वार्ता में वर्णित है कि - "श्रीगुसांईजी आपु श्रीगोवर्धनगधर से पूछे जो 'महाराज! कृष्णदास की तो देह छूटी ओर अधिकारी बिना चलेगो नाहि सो हम कौन को अधिकार दे के बिगार करें। तासों -आपु कहो ताको अधिकारी करें?' - तब श्रीगोवर्धननाथजी कहे जो - 'हमहू कोन जीवकों बिगार करें?! जो कोई अधिकार लेगो ताको बिगार होयगो। तासों तुम एक काम करो - जो अधिकार को दुसाला ले सबके आगे कहो- जाको अधिकार करनो होयगो, सो आपु आयेगो।' यह बिगाड़ की आज्ञा क्या स्वयं श्रीनाथजी की नहीं है? जैसे देवालयकी आज्ञाको भगवदाज्ञा मानकर सर्वत्र जाहिर मंदिर की वकालत करने में आती है वैसे इस 'बिगार' की आज्ञा को भी प्रमाणित मानकर, सर्वत्र

जिनका यह लोक-परलोक बिगड़नेवाला हो वे ही सर्वत्र जाहिर मंदिरों के सेवा-प्रकार को; ट्रस्टी बनकर, अथवा तो तनुजा-वित्तजा के विभाग कर पोषण करते हैं, यह सच्चाई से क्यों नहीं स्वीकारते ? वार्ता में वर्णित एक आज्ञा प्रमाण और दूसरी वार्ता में वर्णित आज्ञा अप्रमाण? यह तो - ''मीठा मीठा गप्प और कड़वा कड़वा थू थू'' - जैसी चालाकी नहीं कहलायेगी?

हकीकत में तो श्रीमहाप्रभुजी ने नवरत्न और विवेकधैर्याश्रय दोनों ग्रन्थों में इस संबंध में खुलासा दिया ही है ''सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छया, अतः सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखम्'' और ''विशेषतश्चेदाज्ञा स्यादन्तःकरण गोचरः तदा विशेषगत्यादि भाव्यं भिन्नं तु दैहिकात्।'' श्रीप्रभुचरण भी इन दोनों वचनों की एकवाक्यता करके खुलासा करते हैं ''गुर्वाज्ञायाः अबाधनं यथा भवति, तथा सेवाकृतिः पूर्वम् अपेक्षिता। एवं वर्तमानानां कदाचिद् विशेषतो भगवदाज्ञा चेद्, गुर्वाज्ञाविरुद्धा भवेत्, तदा तथा कार्यम् इति आशयेन आहुः 'बाधनं वा हरीच्छया' विकल्पेन अबाधनम् इत्यर्थः..... एवं सति गुर्वाज्ञायाः अबाधने बाधने वा सेवैव मुख्या .....।''(नवरत्न प्रकाश)

अर्थात् उत्सर्गतया स्वयं के तन, वित्त, गृह तथा परिजन के समर्पणपूर्वक सिद्ध होती, ब्रजभक्तों के भावों से गोप्य भावनाओंवाली सेवा ही प्रत्येक पुष्टिमार्गीय को करनी चाहिए। इसका विरोध, जब तक सेवाकर्ता को स्वसेव्य की साक्षात अन्यथा आज्ञा न हो तब तक नहीं हो सकता। और इस विरोध की आज्ञा भी जिस विशेष देश, विशेष अवसर पर या विशेष व्यक्ति को लक्ष्य कर देने में आयी हो, उस विशेष देश, विशेष अवसर या विशेष व्यक्ति तक ही सीमित होती है, प्रत्येक के लिए अनुसरणीय नहीं। ब्रजलीला में प्रभु ने गोपिकाओं के चीर हरे इससे प्रत्येक पुष्टिमार्गीय के लिए गांव में निर्वस्त्र घूमने का सिद्धांत स्थापित नहीं

हो जाता। अतः श्रीनाथजी की आज्ञा का 'अनुशरण' या अनुसरण का झंडा ऊंचा करना तो अविचारचापल्य मात्र ही है।

आक्षेप (ग/3) सर्वोत्तमस्तोत्र को सर्वमान्य गिनने में आया है, उसमें तो कुछ आपत्तिजनक है ही नहीं। पर उसमें जो षोडशग्रंथोक्त सेवासंबंधी आज्ञाओं को अमान्य कहने का कुटिल अभिप्राय हो तो वह एकदम नासमझी ही है।

अब सर्वोत्तम स्तोत्र के उल्लिखित नामों पर विचार करते हैं- श्रीमहाप्रभुजी का ''भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृत'' नाम तो शत प्रतिशत सच्चा-सच्चा और सच्चा ही है पर आज तक ''भुविभक्तिभवाड़ैककृते स्वान्वयकृत'' नाम कहीं भी मेरे पढ़ने में नहीं आया। श्रीमहाप्रभुजी ने स्वतनुवित्तजा स्वपरिजनसहयोगसाध्या स्वगृहीया गोप्यब्रजभक्तभाव-भावनात्मिका भगवत्सेवा का उपदेश दिया है। इससे विरुद्ध गांव के पैसे लेकर, पगारदार नौकरों द्वारा, गोपनीय ब्रजलीला के भावों की व्यावसायिक झांकियां, विवाहस्थलों और सार्वजनिक मैदानों में सार्वजनिक विज्ञापन छपवाकर विसम्प्रदायी लोगों की भीड़ इकठ्ठी करना तो भक्ति का प्रचार नहीं पर मात्र फजीहत ही है। भगवान की ऐसी फजीहत करने के लिए श्रीमहाप्रभुजी ने स्ववंश स्थापन नहीं किया था।

''जनशिक्षाकृते कृष्णभक्तिकृत'' नाम के बाबत में भी यही बात कह सकते हैं कि ''जनशिक्षाकृते कृष्णधंधाकृत् निखिलेष्टदः'' नाम श्रीगुसांईजी जी ने कहा नहीं है। मूलतः यह नाम तो श्रीमहाप्रभुजी के संदर्भ में ही है। उनके वंशजों के लिए कोई सन्दर्भ या तात्पर्य इस नाम से जुड़ा हुआ नहीं है। श्रीमहाप्रभुजी तो श्रीकृष्णास्यस्वरूप होने से कृष्णसेवा

नहीं करे तो भी कुछ न्यूनता आती नहीं है फिर भी आपश्री आचार्यरूप में प्रकट होने से, आचार्यत्व के आदर्शानुसार स्वयं कृष्णसेवा में तत्पर रहकर पुष्टिजीवों को कृष्णसेवा की शिक्षा देते हैं। इससे यह आशय नहीं निकलता कि आधुनिक वंशज जनता को पुष्टिभक्ति का शिक्षण देने के लिए सार्वजनिक मंदिर चलायें। क्योंकि उस स्थिति में कृष्णसेवा निरुपाधिक भक्तिरूपा न रहकर, व्यवसायोपाधिक शिक्षणरूपा बन जायेगी। यही करना हो तो एकबार वीडियो कैसेट बनाकर टी.वी. केबल पर प्रसारित करने से भी शिक्षण दिया जा सकता है। अत: शिक्षण देने के लिए व्यावसायिक जाहिर मंदिरों का पाखंड करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

''स्ववंशेस्थापिताशेष स्वमाहात्म्य:'' नाम की व्याख्या में किसी व्याख्याकार के अनुसार 'वंश' पद से पुत्र श्रीगुसांईजी अभिप्रेत हैं। किन्हीं व्याख्याकारों के अनुसार पुत्रपौत्रादि सन्तति अभिप्रेत है। जिन व्याख्याकारों को 'वंश' पद से आचार्यचरणात्मज श्रीगुसांईजी अभिप्रेत हैं उनका 'अशेषमाहात्म्य' से अर्थ श्रीमहाप्रभुजी का सम्पूर्ण माहात्म्य = सामर्थ्य = प्रभाव श्रीगुसांईजी में भी है, ऐसा अभिप्राय है। जिन व्याख्याकारों के अनुसार 'वंश' पद पुत्रपौत्रादिसंतति के अर्थ में है, उनके अनुसार 'अशेषमाहात्म्य' ब्रह्मसंबंधदीक्षोपदेश और कर्तव्योपदेश द्वारा पुष्टिजनों में सेवाधिकार प्रदान करने के अधिकार के रूप में या सामर्थ्य के रूप में अभिप्रेत है। अत: पुष्टिमार्गीय जनता में भगवत्सेवारुचि और उनके घर में भगवत्सेवानुकूलता का विवेक विचार कर ब्रह्मसंबंधदीक्षादान करने के अधिकार के सदुपयोग या दुरुपयोग का मुद्दा ही मुख्य मुद्दा, इस नाम की चर्चा के सन्दर्भ में प्रासंगिक हो सकता है,

जाहिर मंदिर की प्रासंगिकता इस नामकी चर्चा में सिद्ध हो नहीं सकती।

षोड़शग्रन्थ, सर्वनिर्णय, शिक्षाश्लोकी आदि ग्रन्थों में श्रीमहाप्रभुजी ने भक्त्याचार का उपदेश किया है। इसी प्रकार सर्वनिर्णय में ''वर्णाश्रमवतां धर्मे मुख्ये नष्टे, फलेन तु क्रियमाणे न धर्म: स्याद् .... अथापि धर्ममार्गेण स्थित्वा कृष्णं भजेत्'' - वचन मे स्वयं की एतद्विषयक नीति श्रीमहाप्रभुजी ने स्पष्ट लिख कर बताई है। तदनुसार कोई गोस्वामी बालकों के कर्मपुरोहित हों और उनको वर्णाश्रमाचार और वर्णाश्रमधर्म की महत्ता, स्वयं की पुरोहिताई कहीं नष्ट न हो जाए, अत: अधिक महत्वपूर्ण लगती हो, तो वह मानवीय स्वभावानुरूप स्वाभाविक और क्षम्य वैचारिक कमजोरी है। हकीकत में तो यावत्शक्य (यथासंभव) वर्णाश्रमाचार का पालन करते हुए भी, शपथपत्रोक्त भक्त्याचार की महत्ता, आवश्यकता या अनिवार्यता अधिक स्वीकारनी चाहिए। तभी कलिकालपतित पुष्टिजीवों का स्वधर्मनिर्वाह और पातित्य से उद्धार संभव है। इसलिए भी जाहिर मंदिर सत्वर बंद हों और शीघ्र पुष्टिमार्गीय वैष्णव स्वयं अपने-अपने घरों में पुष्टिप्रभु की यथोपदिष्ट सेवा में तत्पर हों यह अधिक वांछनीय है। अत: ''भक्त्याचारोपदेष्टा कर्ममार्गप्रवर्तक: पतितपावन:'' नामों की भी शुद्ध अर्थ-संगति समझने का प्रयास करना चाहिए।

अंत में 'पतिव्रतापति:' नामकी व्याख्या में श्रीगोकुलनाथजी कृत क्षेत्र-बीज के तारतम्य का विश्लेषण मूलत: तो मात्र श्रीगुसांईजी में श्रीमहाप्रभुजी का जो अशेषमाहात्म्य है, उसके समर्थन में किया गया है। अर्थात् जैसे श्रीमहाप्रभुजी हैं वैसेही श्रीमहालक्ष्मीजी भी हैं, इसलिए क्षेत्र-बीज उभय अलौकिक होने से 'आत्मा वै जायते पुत्र:' श्रुतिवचनानुसार श्रीगुसांईजी में श्रीमहाप्रभुजी के अशेषमाहात्म्य की

विद्यमानता में आश्चर्यजनक कोई बात नहीं है। इस विश्लेषण को आधुनिक वल्लभवंशजो में अशेषमाहात्म्य है कि नहीं विचार करने के लिए हठात् खींचकर चर्चा के बीच में लाना ही हो तो इस क्षेत्र-बीज के तारतम्य की मीमांसा आखिर क्षेत्रदानकर्ता किसी न किसी भट्ट-परिवार की किसी बहन-बेटी की व्यक्तिगत निंदा के गर्त में अपनी मति को पटकेगी। क्योंकि, श्रीगोकुलनाथजी की व्याख्यानुसार भी - निर्दोष बीज भी जब सदोष क्षेत्र में पड़ता है तब स्वयं के श्रेष्ठ गुणधर्मों के साथ पनप नहीं सकता। अत: इसके आधार पर हमारे गोस्वामीवर्ग की निंदा करने पर आखिर हमारे सजातीय भट्टवर्ग की भी निंदा हो जाती है। जो इस लेखमाला का विषय न होने से, आक्षेपकर्ता का समाधान हम मौन धारणा द्वारा ही करना चाहेंगे! किसी भी स्थिति में ऐसी चर्चा से पुष्टिधर्म के सच्चे स्वरूप की जिज्ञासा में कोई भी ज्ञानवृद्धि संभव नहीं है। अत: आक्षेपकर्ता की आत्मोपालंभ की नादानी निरी हास्यास्पद भी है और क्षम्य भी।

हकीकत में तो गोस्वामी बालकों में वर्णाश्रमधर्म के लोप की चर्चा करने वालों को वर्णाश्रमधर्म में अति निन्दित, अपने मन्दिरों में चलती देवलकवृत्ति की वकालत भी नहीं करनी चाहिए, यदि मात्र वर्गविद्वेष ही हेतु न हो तो। आक्षेपकर्ता भट्टजी को स्मृतिग्रन्थोंका व्यवस्थित अध्ययन करने की सलाह देने की छूट भी अत: मुझे बे-झिझक लेनी पड़ती है। क्योंकि किसी भट्टजी में पुष्टिमार्ग के प्रति आन्तरिक द्वेष के बहुत से कारण, मानवीय दुर्बलता के कारण क्षम्य हो सकते हैं, परंतु वर्णाश्रमधर्म की प्राण सदृश मनुस्मृति का अज्ञान किसी भी द्विज के लिए अक्षम्य है।

प्रश्न (21=23-27)

(21/क) हिम्मतनगर के वैष्णव श्रीठाकुरजी की सेवा के

लिए द्रव्य देने में समर्थ हैं, गरीब नहीं।

(21/ख) मुखियाजी नहीं मिलने के भय का निराकरण अनेक गोस्वामी बालक अथवा आ.पु. वै.परिषद की मदद से संभव है।

(21/ग) नौकरी या धंधे के लिए भवितव्यवादी (होने वाली बात होकर ही रहती है) न बनकर पुरुषार्थ करते रहते हैं परन्तु श्रीठाकुरजी के मंदिर हेतु ''उनको जब पधारना होगा तब पधारेंगे'' ऐसे भवितव्यवाद की अपुरुषार्थी मनोवत्ति को पकड़ कर बैठे रहते हैं।

(21/घ) हिम्मतनगर के वैष्णव बाहर गांव जाकर दर्शन, मनोरथ, कीर्तन या प्रसाद का लाभ लेते ही हैं फिर भी घर के आंगन में यह लाभ नहीं लेने देना, यह कैसी विडंबना है।

(21/ड.) श्रीमहाप्रभुजी का सिद्धांत केवल 'घरमंदिर' के लिए हो तो वह उस जमाने की परिस्थिति के अनुसार घड़ा गया होगा .... उनके लीलाप्रवेश के बाद भारत के कोने-कोने में असंख्य नये मंदिरों की रचना किन सिद्धान्तों के आधार पर हुई? उन मंदिरों को स्थापित कर उनमें श्रीठाकुरजी के स्वरूपों को पुष्ट कर प्राणप्रतिष्ठा कराने वाले गोस्वामी बालकों ने श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धान्तों से विरुद्ध जाकर क्या यह कार्य किया होगा? शांतचित्त से विचारो।

उत्तर (21=23-27)

(21/क-ख) प्रश्न 'क' और 'ख' पर अलग-अलग विचार करना तो जघन्यकोटि की विचारशैली है। यह तो सृष्टि के प्रारम्भ में ही भगवान ने अपने को जघन्यकोटि में ही रखने का संकल्प न कर लिया हो तो इस तरह विचार करना अपने को शोभता नहीं है। सिद्धान्तमुक्तावली और अन्य भी

अनेक ग्रन्थों के आधार पर भगवत्सेवा के पुष्टिमार्गीय प्रकार में सेवा का तनु-वित्तजा होना अपरिहार्य शर्त है, उसके क्रूर विभाग इन दोनों प्रश्नों में करने में आये हैं। प्रश्न (क) में वित्तसेवा करने वाले या जिनके चित्त के भीतर भगवत्प्रवणता नहीं परंतु अंत में अहंकार ही बढ़ने वाला है, ऐसे वैष्णव आज हिम्मतनगर में ही नहीं अपितु गैर हिम्मतनगरों भी खूब बढ गये हैं। तनुजा सेवा करनेवाले मुखिया, भीतरिया आदि जो कि अब मिलने कम हो गये हैं फिर भी मिल तो रहे ही हैं और मिलानेवाले (उपलब्ध करवाने वाले) महानुभाव व्यक्ति, संस्थायें और परिषदें भी हैं, इसमें दो मत नहीं हो सकते। किस तरह के मुखिया, परंतु आजकल मिलते हैं, यह देखने लायक है! हाल ही में एक मंदिर का वृत्तांत मुझे जानने को मिला, वह इस प्रसंग में सुनने लायक है -

बहुत वर्ष पहले, पाकिस्तान बनने पर मुल्तान से आये हुए, एक शरणार्थी वैष्णव भाई को अपनी सरकार द्वारा जमीन दी हुई थी। वर्षों बाद उस जमीन की कीमत लाखों में हो गई। वे वैष्णव भाई पूर्णतया भावुक और ड्राइवरी से अपनी रोजी कमाने वाले, अर्थात जमीन पर मकान बना सके ऐसी आर्थिक स्थिति नहीं। इसके अतिरिक्त उनके आगे पीछे कोई बाल-बच्चे नहीं। इसका लाभ लेकर कई मंदिरवादियों ने इनको समझा दिया कि "चढ़ जा बेटा सूली पर, खुदा भला करेगा"। वे पहले मेरे पास भी आ चुके थे। उनको अपनी जमीन पर एक मंदिर ऐसा बनाना था जिससे वृद्धावस्था में उनको सेवा-सत्संग का सच्चा लाभ और साथ-साथ उचित रहवास भी मिल जाये।

मैंने उस भोले गरीब भाई को उस समय भी बहुत समझाया कि "स्वयं के घर में भगवत्सेवा भगवत्कथा से जितना लाभ मिलेगा, उतना

दूसरे एक जाहिर मंदिर के वृद्ध मुखियाजी ने श्रीठाकुरजी को बहुत दिनों से स्नान ही नहीं कराया, अत: ठाकुरजी श्याम हो गये, पर नया मुखिया मिले नहीं तब तक पुराने को निकालें कैसे? इसी दुविधा में वहां के व्यवस्थापक को एक दिन एक नया युवा मुखिया मिल गया। अत: वृद्ध मुखियाजी को भगा दिया। नये मुखिया को पुराने मुखिया की कमियां बता दी गई, परंतु बहुत दिन से स्नान से वंचित श्रीठाकुरजी का स्वरूप एकाएक श्याम रंग छोड़े नहीं। अत: नये मुखिया ने थककर एक दिन चाकू की धार से घिस-घिस कर, श्रीठाकुरजी को उजला दिया।

उस मंदिर के सभी व्यवस्थापक प्रसन्न हो गये - "नये मुखियाजी कितने योग्य आये हैं! अब अपने श्रीठाकुरजी कितने उज्जवल हो गये!!"

श्रीठाकुरजी के उजला होने का भीतरी रहस्य तो भीतरिया से ही मुझे जानने को मिला।

अतएव मैं भी मानता हूँ कि हर एक क्षेत्र में चलती तीव्र प्रतिस्पर्धा में टिक न सकने की नैसर्गिक विवशता के कारण अयोग्य - अनपढ़ मनुष्यों की बढ़ती आबादी और बेकारी अर्थात नौकरी धंधे की कमी के कारण, मुखिया-भीतरिया के रूप में मजूरी करने वाले मनुष्य मिल भी जाते हैं, यह तो सहज संभव है। इसमें, परंतु, जो संभव नहीं है वह है प्रभु सुख का विचार, सेवा में रही हुई भक्ति-भावना और श्रीमहाप्रभुजी के दिव्य सिद्धान्तों में अपनी निष्ठा!

मुखिया-भीतरिया की नौकरी करने आने वाले व्यक्तियों से धर्म-भावना की अपेक्षा; सेवा के लिए पैसे और मात्र पैसे ही खर्च करने में समर्थ अपने पुष्टिमार्ग के प.भ. (परम भंड) व्यवस्थापकों और

सिद्धान्तानुसार तो, घर के आंगन की भी बात जाने दो, निपट घर के अन्दर ही स्वयं के माथे बिराजते श्रीठाकुरजी की सेवा का आग्रह रखते हुए जो दर्शन - मनोरथ-कीर्तन-प्रसाद का लाभ मिल सकता है, वह किसी भी व्यावसायिक दुष्कर्म में पड़े बिना ही मिल सकता है। फिर भी मुखिया-भीतरिया जैसे श्रद्धाविहीन नौकरों द्वारा कराने में आते भक्ति के व्यावसायिक दुष्चक्र में ही भोली धर्मभीरू जनता को फंसाकर रखना कितना नीतिपूर्ण कृत्य हो सकता है !

(21/ड.) श्रीमहाप्रभुजी का स्वयं के घर में - स्वयं के तन-धन-परिजनों के साथ भगवत्सेवा करने का सिद्धांत उस जमाने की परिस्थिति के अनुसार था कि नहीं, इस पर तो हम विस्तार से विचार कर ही चुके हैं। अत: पुनरुक्ति की अपेक्षा नहीं है।

अलबत्ता श्रीमहाप्रभुजी के पश्चात प्रकट हुए श्रीगुसांईजी, सात लालजी, श्रीहरिरायजी, श्रीपुरुषोत्तमजी ही मात्र नहीं परंतु आज से सौ-डेढसौ वर्ष पूर्व के बहुत सारे बालकों के ग्रन्थों में भी स्वगृह में स्वतनुवित्त के विनियोगवाली भगवत्सेवा के सिद्धांत के बारे में कोई दो मत नहीं दिखाई देते, यह तो हम देख ही चुके हैं।

साथ ही साथ यह विकृति कैसे शुरू हुई, इस संबंध के प्राचीन अभिप्राय या करुण उद्‌गार भी हम पढ़ चुके हैं। अत: विवश होकर या तो अपनी तरह अपने पूर्वज भी श्रीमहाप्रभुजी के भगवत्सेवा संबंधी सिद्धान्तों को मात्र किताबी उपदेश मानते थे, यह स्वीकार लेना चाहिए या फिर प्रवर्तमान सेवा प्रकार अधिक प्राचीन नहीं है, यह स्वीकारना चाहिए। मुझे नहीं लगता कि वे पुराने लोग हमारी तरह निष्ठाविहीन दांभिक थे ! अत: या तो कोई उनकी लाचारी या विवशता होगी, जिससे उस समय उनको श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धान्तों से विपरीत चलना पड़ा

होगा, अथवा वे सिद्धांत से विरुद्ध गये ही नहीं हों ! अत: संभव है कि हम उनको पूरी तरह समझ ही नहीं सके !

जैसे श्रीनाथजी की मंदिर स्थापित करने की आज्ञा का भलीभांति विचार किए बिना, उस आज्ञा को अनुसरने की आतुरता में हमने श्रीनाथजी की दूसरी आज्ञा कि "जिसके इस लोकऔर परलोक दोनों का बिगाड़ होना होता है - वही जाहिर मंदिर में अधिकारी बनते हैं" (आज की शब्दावली में ऐसे लोग ही ट्रस्टी बनना चाहते हैं) उसका तनिक भी विचार किया ही नहीं ! कोने-कोने में मंदिर बनाकर भोली जनता का यह लोक और परलोक बिगाड़ने का भयंकर व्यापक अनुष्ठान शुरू करने में आया है।

कभी तो ऐसा भी लगता है कि शायद श्रीमहाप्रभुजी की भविष्यवाणी कि सम्प्रदाय मात्र 500 वर्ष ही चलेगा, उसके अनुसंधान में ही अर्थात उसको सच करने के लिए ही तो मंदिर चलाने की आज्ञा श्रीठाकुरजी ने न दी हो (!) जिससे सभी उसका अनुसरण करें और आखिर "न केवलम् इहलोको, किन्तु परलोकोऽपि नश्यति" प्रमाणित हो जाए ! यह बात आज कितनी सटीक सिद्ध हो रही है कि श्रीमहाप्रभुजी की नादसृष्टि और बिन्दुसृष्टि श्रीमहाप्रभुजी के सच्चे सिद्धान्तों को उस जमाने की कोरी गप मान बैठी है। उसी तरह जिसको करने से इहलोक-परलोक के बिगड़ने की स्पष्ट आज्ञा करने में आयी थी उसी को आज हम अपना 'स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्य: क्वापि कदाचन' मानने लग गए हैं।

कई लोग यह कहते हैं कि सिद्धान्त सच्चे भी हों तो क्या हुआ, हमारे बाप-दादा ऐसे ही करते आये हैं:-

येनास्य पितरो याता: येन याता: पितामहा:।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन् न रिष्यति।।

अर्थात् बाप-दादा जो कर गये हों उसको करने में धर्म की हानि नहीं होती।

हकीकत में 'मनुस्मृति' के इस वचन का इससे अधिक दुरर्थघटन संभव ही नहीं है। मनुस्मृति के अधिकांश व्याख्याकारों ने इस वचन की सुन्दर स्पष्टता की है।

मेधातिथि: ''यो धर्म: पित्रादिभि: अनुष्ठितो - यै: सह प्रीति: भाविता, यै: सह कन्याविवाहादि: कृत:, यैव च शाखा अधीता, स एव पंथा आश्रयणीय: - तथा कुर्वन् न रिष्यति .... अन्ये त्वविदुष पुरुषधर्मेषु अहिंसादिषु प्राप्त्युपायो अयम् .... अग्निहोत्रादयस्तु स्वप्रत्ययापेक्षाएव। अत्र चोदयन्ति 'यदि निर्मूलो पित्रादिभि: अनुष्ठितोऽर्थ: कथं तस्य धर्मत्वम् ? अथास्ति मूलं तत् पुत्रस्यापि भविष्यति किं पित्रादिग्रहणेन? तदेतत् परिहृतम्, अविदुषां = मूलम् अजानानाम् उपदेशो अयम्' इति।

अन्येतु - 'यत्र निपुणतोऽपि निरूप्यमाणे संदेहो न निवर्तते, उभयतो वाक्यार्थप्रतिपत्ति:, तत्र पित्राद्याचरित: पन्था आश्रणीय:' इत्याहु: .... एतदपि चिन्त्यं, न हि नित्यसंदिग्धं नाम प्रमाणमस्ति। अवश्यं हि एकार्थनिष्ठेन वाक्येन भवितव्यं विकल्पितेषु वा पदार्थेषु पित्राद्याचरितं कर्म अनुसरणीयं .... यदि पितृ - पितामहादिभि: कैश्चित् कथंचिद् अधर्म: आचरितपूर्व: आचरितपूर्व: स न आश्रयणीय: इति सतां मार्गम् इत्याह। (मनु मेधातिथि: 4/178)

अनुवाद

जिस धर्म का अनुष्ठान बड़ों ने किया हो उन्होंने जिनके साथ स्नेहसंबंध रखा हो, जिनके साथ रोटी-बेटी का व्यवहार रखा हो, वेद की जिस शाखा का अध्ययन उन्होंने किया हो उसी मार्ग को संतति को अपनाना चाहिए। .... दूसरे व्याख्याकारों के अनुसार यह विधान शास्त्र

का ज्ञान न रखने वालों के लिए है। ऐसे लोगों को अहिंसा आदि मानवीय सामान्य धर्म का ज्ञान बड़ों के आचरण से निर्धारित कर लेना चाहिए। .... अलबत्ता अग्निहोत्र आदि शास्त्रीय धर्म के ज्ञान के बाबत में बड़ों के आचरण का अनुसरण करने की बजाय स्वयं शास्त्र का अध्ययन करके स्वधर्म का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए, ऐसा उनका अभिप्राय है।

कितने ही यहां शंका करते हैं कि ''बाप-दादाओं ने भी ऐसा कोई आचरण किया हो कि जिसके मूल में कोई शास्त्रवचन न हो तो उस आचरण को धर्म तरीके मान्य नहीं किया जा सकता और यदि शास्त्रवचन का कोई मूल उस आचरण के पीछे हो तो वही पुत्र के लिए भी धर्मनिर्धारण की कसौटी बन जायेगा। तब नाहक धर्मनिर्धारण के बाबत में बाप-दादाओं को क्यों बीच में लाना चाहिए! इस शंका के समाधान के रूप में यह जान लेना आवश्यक है कि यह वचन, जो शास्त्र पढकर समझ सकते हों उनके लिए नहीं होकर, अज्ञानियों के लिए धर्मनिर्धारण की कसौटी तरीके समझाने में आया है।

अन्य कई व्याख्याकार यह कहते हैं कि शास्त्रवचनानुसार जब कोई दो बातें एक जैसी प्रामाणिक दिखती हों और उन दो प्रमाणिक कल्पों मे से कौनसा एक कल्प ग्रहण करना, ऐसा संदेह दूर न होता हो, तब ऐसे संदेह को दूर करने के लिए यह विधान है। अर्थात बाप-दादाओं ने दो प्रामाणिक कल्पों में से जो एक कल्प ग्रहण किया हो उससे हमें जुडे रहना चाहिए। यह व्याख्या किंतु विचारणीय है, क्योंकि कोई भी प्रमाण या शास्त्रवचन नित्य-संदिग्ध नहीं हो सकता। अलबत्ता, शास्त्र स्वयं कई बार दो कल्पों में से किसी एक कल्प को अपनाने की छूट देता है, तब बड़ों ने जो कल्प अपनाया हो उसे अनुसरने का नियम यहां समझाने में आ रहा है। किसी भी परिस्थिति में बाप-दादाओं में से कभी किसी ने भी

कुल्लूक :- बहुविधशास्त्रार्थसंभवे पितृ-पितामहाद्यनुष्ठित एव शास्त्रार्थो अनुष्ठातव्यः। (मनु. कुल्लूक 4/178)

अनुवाद :- शास्त्र में कभी अनेक कल्प दिखाये हुए होते हैं। उसमें पूर्वजों ने जिन कल्पों का अनुसरण किया हो उन्हीं का अनुसरण करके शास्त्रीय कर्म का अनुष्ठान करना चाहिए।

राघवानंद :- बहुशास्त्रानभिज्ञस्य शास्त्रवर्त्मानुसारित्वमाह 'येन'इति। 'सतां मार्ग'सद्भिः आचरितं पंथानम्। तेन पित्रादिकृत-मद्यपान मातुलकन्यापरिणयनादिपु नातिप्रसंगः। (मनु राघ. 4/178)

अनुवाद :- जिस व्यक्ति को अनेकशास्त्रों का ज्ञान न हो, उसको यदि शास्त्रानुसार चलने की चेष्टा हो तो बड़ों का अनुसरण करना चाहिए, परंतु बड़ों में भी जो सदाचारी हों उनके मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। बड़ों ने (पूर्वजों ने) भी यदि मद्यपान, मामा की लड़की या बहन के साथ विवाह जैसे अधर्माचरण किये हों तो उनको अनुसरने की आवश्यकता नहीं है।

अतएव सेवा के संबंध में तो श्रीमहाप्रभुजी, श्रीप्रभुचरण आदि के वचन ही पुष्टिमार्गीयों के लिए शास्त्रवचन सम हैं, अतः उनसे विरुद्ध यदि अपने किन्हीं पूर्वजों ने उनकी देश-काल की किसी विवशता के कारण अथवा अज्ञान के कारण कुछ किया है तो उस संबंध में उनको अनुसरने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसी तरह अपने को भी अपनी किसी देश-काल की लाचारी के कारण या अज्ञान के कारण अथवा तो प्रमाद के कारण या फिर स्वार्थहानि की भीति के कारण श्रीमहाप्रभुजी के वचनों के विरुद्ध आचरण करने के लिए बाध्य होना ही पड़ता हो तो कम से कम दैन्यपूर्वक स्वयं की लाचारी को स्वीकार कर सिद्धान्तों को निर्भीकतया घोषित तो करना ही चाहिए। इससे हमने जो कुछ लाचारी से किया हो

उसे अपने वंशज स्वधर्म मान लेने के मोह के गड्ढे में तो न पड़ जाएं! यह कोई छोटा-मोटा धर्म-लाभ या भावीपीढ़ी का हित चिन्तन नहीं है।

किसी भी परिस्थिति में स्वमार्गीय व्यक्ति स्वसिद्धान्त के अनुसार चल सके या नहीं चल सके यह उसका व्यक्तिगत गुण-दोष हो सकता है परंतु समाज में धार्मिक आयोजनों के रूप में आयोजित किये जाते कार्यक्रम या संस्थायें भी स्वधर्म का वचनशुद्ध स्वरूप न प्रदर्शित करे तो स्वयं को 'पुष्टिमार्गीय' कहलवाने की रीति को नितांत गर्हित स्वार्थ के सिवा और कुछ नहीं माना जा सकता।

मनु स्मृति के जिस वचन को उद्धृत कर बाप-दादाओं की दुहाई देने में आई है वह मनुस्मृति स्वयं देवलकों के बारे में क्या कहती है यह भी जान लेना क्या आवश्यक नहीं है?

मनुस्मृति का स्पष्ट शब्दो में विधान है कि "देवलकान् मांसविक्रयिणस्तथा विपणेन च जीवन्तो व्यर्थाः स्युः हव्यकव्ययो। (मनु. 3/152)

ऐसी स्थिति में देवपूजन से स्वयं की आजीविका चलानेवाले; देवप्रसाद के विक्रय के कारण विपणजीवी (व्यापारी)यदि गोस्वामी बालक सिद्ध होते हैं तो, मनुस्मृति के अनुसार वे मांसविक्रेता जैसे अशुद्ध बन जाते होते हैं। अतः धर्माचार्य, स्वधर्माभिमानपूर्वक आचार्यवृत्ति को अपनाकर देवलकता और विपणजीविता का त्याग करें तब ही उनके द्वारा निःशुल्क वितरित किया जाता भगवत्प्रसाद देह, इन्द्रिय, प्राण, अंतःकरण, आत्मा और सकल आत्मीय जनों का शोधक - उद्धारक हो सकता है। अन्यथा उनको स्वयंको मांसविक्रेता जैसा अपवित्र बनाने के षड्यन्त्र में तो उनके द्वारा बेचा जाता प्रसाद भी अत्यन्त अपवित्र होकर आत्मपातक ही सिद्ध होगा। उस (प्रसाद) को नहीं लेने पर ब्रह्म हत्या का

पाप नहीं लग सकता, अपितु अपने श्रीमहाप्रभुजी के वंशजों और अपने सम्प्रदाय को धर्माचार्योचित और धर्मसम्प्रदायोचित गरिमा प्रदान करने वाला महान पुण्यलाभ-जनक सिद्ध होगा। इसके अतिरिक्त कोई कहते हैं कि ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म'' का उद्घोष करनेवाले अपने सम्प्रदाय में देवद्रव्य का प्रसाद भी ब्रह्मात्मक होने से अग्राह्य हो ही नहीं सकता, तो यह बुद्धि का दिवालियापन है! क्योंकि मद्यमांस-सेवन करनेवाला भी खुद के दुष्कृत्य को 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' कहकर छिटक जायेगा। मनुस्मृति में यह भी कहने में आया है-

श्रुति: स्मृति: सदाचार: स्वस्य च प्रियमात्मन:।
एतच्चतुर्विधं प्राहु: साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्।।

(मनु स्मृति 2/12)

इस वचन में कहा जा रहा है कि श्रुतिविरुद्ध, स्मृति का प्रामाण्य गौण बन जाता है। उसी तरह स्मृतिविरुद्ध, सदाचार का प्रामाण्य गौण बन जाता है। ठीक उसी तरह सदाचारविरुद्ध स्वयं की मन पसंद बातों का प्रामाण्य भी गौण बन जाता है। चारों का समन्वय जहां निभता हो वही प्रमाण मुख्य होता है। धर्मनिर्णय की यह शास्त्रीय मर्यादा है।

इसको (शास्त्रीय मर्यादा को) यदि आदर्श व्यवस्था मानकर चलें तो श्रीमहाप्रभुजी - श्रीगोपीनाथजी - श्रीगुसांईजी के वचन अपने लिए वेदत्रयीरूप प्रथम-परम प्रमाण होने चाहिए। इसके अविरुद्ध परवर्ती व्याख्याकारों के वचन स्मृतिरूप संदेह-वारक द्वितीय प्रमाण होने चाहिए। इनसे अविरुद्ध सदाचार अर्थात अपने बाप-दादाओं का आचरण या परम्परा अपने लिए सदाचाररूप संदेहवारक होकर तृतीय प्रमाण होने चाहिए। इनसे अविरुद्ध अपने मन को भाने वाली बातें स्वप्रियतारूप संदेहवारक चतुर्थ प्रमाण होनी चाहिए। अन्यथा तो मनु स्पष्ट शब्दों में

लिखते हैं कि ''धर्मव्यतिकरो दृष्टि:श्रेष्ठानां साहसं तथा। तदन्वीक्ष्य प्रयुंजाना: सीदन्त्यवरधर्मजा।। (मनु 2-15-4)

तात्पर्य यह है कि बड़ों का कौन सा आचरण धर्माचरण था और कौनसा धर्मव्यतिक्रम का साहस था, इसका विवेक रखे बिना, जब कोई मूर्ख उनके आचरण का अनुसरण करे तब विनाश के सिवा कुछ भी हाथ नहीं लग सकता।

अर्थात किसी भी कारण से अपने पूर्वज गोस्वामी बालकों ने श्रीमहाप्रभुजी प्रभृति पूर्वाचार्यों के वचनों से विपरीताचरण का साहस किया हो तो वह उनका सामर्थ्य होगा! इससे - मूढ की तरह, हमें अपने आपको उतना समर्थ नहीं मान लेना चाहिए!!

अपने को श्रीमहाप्रभुजी प्रभृति पूर्वाचार्यों के वचनों के आधार पर ही धर्माचरण और धर्मव्यतिक्रमात्मक साहस का विवेक रखकर बड़ों के मात्र धर्माचरण का ही अनुकरण या अनुसरण करना चाहिए। उनके धर्मव्यतिक्रमात्मक साहस का कदापि नहीं।

दूसरे कई लोग यह भी कहते हैं कि मनुजी ने स्पष्ट आदेश दिया है:- ''सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयात् एष धर्म: सनातन:।।

अर्थात श्रीमहाप्रभुजी के वचनों से सिद्ध ऐसी बातें भी यदि आज अप्रिय-सत्य लगती हों तो उनका उच्चार नहीं करना चाहिए।

मुझे इस संबंध में यह पूछना है कि 'डायबिटीज' बढ़ गयी हो और डाक्टर बूंदी-मठड़ी-रसगुल्ला खाने के शौकीन मरीज को बूंदी आदि खाने की मनाही (अप्रिय-सत्य) करता हो तो उस पर अमल करना कि नहीं? यदि करना, क्योंकि नहीं तो बीमार खुद ही मर जायेगा (!) तो फिर महाप्रभुजी के वचन अपने को पुष्टिमार्ग में जीने के लिए कटु-सत्य होने

पर भी आवश्यक क्यों नहीं लगते ? क्या लौकिक डाक्टर के बजाय श्रीमहाप्रभुजी का माहात्म्य कम हो गया ? अत: मनु के निर्देश लौकिक वाणी - व्यवहार के संबंध में ही है। अन्यथा तो "देवलक ब्राह्मण मांसविक्रेता जितना अपवित्र होता है।" यह स्वयं मनुजी का किया हुआ विधान भी एक अप्रिय-सत्य ही है या कुछ और?

यह मुद्दे शांत चित्त से विचार करने की अपेक्षा रख रहे हैं। पर विचार-सामर्थ्य जगेगा श्रीमहाप्रभुजी के प्रति अहंकाररहित अनन्यनिष्ठा रखने पर ही अन्यथा नहीं .....

प्रश्न (22=28 का सारांश) श्रीमहाप्रभुजी ने कहा है कि सतत सेवा-स्मरण-कीर्तन करते रहना चाहिए। इसीलिए मंदिर चाहिये कि जिससे सारे दिन में जिसको जब समय मिले तभी श्रीठाकुरजी के दर्शन की झांकियों का लाभ ले सके और सामूहिक आनन्द मना सके।

श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धान्तों के प्रति आज तथाकथित अपने पुष्टिमार्गीयों को जितनी अरुचि है, इतनी शायद किसी मर्यादामार्गीय को या विसंप्रदायी को अथवा प्रवाहमार्गीय नास्तिकों को भी होगी या नहीं! इसका एक पब्लिक सर्वे करवाया जाये तो श्रीमहाप्रभुजी द्वारा प्रवर्तित अपने पुष्टिसम्प्रदाय में पांच या अधिक से अधिक दस प्रतिशत से अधिक जनता महाप्रभुजी के सिद्धान्तों के पक्ष में मत नहीं ही देगी। सचमुच में यह एक प्रोजेक्ट हाथ में लेने जैसा है।

श्रीमहाप्रभुजी के मार्ग के या ग्रन्थों के उपदेशक होने का जो श्रेय लेना चाहते हैं, ऐसे विद्वान भी सामान्य जनता के भेड़ियाधसान में बहती बातों को ही आगे बढ़ाने में स्वयं के वैदुष्य की सफलता मानते हैं।

हाल ही एक महानुभाव आज्ञा कर रहे थे कि "सिद्धान्तों का खोटा ढोल बजानेवालों के यहां, इसी नये वर्ष में कितने लोग गये और हमारे यहाँ कितने लोग आये, यह तुम लोगों को स्वयं ही देख-विचार लेना चाहिए"।

हजारों लोगों की भीड़ इकठ्ठा करने में ही यदि वास्तविक पुरुषार्थ हो तो अपने यहां भगती के व्यावसायिक भद्दे प्रदर्शन में इकट्ठा होती भीड़ के बजाय चार या आठ गुना ज्यादा भीड़ श्रीमुरारीबापु की रामकथा में एकत्र होती है। उसी तरह श्रीपांडुरंग शास्त्री की स्वाध्याय रैलियों में भी भारी भीड़ होती है। इसके बावजूद भी अपने यहां इकट्ठा होती टोलियां और मुरारीबापु या पांडुरंगशास्त्री के प्रवचन सुनने जानेवाले श्रोताओं या स्वाध्यायियों के मध्य एक महान लाक्षणिक अन्तर यह है कि अपने यहां आने वाले दर्शनार्थियों में से कितने ही श्रीमहाप्रभुजी को पहचानते भी होंगे तो भी उनके ग्रन्थों या सिद्धान्तों के बारे में कुछ भी नहीं जानते होते हैं! इसके अतिरिक्त उन में भी कितने ही तो ऐसे भी होंगे कि जो मनोरथ जिन गोस्वामी बालक के माथे बिराजते श्रीठाकुरजी का होता होगा, उस बालक तक को नहीं जानते हैं। संभव है कि उनको गोस्वामी बालक के प्रति अनादरभाव भी हो। जबकि-श्रीमुरारीबापु या पांडुरंगशास्त्री के कार्यक्रम में नियम से भाग लेने वाले, परंतु, इनको न जानेवाले या इनके उपदेशों को पसंद न करने वाले कोई दो चार मनुष्य भी मुश्किल से हो सकते हैं?

इससे सिद्ध होता है कि अपने को आज पुष्टिमार्गीय भगवत्स्वरूप चाहिए, पुष्टिमार्गप्रवर्तक श्रीमहाप्रभुजी के वंशज ही गुरुरूप में चाहिए, अति-आग्रह के साथ 'पुष्टिमार्ग' नाम भी चाहिये, पुष्टिमार्गीय सेवा-प्रकार का बाह्यरूप भी चाहिए; परंतु मात्र जो पसंद नहीं, जो चाहिए नहीं

वे हैं श्रीमहाप्रभुजी द्वारा उपदिष्ट सिद्धांत! सिद्धान्तों की वाणी के उच्चार मात्र से ही सब लोगों के छक्के छूट जाते हैं! अपने पूर्वजों से चलती आती मेंड मरजाद का क्या होगा ? अत: 'बाड़ ही खेत को खाये' ऐसी स्थिति श्रीमहाप्रभुजी के कंठत: उपदिष्ट सिद्धान्तों और उनके नाम से चलते सम्प्रदाय के बीच निर्मित हो रही है। ''लीला लाल गोवर्धनधर की।''

सिद्धांत विपरीत प्रचलित ऐसी रूढ़ि की जड़ें भीतर से किसी सत्-श्रद्धा या अंधश्रद्धा पर अवलंबित धार्मिक भावनाओं की आभारी हैं, ऐसा लगता नहीं है। हकीकत में तो एक व्यावसायिक छल-छद्म में रचे-पचे, ग्राहक और विक्रेता की मात्र लाचारी के सिवा, दूसरी कोई गंभीर बात इसमें दिखाई नहीं देती!

एक पक्ष को सिद्धांतशुद्ध दूसरा कोई धन्धा कर सकने का साहस, रु चि या ज्ञान नहीं। दूसरे पक्ष को तैयार माल बिकता हुआ मिलता हो तो स्वयं के घर में भगवत्सेवा की सिरफुटव्वल में पड़ने की श्रद्धा या फुरसत नहीं। ऐसे सभी कारणों से अंधे बहरे परस्पर कुटते रहते हैं!

प्रश्नकर्ता भाई स्वयं 21वें प्रश्न में कह चुके हैं - ''पूज्य जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्यजी का सिद्धांत केवल 'घरमंदिर' के लिए हो तो वह सिद्धांत उस जमाने की परिस्थिति के अनुसार घड़ा गया होगा'' - जिसको मूलवचनों के गंभीर विमर्शपूर्वक हम देख चुके हैं कि वह सिद्धांत उस जमाने की परिस्थिति के अनुसार नहीं अपितु सनातन शास्त्रों के मौलिक अभिप्राय के आधार पर श्रीमहाप्रभुजी ने प्रकट किया था। परंतु आज की तारीख में हमें उनके प्रति इतनी अरुचि जगी है कि ऐसे दिव्य सिद्धान्तों का महत्व अपने को उन सिद्धान्तों को 'जमाने के संयोगानुसार थे' कहकर - कम करने की आतुरता हो रही है। इसके अतिरिक्त उनकी ही किन्हीं मनमाफिक आज्ञाओं का महत्व बहुत अधिक बढ़ाकर वापस

धार्मिक निष्कर्ष भी स्थापित करना चाहते हैं कि श्रीमहाप्रभुजी के अनुसार सेवा-स्मरण-कीर्तन सतत चलते रहने चाहिए, अत: घर में न चलते हों तो मर्यादा मंदिर में जाकर करने चाहिए।

अखंड नाम-स्मरण या पाठ का व्रत लेकर, वह न चलता हो तो क्या उसके टेपरिकार्डर का अखंड वादन कर लेना! यात्रा का नियम लिया हो और यात्रा न हो सकती हो तो उसका विडियो देख लेना! माला फेरने का नियम लिया हो, और नहीं फेर सकते हों तो बिजली के पंखे पर लटकाकर पंखा क्यों नहीं चला लेना कि जिससे माला स्वयं ही फिरती रहे! विवाह करके किसी लड़की को घर लाना धंधे की व्यस्तता के कारण संभव न हो तो किसी को किराये का पति बनाकर वहां भेज देना! ऐसे छल-छद्म और आज के अपने जाहिर मंदिरों के कारण होता सिद्धांत खण्डन, इन दोनों के बीच का अन्तर कौन समझा सकता है!

यदि किसी धार्मिक मनोभाव के संतोष हेतु जाहिर मंदिर की अपेक्षा हो तो मर्यादामार्गीय पूजाप्रणाली वाले श्रीकृष्ण के वैष्णव मंदिर खोलने चाहिए। किसी भी परिस्थिति में 'श्रीमहाप्रभुजी के जमाने के संयोगानुसार घड़ी गई सेवा-प्रणाली' वाले अलग मंदिरों की आवश्यकता क्या है?

प्रश्न (23=29 का सारांश) (23/क) एकादशी का सत्संग हम वैष्णव इकट्ठे होकर कैसे करते हैं ? अपने-अपने घर में वाचन-कीर्तन एकांत में कर लें तो क्या हरकत है ?

(23/ख) स्वयं के घर में सेवा यदि सम्पूर्णतया होती हो और मंदिर की आवश्यकता न हो तो तो फिर वाचन और कीर्तन समूह में करने की क्या आवश्यकता है?

(23/ग) यदि श्रीमहाप्रभुजी का सिद्धांत ऐसा ही है और उसका आशय नितांत यही हो कि घर में ही सेवा करनी चाहिए मंदिर

में नहीं तो फिर सत्संग भी वैष्णवों को घर में ही करना चाहिए, जहां श्रीठाकुरजी की सेवा होती हो। जहां सेवा न होती हो ऐसे घर में सत्संग उचित नहीं। सत्संग-हाल में श्रीठाकुरजी की अष्टप्रहर की सेवा हो नहीं सकती। अतः ऐसे हाल भी सत्संग के लिए उसी सिद्धान्तानुसार अयोग्य हैं।

(23/घ)अतः मंदिर की आवश्यकता है, जहां समूह में वैष्णव समग्र पुष्टिमार्गीय परम्परा का आनन्द ले सकें-सत्संग कर सकें। भक्तिमार्ग के अनुरूप परम्परानुसार प्रत्येक कार्य कर सकें।

उत्तर (23=29)

प्रश्नकर्ता भाई पूछते हैं : यदि सेवा घरके एकांत में करनी आवश्यक हो तो सत्संग भी एकान्त में क्यों नहीं? सत्संग -हाल में किसलिए? मै भी पूछना चाहता हूँ : लग्नविधि अपन सगेसंबंधियों - प्रियजनों को इकट्ठा करके क्यों सम्पन्न करते हैं? अपने-अपने घर में एकांत में यदि लग्नविधि सम्पन्न करनी हो तो नहीं हो सकती? विवाहित युगल को किसी हिलस्टेशन पर हनीमून मनाना हो तो लग्नविधि भी उसी एकांत में क्यों नहीं कर ली जाती?

ऐसी दलील देते आज तक तो मैंने किसी को सुना नहीं !

'सत्संग' शब्द का अर्थ ही है सद्भक्तों का या सत्पुरुषों का संग। उसमें कम से कम दो व्यक्ति तो आवश्यक हैं ही, फिर अधिक तो कितने भी हो सकते हैं। ऐसे सत्संग के कारण हृदय में सद्‌विचार या सद्भाव का उद्भव होने पर, सत्कर्म या सद्‌भक्ति को जाहिर में करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। इसके अतिरिक्त भक्ति तो जीवात्मा-परमात्मा के बीच वात्सल्यलीला या प्रणयलीला जैसी होती है, उसको जाहिर में करने का दुराग्रह तो निरा रसाभास ही कहलायेगा।

यह तो लौकिक उदाहरणों की तुलना में की गई प्रस्तुति है। हकीकत में मूल मुद्दा तो श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धांतों के साथ वफादारी या बेवफाई का है। अतः श्रीमहाप्रभुजी को अभिमत सैद्धान्तिक स्पष्टीकरण खोजने के लिए हमें कुछ मूल बातों पर विचार कर लेना आवश्यक है। जैसे कि सत्संग के अनेक प्रकार संभव है-

(1) स्वमार्गीय सिद्धान्तों का श्रवण-मनन-निदिध्यासन अथवा श्रवण-कीर्तन-स्मरण।

(2) भगवल्लीला का श्रवण-मनन-निदिध्यासन अथवा श्रवण-कीर्तन-स्मरण।

इसमें श्रवण-मनन-निदिध्यासन, ज्ञान प्राप्ति हेतु करने में आते स्वाध्याय के अंग हो सकते हैं। उसी तरह श्रवण-कीर्तन-स्मरण, क्रमशः रुचि-श्रद्धा-निष्ठा आदि विकसित करने में आती भक्तिसाधना के अनुष्ठान के अंग हो सकते हैं।

(1) स्वमार्गीय सिद्धान्तों का श्रवणादि श्रीमदाचार्यचरण प्रभृति पूर्वाचार्यों द्वारा विरचित ग्रन्थों के स्वाध्याय रूप में जो किया जाता है, उसका भी एक उपभेद फिर दिखाई देता है :-

(1-अ) एक निश्चित संख्या या प्रमाण में शिष्यों को अर्थात् विद्यार्थियों को कराए जाते सिद्धान्त ग्रन्थों के अध्ययन - अध्यापन के रूप में।

(1-आ) अनिश्चित संख्या या प्रमाण में श्रोताओं के समक्ष किए जाते स्वमार्गीय ग्रन्थों पर प्रवचन - व्याख्यानों के रूप में।

इन दोनों में से किसी भी प्रकार से उपदेश या प्रवचन करने वाले आचार्य वंशजों को - गुरुपुत्रों को - गुरु पुत्रियों को - शास्त्रियों को - कथा वाचकों को या सामान्य अनुयायियों को अध्यापक, उपदेशक,

प्रवचनकर्ता तरीके अयाचित - अनिर्धारित गुरु दक्षिणा मिले, तो वह उत्तम प्रकार है। याचना करके पूर्व निर्धारित किया गया पारिश्रमिक या मानदेय मिले, वह जघन्य प्रकार है। किसी भी परिस्थिति में उत्तम प्रकार से या जघन्य प्रकार से इस तरह आजीविकार्थ द्रव्योपार्जन में सैद्धान्तिक बाधा दिखाई नहीं देती। यद्यपि श्रीपुरुषोत्तमजी ने , 'स्ववृत्तिवाद' नाम का ग्रन्थ आचार्यवंशजों की सिद्धांतशुद्ध आजीविका के स्वरूप-निर्धारणार्थ लिखा है तथापि उस न्याय से अन्यों के लिए भी इस प्रकार में कोई सैद्धान्तिक बाधा दिखाई नहीं देती।

इसके अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति अकारण ही उपदेशक या अध्यापक की वृत्ति को आजीविकार्थ स्वीकारे बिना बराबरी वाले सब आपस में मिलकर स्वमार्गीय सिद्धान्तों का जैसे- षोडशग्रन्थ, निबंध, शिक्षापत्र, वार्ता, वचनामृत आदि का श्रवणादि समूह में करें तो सत्संग का यह प्रकार भी परंपरा से प्रचलित, प्रभावशाली और उपयुक्त रहा है - रह सकता है, और रहेगा भी।

इसमें मात्र एक भय यह है कि कई सम्प्रदायद्वेषी धूर्त जीव सत्संग मण्डलों में श्रीमहाप्रभुजी की झूठी प्रशंसा कर-करके घुस जाते हैं और धीरे से श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धान्तों की विकृत व्याख्या करके उन अबोध सत्संगार्थियों को श्रीमहाप्रभुजी के ही नाम से - श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धान्तों से सर्वथा विपरीत विचारों - भावनाओं भजन के प्रकारों या व्यवहार का प्रचार कहीं न कर दें!

अपने सम्प्रदाय में फैली हुई खराबियां - विकृतियां - या दूषण, जो भूतकाल में घुस गये थे अथवा वर्तमान में अतिशय कुटिलता से फैलाने में आ रहे हैं, उसमें कारणभूत ऐसे सत्संग (!) मण्डल ही थे और

बन रहे हैं ! इनको प्रभावशाली तरीके से रोकना संभव ही नहीं है ! इसमें मूल कारण अपने सभी भारतीय धर्मों के दो महान गुणों - विचारस्वातंत्र्य और संस्थाकीय अंकुश का अभाव - का दुरूपयोग ही रहा है।

जैसे जीवित मनुष्य ही बीमार होता है - मृत नहीं, अत: जिंदे को मार नहीं देते। आतिथ्य के सौजन्य के कारण ही सद्गृहस्थों को पाखंडी कई बार ठग लेते हैं परन्तु इससे आतिथ्य सत्कार के आदर्श की संस्कृति को हम त्याग नहीं देते। कई बार घर के बालकों को माता-पिता का लाड़-प्यार ही उद्दंड बना देने में सहायक होता है इसलिए 'छोटे बच्चों को लाड़-प्यार नहीं करना' - यह तो नहीं कहा जा सकता। उसी तरह विचार स्वातंत्र्य और संस्थाकीय अंकुश का अभाव - भारतीय धर्म के इन महान गुणों के दुरूपयोग के कारण ही अपने देश के बहुत सारे धर्मों में बहुत सारी धांधलियां भूतकाल में हुई हैं और वर्तमान में भी चल रही हैं। बावजूद इसके, जिएंगे तो अपने इन्हीं गुणों के साथ, अन्यथा मर जाना बेहतर!

शांकर, रामानुज माध्व सम्प्रदाय की तरह अपने यहाँ भी प्रधान पीठ-गृह उपपीठ-विद्वान शास्त्री आदि जो पद या पदवियां हैं, उनमें शांकर, रामानुज, माध्व आदि संप्रदायों की तरह ही संस्थाकीय अंकुशों का बिल्कुल अभाव प्रवृत्त ही हो रहा है। शांकर सम्प्रदाय में जगद्गुरु पीठ पर अधिष्ठित आचार्य, पद त्याग करके उस पद की प्रतिस्पर्धा में प्रवृत्त हुए 'मंडलेश्वर-महामंडलेश्वर' जैसी पदवियां धारण कर फिर से अपनी शांकर तरीके पहचान कराते हैं। मूल आचार्यपीठ की अकर्मण्यता का लाभ लेकर आचार्यपीठ के शास्त्री दूसरे कई सम्प्रदायों में समग्र सम्प्रदाय के प्रमुख बन गये हैं। ऐसी ही लीलायें अपने मार्ग में भी चल रही हैं। इसका एकमात्र कारण है ---अपने दो महान गुण विचारस्वातंत्र्य और

संस्थाकीय अंकुशों का अभाव। कोई किसी की कुछ सुनने के लिए य। कहने के लिए जवाबदार या अधिकारी न हो तो अपने भारतीय धर्मों को एक भूतप्रेतों की भीड़ ही समझना कि नहीं?

कितने ही आचार्यवंशज आज्ञा करते हैं कि गोस्वामियों में कोई प्रधानपीठाधीश/गृहाधीश सप्त पीठाधीश/गृहाधीश उपपीठाधीश/ गृहाधीश ऐसे पदभेद नहीं होने चाहिए - सब गोस्वामी समान! पुष्टिमार्ग में सृष्टिभेद नहीं होना चाहिए। किसी भी गोस्वामी में दूसरे अकर्मण्य या असंचारी गोस्वामी से दीक्षा लिए हुए वैष्णव परिवारों में घुस कर ब्रह्मसंबंध दीक्षा दे देने, पुष्ट करके ठाकुरजी पधरा देने, या किसी अन्य ने ठाकुरजी पुष्ट करके पधराये हों तो - अपनी मन पसंद सेवा प्रणाली की आज्ञा दे देने की कर्तुम् - अकर्तुम् - अन्यथाकर्तुम् सामर्थ्य है। परन्तु बेटीजी, लालाजी, कथाकार शास्त्रीजी या परम भगवदीय वैष्णवों को यह अधिकार नहीं है।

इसके अतिरिक्त कोई यह कहते हैं कि श्रीमहाप्रभुजी जब गोपीजनों की गुरु के रूप में स्तुति करते हैं तब गोस्वामी बालक ही ब्रह्मसंबंध दीक्षा दे सकते हैं पर बेटीजी नहीं, ऐसा कैसे हो सकता है?

और तीसरे कोई यह कहते हैं कि श्रीमहाप्रभुजी का रक्त मात्र पुरुषसंतति गोस्वामी बालकों और बेटीजी की नसों में ही बह रहा है, ऐसा कैसे कह सकते हैं? बेटीजी के वंशज लालाजी की नसों में भी श्रीमहाप्रभुजी का ही रक्त बह रहा है, अत: किस कारण से वे भी ब्रह्मसंबंध दीक्षा, स्वरूपपुष्टीकरण और सेवोपदेश नहीं कर सकते?

और चौथे व्यावृत्त्यर्थ भागवतकथा के वाचको में से एक महानुभाव मुझ स्वयं को कहते थे कि --- ''बुरा नहीं माने! आप

गोस्वमियों में धर्माचार्योचित, शास्त्राध्ययन किये हुए गोस्वामी कितने हैं? मैं तो भरी सभा में यह बात वैष्णवों को कह देता हूँ। अत: गुजरात के एक गांव में तो मुझे पुराने वैष्णव 'बंडखोर शास्त्री' तरीके बदनाम करने लगे। मैंने कह दिया -- ''आपको बुरा लगता हो तो मेरी भागवतकथा का आयोजन मत करो, मुझे किसी की परवाह नहीं है!'' एक दूसरे व्यावृत्त्यर्थ (!) भागवतकथा करने वाले कथावाचक शास्त्री कहते हैं कि गोस्वामियों को जो पसंद हैं, श्रीमहाप्रभुजी के वे वचन गोस्वामी मानते हैं --- जो महाप्रभुजी को जंचे ऐसी गृहसेवा-तनुवित्तजा आदि गोस्वमियों को कहां मान्य है?

इसके अतिरिक्त पांचवे प.भ.वैष्णव कहते हैं कि ''कोई आजीविकार्थ भगवत्सेवा करते हैं तो महाप्रभुजी के वचनों से विपरीत है- -तो कोई भागवतकथा करते हैं वह भी श्रीमहाप्रभुजी के वचनों से विपरीत क्यों नहीं है? अत: सत्संग तो गोस्वामियों या शास्त्रियों के साथ करने के बजाय वैष्णवों को ही परस्पर मिलकर कर लेना चाहिए।'' सुनी हुई बात के अनुसार सत्संग कराने वाले ऐसे प.भ. बापा कि भाई निर्धारित रकम को नकद रूप में अर्थात सत्संग की दक्षिणा के रूप में नहीं लेते, परंतु काजू-बादाम के पैकेट, वस्त्र, टेपरिकार्डर आदि वस्तु रूप में सब कुछ लेते हैं। उनमें भी, सैद्धान्तिक ग्रन्थाभ्यास थोड़ा बहुत भी होता है या नहीं, यह एक अलग कथा है!

विचारस्वातंत्र्य और संस्थाकीय अंकुश के अभाव के कारण सत्संग की महाभारत इस तरह चलती ही रहती है। जिसके परिणामस्वरूप भड़ूची पंथ, जयगोपालपंथ और प्राचीन पंथो की तरह गोस्वामी-बालक-विरोधी पंथ, गोस्वामी बेटीजी-विरोधी पंथ, यमुनापंथ, गिरिराजपंथ, दामोदरपंथ, वल्लभवंशजों को पुष्टिमार्ग से

नेस्तनाबूद करने हेतु प्रयासरत वल्लभपंथ, उसमें भी पुन: गरमदलपंथ और नरमदलपंथ, ऐसे अनेक पंथ सत्संग के भिन्न-भिन्न प्रकारों में से प्रकट हुए हैं। यह कोई अपनी ही कथा हो ऐसा नहीं है। चैतन्य-सम्प्रदाय में भी, वंश के उत्तराधिकारी गोस्वमियों की पराधीनता से मुक्त होने के लिए गौड़ीय मठ जो स्थापित करने में आया तो, उससे स्वतंत्र 'इस्कॉन हरेकृष्ण संस्था' स्थापित हो गयी! उसके फिर दो भाग होने के समाचार भी सामने आ रहे हैं। स्वामीनारायणपंथ में भी 'अक्षरपुरुषोत्तम' विभाग अलग प्रकट हो गया। जगद्गुरुपीठ और मंडलेश्वरों से स्वतंत्र हो कर जो मिशन अद्वैतवेदान्त के प्रचारार्थ स्थापित हुआ उसमें से भी द्विविध अलग-अलग मिशनों के द्वैत प्रकट हो गये हैं। कुल मिलाकर शुद्धाद्वैतका प्रमाणभूत वचन 'एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय' सत्य साबित होता है!

कई लोग तो मेरे ऊपर भी गम्भीर आरोप लगाना चाहते हैं कि मैं श्यामपंथ चलाना चाहता हूँ। खुलासे में कुछ कहने के बजाय पुष्टिप्रभु श्रीकृष्ण, श्रीयमुनाजी, श्रीमहाप्रभुजी, श्रीप्रभुचरण और उनके सातों आत्मज, उनके बादके श्रीहरिरायजी, श्रीपुरुषोत्तमजी, श्रीलालूभट्टजी आदि प्राचीन ग्रन्थकार, चौरासी - दो सो बावन वैष्णवों जैसे प्राचीन-अर्वाचीन वैष्णवों के चरणविन्दों में एक ही प्रार्थना है कि ऐसी कुमति मेरे दिमाग में कभी भी नहीं जन्मे, इतनी कृपा ये सब मिलकर मुझ पर अवश्य करें! मैं जो, मेरी समझ के अनुसार, पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों को प्रस्तुत कर रहा हूँ यह बात किन्हीं आधुनिक पुष्टिमार्गीय गोस्वामियों, शास्त्रियों या वैष्णवों के गले उतरे या नहीं उतरे, उनकी मुझे लेशमात्र भी परवाह नहीं है। मैं 'श्यामपंथ' चलाना चाहता हूँ, अथवा मुझे 'श्यामपंथ' चला देना चाहिये, ऐसी मेरी निंदा या प्रशंसा दोनों ही मेरे कानों में तीक्ष्णतम शूल से भी तीक्ष्णतर पीड़ादायक होती है।

सत्संग के विचार के प्रसंग में इसके अनियंत्रित प्रकारों के गुणदोषों की संभावना के रूप में इस लंबे विषयान्तर को पाठक आवश्यक और क्षम्य भी समझेंगे ऐसी आशा रखता हूँ।।

अत: सत्संग के ऊपर वर्णित दोनों प्रकारों के पुन: दो भेद हैं :-

(च) श्रीमहाप्रभुजी आदि स्वमार्गीय पूर्वाचार्यों द्वारा विरचित ग्रन्थों के आधार पर।

(छ) पूर्वाचार्यों के उपजीव्य (प्रामाणिक स्रोत) वेदादि शास्त्रों के आधार पर।

(च) स्वमार्गीय सिद्धान्तों का श्रवणादि यदि श्रीमहाप्रभुजी आदि पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों के आधार पर करने में आता हो तो ऊपर वर्णित व्यवस्थानुसार आजीविकार्थ अध्यापन कराने में कोई सैद्धांतिक बाधा आती नही हैं। परन्तु बात यहीं तक सीमित रहे तभी सिद्धांत सम्मत व्यवहार कहलायेगा।

(छ) क्योंकि यदि यह बात श्रीमहाप्रभुजी के ग्रन्थों के उपदेश से आगे बढ़कर श्रीमहाप्रभुजी के उपजीव्य शास्त्रों वेदोपनिषद-गीता-ब्रह्मसूत्र-भागवतादिपुराण आदि शास्त्रों के उपदेशों या प्रवचनों तक खिंचती हो तो, जो उपनीत ब्राह्मण हों, उनको ही इन ग्रन्थों का उपदेशाधिकार है, हर एक को नहीं। अत: श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि :- यदौपनिषदम् ज्ञानं श्रीभागवतमेव वा।

वर्णिनामेव तद्धि स्यात् स्त्रीशूद्राणां ततोऽन्यथा।।

भागवतज्ञानमपि त्रैवर्णिकानामेव, उपासनाया: प्राधान्यात् (भा.नि. 3/178)

अर्थात भूतल पर अवतीर्ण भगवान की भागवतादि पुराणों में वर्णित लीलाओं का श्रवण-श्रावण, स्मरण-स्मारण या कीर्तन मनुष्य मात्र

कर सकता है परन्तु वे भगवद् लीलाएं भागवत पुराण में जहाँ-जहाँ गुंथी हुई हैं वे-वे अंश सर्वाधिकारक होने पर भी समग्र भागवत पुराण सर्वाधिकारक नहीं है, ऐसा श्रीमहाप्रभुजी का स्पष्ट अभिप्राय है। अब यदि यह प्राचीन विचार आधुनिक वर्गविभेदविहीन समाज के निर्माण के आदर्श से विपरीत दिखता हो तो श्रीमहाप्रभुजी पर वर्गभेद के पक्षधर चिंतक होने का आरोप लग सकता है। यद्यपि श्रीमहाप्रभुजी का स्पष्टीकरण इस संबंध में यह हो सकता है कि आधुनिक आदर्श स्वयं ही आधुनिक देश-काल की सामाजिक अपेक्षाओं पर अवलंबित हैं। जबकि श्रीमहाप्रभुजी की मान्यता सनातन धर्मशास्त्र पर अवलंबित है अत: वर्तमान में श्री महाप्रभुजी के सिद्धांत कहने या अनुसरने में जो कुछ भी कठिनाई हो उसे सहने के सिवा कोई उपाय नहीं है।

इसीलिए श्रीपुरुषोत्तमजी अणुभाष्य (1/3/34-38) के प्रकाश में इस बाबत विस्तृत विवेचन कर खुलासा करते हैं :-

यदि श्रीमद्भागवत में वर्णित मात्र भगवल्लीला के अवगाहन का ही शुद्ध निश्छल तात्पर्य हो तब तो, वह श्रीमहाप्रभुजी के पुरुषोत्तमसहस्रनाम (उपलक्षणविधि से - त्रिविधनामावली आदि और सूरदासजी से लेकर श्रीदयारामभाई तक अनेक भक्तकवियों के पद) के अवगाहन से भी संतुष्ट हो सकते हैं। फिर भी जब अनुपनीत (अद्विज, यज्ञोपवीत रहित) कोई ना कोई बहाना ढूंढकर स्वयं को अधिकारी सिद्ध करना चाहते हैं तो वे वास्तव में मात्र मात्सर्यग्रन्थि से ही पीड़ित होते हैं। ऐसे मात्सर्यपीड़ित लोगों का तो भागवतोक्त मनुष्यमात्राधिकारक धर्म के अनुष्ठान का अधिकार भी लुप्त हो जाता है, तो उपनीतमात्राधिकारक भागवतोपदेश का अधिकार तो कहां से हो सकता है? अत: गीता या

भागवत के पाठन या प्रवचन के अधिकार की चर्चा ही अप्रासंगिक बन जाती है।

अत: आजीविकार्थ या धर्मार्थ, अनुपनीत भी वेदादिशास्त्र का उपदेश कर सकते हैं, ऐसी धारणा आधुनिक है शास्त्रसम्मत नहीं।

(2) उपनीतों में से जिनको आजीविकार्थ शास्त्रोपदेश की छूट है, वह मर्यादामार्गीय उपनीतों के लिए शास्त्रसम्मत होने पर भी कोई पुष्टिमार्गीय उपनीत श्रीभागवत का उपदेश आजीविकार्थ करता हो तो वह श्रीमहाप्रभुजी को लेशमात्र भी रुचता नहीं है, अपितु श्रीमहाप्रभुजी को ऐसे प्रकार के प्रति अतिशय घिन है :-

इदं नामात्मकं भगवतो रूपं तत् स्वविक्रेतरि

विक्रयसाध्यातिरिक्तं फलं न प्रय%छति। (भगवत निबंध 3/27)

श्रीभागवत स्वयं - श्रीकृष्ण का ही नामात्मक स्वरूप है। अत: आजीविकार्थ या परोपकारार्थ श्रीभागवत से फंड (धन) इकठ्ठा करना, कृष्ण को बेचकर घर में धन एकत्रित करने जैसी ओछी बात है!

प्रत्यक्षत:, कागज पर छपी हुई भागवतजी की आधिभौतिक पुस्तक के विक्रय की यहां निंदा नहीं है। क्योंकि कोई मूर्तिकार धातु की या पत्थर की श्रीकृष्ण की मूर्ति घड़कर बेचता है अथवा कोई चित्रकार श्रीकृष्ण का चित्र बनाकर बेचता हैं, उसकी निंदा कहीं पर भी की नहीं गयी है। उस मूर्ति में, परन्तु, प्राणप्रतिष्ठा या भावप्रतिष्ठा (पुष्ट) करने के बाद - वह आधिभौतिक रूपाकृति, आधिदैविक बन जाती है, ऐसे आधिभौतिक स्वरूप का विक्रय (उसका नाम 'न्योछावर' या कुछ भी दें सब, एक जैसा ही है) जो कोई करता हो तो ऐसे मनुष्य को चांडाल जैसा अपवित्र गिनने में आया है। क्योंकि इष्टदेव का आजीविकार्थ उपयोग, मनुष्य को 'देवलक' बनाता है।

उसी तरह श्रीमद्‌भागवत का अनुष्ठान भी भगवद्‌रूप होने से उसका आजीविकार्थ उपयोग चांडालोपम अपवित्र बनाने वाला है, ऐसा श्रीमहाप्रभुजी का दृढ़ अभिप्राय है।

आज तो सुंदोपसुंद न्याय से आजीविकार्थ भागवत के कथा वाचक आजीविकार्थ भगवत्सेवा करने वालों की सार्वजनिक रूप से निंदा करते हैं और आजीविकार्थ भगवत्सेवा करनेवाले, आजीविकार्थ भागवत्कथा करनेवालों की निंदा करते हैं।

इसके अलावा कई लोग यह कहते हैं कि मांग कर पैसे नहीं लेने चाहिये पर बिन मांगे जो भागवत के नाम से मिल जाता है वह लेना आपत्तिजनक नहीं होता। ऐसी दलील तो कोई स्वदेह विक्रय करनेवाली भी दे सकती है कि -- ''मांगकर देहविक्रय के पैसे नहीं लेती परन्तु मांगे बिना जो मिल जाता है उसमें संतोष कर लेती हूँ''। परन्तु देहविक्रय को जब अनीति माना गया है तो मांग कर मूल्य लेना या बिना मांगे जो कुछ मिल रहा है, उसमें कोई अंतर नहीं पड़ता। उसी तरह जब भागवत विक्रय को नामापराध गिनने में आया है तब मांगकर पैसे लेना या बिना मांगे लेना, उसमें कोई अंतर नहीं रह जाता।

कई लोग यह कह देते हैं कि भागवत के नामसे धन संग्रह नहीं करना चाहिए। मात्र श्रोताओं की भीड़ इकठ्ठी करनी चाहिए, फिर भागवत् के सिवा किसी और निमित्त से पैसे मांग लेना चाहिए, उसको 'भागवत विक्रय' नहीं कह सकते! यहां - मुम्बई में विदेशी नृत्य सिखाने के लिए बहुत सा निर्दोष प्रचार समाचार-पत्रों में किया जाता था परंतु वास्तव में इसके नाम से रईसों के घरों में देह व्यापार ही चलता था, ऐसा एकबार भंडाफोड़ हुआ था। अत: नाम बदल देने से कार्य का गुण नहीं बदल जाता।

बहुत से लोग यह भी कहते हैं कि जाहिर में भागवत सप्ताह की दक्षिणा या पोथी भेंट लेने पर भागवत विक्रय का दोष लगता है परंतु गुप्तरूप से अर्थात यजमान या कथावाचक के घर में इसकी भेट-दक्षिणा स्वीकारने में भागवतविक्रय का दोष नहीं लगता! तो क्या जाहिर में अपराध को अपराध मानना, गुप्तरूप में नहीं? गुप्तरूपेण की गई अनीति क्या नीति बन जाती है? इस संदर्भ में यह नहीं भूलना चाहिए कि श्रीमहाप्रभुजी ने भागवत के आजीविकार्थ उपयोग का निषेध जिन शब्दों में किया हैं, वे इस प्रकार हैं :-

... ततो भागवतं कृतम्।
एतदभ्यसनाल्लोको मुच्यतेऽनुपजीवनात्।।67।।
साधनं परमेतद्धि श्री भागवतमादरात्।
पठनीयं प्रयत्नेन निर्हेतुकमदंभत: ।।243।।
पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितम्।
वृत्यर्थं नैव युंजीत प्राणै: कण्ठगतैरपि।।253-4।।
तदभावे यथैव स्यात्तथानिर्वाहमाचरेत्।

अर्थात जिनको वेदादि शास्त्रों के माध्यम से धर्म या ब्रह्म का उपदेश करके आजीविका कमाने की छूट मिली हुई है उनके लिए भी श्रीभागवतका सहेतुक या आजीविकार्थ उपयोग श्रीमहाप्रभुजी के भावों के अनुसार अतिशय निंदनीय है, इसमें कोई दो मत नहीं हैं। श्रीहरिरायजी के पितृचरण - श्रीकल्याणरायजी, 'जलभेद' की चौथी कारिका की विवृत्ति में स्पष्टतम शब्दों में विधान करते हैं कि ऐसे लोगों के मुख से कथा सुनना गटर के गड्ढे में पांव रखने जैसी अपवित्र कथा है।

अत: सत्संग के सच्चे स्वरूप का विचार करने पर भगवल्लीला के श्रवण-मनन, निदिध्यासन अथवा श्रवण-कीर्तन-स्मरण का विचार

करने पर पुन: दो रूप स्पष्ट होते हैं --

(च) भागवतशास्त्राध्ययनाध्यापनात्मक

(छ) भक्तिमार्गीय सेवा के अनुकल्पतया
भागवतकथा श्रवणकीर्तनात्मक

(च) अत: ऊपर वर्णित भागवतार्थ निबंध के वचन में श्रीमहाप्रभुजी ने कहा है --- "भागवतज्ञानमपि त्रैवर्णिकानामेव उपासनाया: प्राधान्यात्"। अर्थात भागवत का शास्त्र तरीके अध्ययनाध्यापन त्रैवर्णिकाधिकारक है। कारण कि वह अध्ययनाध्यापन जो कि स्वयं उपासनारूप नहीं है फिर भी उपासना के अंगतया करने में आता है। जैसे-उपनीत द्विजों को श्रौतकर्म का सन्देहरहित अनुष्ठान करने के लिए अथवा औपनिषद ब्रह्म की उपासना का अनुष्ठान करने के लिए वेद के पूर्वोत्तर कांड का सांगोपांग-सरहस्य अध्ययनाध्यापन करना-करवाना होता है। वह स्वयं में उपासनारूप नहीं होने पर भी उपासना के अंगरूप होता है। वह पूर्वोत्तर-कांडीय उपासना के अंगरूप वेदाध्ययन का ही पुन: अवांतर अंगरूप पुराणाध्ययन भी है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द, ज्योतिष जो हैं उनको 'वेदांग' कहने में आया है। उसी तरह स्मृति-सूत्र-पुराण-तंत्र; वेदके रहस्य, यानी हार्द को, समझने के लिए आवश्यक गिनने में आये हैं। इस तरह सांग-सरहस्य वेदका अध्ययनाध्यापन जिसने उपनयन पूर्वक किया हो उसको वेदोक्त कर्मोपासना करने के लिए योग्य अधिकारी के रूप में मान्य किया गया है। बाकी के सभी अनधिकारी कोई कर्म करें तो उस क्रिया या जिज्ञासा द्वारा धर्म या ब्रह्मज्ञान की सिद्धि होना नहीं माना गया है। अत: शास्त्र तरीके भागवत का, अध्यनाध्यापन उपासना का अंग होने से त्रैवर्णिकाधिकारक है। इसीलिए भागवत का उपदेशाधिकार भी अनुपनीतों को नहीं ह।

(छ) भागवत में वर्णित भगवान की अवतारलीला के श्रवण-स्मरण-कीर्तन का अधिकार मनुष्यमात्र को होने से उसमें अधिकारविवेक जागृत रखने की आवश्यकता नहीं है और उस लीला के श्रवण-कीर्तन-स्मरण को आजीविकार्थ या धनसंग्रहार्थ करने की सख्त मनाई है। क्योंकि भगवल्लीला का श्रवण-कीर्तन-स्मरण स्वयं ही उपासना के रूप में भक्तिमार्ग में मान्य है, अत: उसका आजीविकार्थ या धनसंग्रहार्थ प्रयोग वर्जित है।

वेदशास्त्र के अंगतया भागवत्कथा का अध्ययन-अध्यापन, उपासना नहीं अपितु उपासना का अंग होने से, सर्वाधिकारक नहीं है। उपनीत विप्र ही वहां अधिकारी होने से शास्त्रमर्यादा के अनुसार गुरु के रुप में, आजीविकार्थ उसका प्रयोग शास्त्रनुमोदित है। तदुपरांत भी श्रीमदभागवत का आजीविकार्थ उपयोग श्रीमहाप्रभुजी द्वारा वर्जित होने से अन्यों को तो नहीं पर सभी पुष्टिमार्गीयों के लिए बंधनकारी ही है। भागवत के अतिरिक्त शास्त्रों को आजीविकार्थ अर्थात ब्राह्मणवृत्ति के रूप में प्रयोग में लाने पर महाप्रभुजी को आपत्तिजनक कुछ लगता नहीं है।

इसके अतिरिक्त उपासना के अंगरूप में भागवतशास्त्र का अध्ययनाध्यापन जिसने वृत्त्यर्थ न किया हो उसको गुरु बनाने की श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं :- 'मनसि अन्यद् विधाय अन्यथाकरणे न फलसिद्धि: इति अभिप्रायेण आह श्रीभागवततत्त्वज्ञम्' (स.नि.227)

इसी तरह श्रीगोपीनाथजी प्रभुचरण भी आज्ञा करते हैं:-

माहात्म्यज्ञापनायैव श्रवणं गुणकर्मणाम्।
शास्त्राणामुपयोगोऽत्र गुरोर्भवेत्॥
कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दंभादिरहितं नरम्।
श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेत् ------॥ (सा.दी.9-10)

आज तो कई वैष्णव यों समझते हैं कि, ''गोस्वामी बालक जब स्वयं ही भागवततत्वज्ञ नहीं होते तब तो जो कोई स्त्री या पुरुष भागवतकथा करता हो, उससे ब्रह्मसंबंध ले सकते है' (फिर वो कथावाचक शांकर हो या शैव हो या जो कोई हो)''। यह तो श्रीमहाप्रभुजी के मत के संबंध में सम्पूर्ण बेपरवाही रखने की मनोवृत्ति है।

श्रीमहाप्रभुजी के मत के अनुसार जिस तरह भागवत के तत्त्व से अनभिज्ञ कोई गुरु होकर उपदेश नहीं दे सकता, उसी तरह व्यावसायिक कथा करनेवाला या अनुपनीत भी भागवत अथवा तन्मूलक ब्रह्मसंबंधदीक्षा का उपदेशक नहीं बन सकता। अत: इसमें दो मत नहीं कि कुल मिलाकर अंधे बहरे ही आपस में कुट रहे हैं। अत: सत्संग की दौड़ा-दौड़ में श्रीमहाप्रभुजी का आशय कभी भी भूलना नहीं चाहिए। संभव है कि यह मत मुझे या तुम्हें माफिक आता हो या नहीं भी आता हो!

जिन लक्षणों से सम्पन्न गुरु को दीक्षोपदेश करने के योग्य अधिकारी के रूप में श्रीमहाप्रभुजी मान्य करते हैं, ऐसे गुरु यदि न मिलते हों तो, क्या करना? इसकी भी व्यवस्था श्रीमहाप्रभुजी ने स्वयं ही समझायी है:-

तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरे: क्वचित्।
परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र च स्थितम्॥ (सर्वनि. - 228)

भावानुवाद :- कृष्णसेवा-परायण, दंभादि - रहित भागवत तत्त्वज्ञ उपनीत गुरु यदि न मिलता हो तो स्वयं ही किसी भगवन्मूर्ति को अपना आराध्य प्रभु बनाकर भगवत्सेवा में तत्पर हो जाना चाहिए। क्योंकि परमात्मा सर्वोपादान-सर्वात्मा-सर्वव्यापी-सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है। जिस भगवन्मूर्ति के रूप में हम उसे आराध्य बनाकर भजना चाहते हैं

उसका भी आद्योपादान वही है, उसमें भी व्याप रहा है, और उस मूर्ति के रूप में भी अपने भक्तिभाव को स्वीकारने-मानने में भी सर्वज्ञ-शक्तिमान है।

उपरोक्त वचनों की व्याख्या करते हुए श्रीपुरुषोत्तमजी आज्ञा करते हैं:-

''आगे जाकर बलवान कलियुग के कारण यदि अभिलषित लक्षणवाले गुरु न मिलें तो, क्या करना - उसका खुलासा श्रीमहाप्रभुजी यहां देना चाहे रहे हैं। यहां ''स्वयं ही सेवा शुरू कर देनी'' इस छूट का अभिप्राय मात्र श्रीमहाप्रभुजी को ही अपना गुरु मानकर भगवत्सेवा में तत्पर हो जाने से है। यथोक्त लक्षणवाला गुरु नहीं मिले तब ही स्वयं महाप्रभुजी को गुरु मानकर भगवत्सेवा में तत्पर हो जाने की आज्ञा भी स्वयं श्रीमहाप्रभुजी ने ही की है, अत: इस आपद्धर्म के संबंध में श्रीमहाप्रभुजी की आज्ञा का अनुसंधान हृदय में रखकर जो जीव भगवत्सेवा में तत्पर होता है, उस पर दंभी या नुगरा (बिना गुरु का) होने का आरोप नहीं लगता। स्वयं ही भगवत्सेवा शुरू करनेवाले को कभी भगवत्सेवा के बारे में कोई रीतिभांति जाननी हो तो भगवत्सेवा की रीतिभांति जानने वाले किसी अन्य भगवदीय से पूछ कर जान लेनी चाहिए''।

भगवत्सेवामार्ग पर श्रीमहाप्रभुजी को गुरु मानकर दूसरे भगवदीय से मार्गदर्शन प्राप्त कर जैसे आपद्धर्म तरीके से स्वत: सेवा में प्रवृत्त हो सकते हैं, वैसे ही कथाभक्ति के मार्ग पर भी श्रीमहाप्रभुजी को ही गुरु मानकर उनके सुबोधिनी आदि ग्रन्थों का स्वाध्याय और उनके सेवकों की 84-252 वैष्णवों की वार्ताका सत्संग कर सकते हैं। ग्रन्थ या सिद्धांत के बारे में भी जहां कहीं कुछ समझ में नहीं आता हो वहां किसी जानकार पुष्टिमार्गीय ग्रन्थाध्यायी से ग्रन्थरहस्य प्राप्त कर क्यों नहीं आगे बढ़ा जा

सकता? अर्थात आवश्यक नहीं कि 'हम अपने आप समझ नहीं सकते' ऐसे तुच्छ कारण से भगवत्कथोपजीवी कथा बांचनेवाले (वंचकों) का ही हम दु:संग करने लग जाएं। इसीलिए श्रीमहाप्रभुजी सत्संग से भागवत के श्रवण-कीर्तन को अलग मानते हैं। सत्संग और भागवत् दोनों भगवान के आधिभौतिक चरणारविंद हैं। ज्ञान और भक्तिभगवान के आध्यात्मिक चरणाविंद हैं। पुष्टिमार्ग में सेव्य स्वरूप के साक्षात चरणाविंद भगवान के आधिदैविक चरणाविंद हैं। इन छ: चरणों में से, किसी भी एक चरण की प्राप्ति होने पर जीव कृतार्थ हो जाता है:-

सत्संगो भागवतं चेति भगवच्चरणद्वयम् आधिभौतिकम्, ज्ञानं भक्तिश्च आध्यात्मिकम्, चरणावेव प्रसन्नस्य आधिदैविकौ। तन्मध्ये अन्यतरप्राप्तावपि कृतार्थता। (सुबो. 10-3-27)

इस आधार पर आध्यात्मिक चरणों के बहुत से भेदोपभेद होते हैं। इनको एक सारणी के आधार पर समझने का प्रयास करेंगे:-

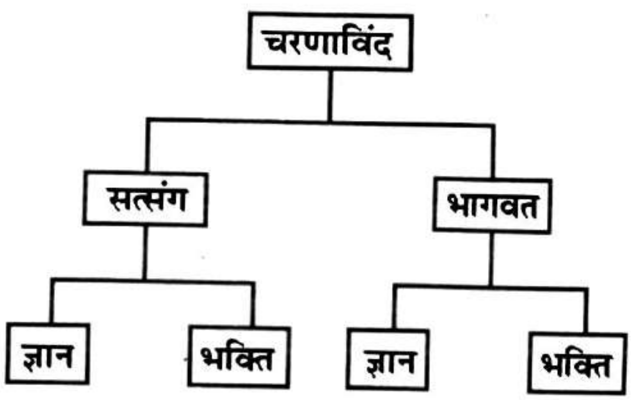

किसी भी स्थिति में भागवत में वर्णित भगवल्लीला के श्रवण-कीर्तन का लाभ, सर्वाधिकारक होने से, गुरु की या बराबर के किसी भी सत्संगी की सहायता से प्राप्त कर सकते हैं। उसी तरह शास्त्र तरीके भागवत का ज्ञान गुरु से अथवा गुरुसदृश उपनीत और भागवत को आजीविकार्थ न वापरने वाले विप्र से प्राप्त करना चाहिए। अत:-

(1) सर्वाधिकारक सत्संग और

(2) उपनीताधिकारक भागवत शास्त्र का अध्ययनाध्यापनार्थ गुरु संग।

ये दोनों विकल्प के रूप में भी मान्य हैं और एक दूसरे के पूरकरूप में भी। अत: सत्संग में श्रवण करके भाव दृढ़ होने पर गुरु से उपदेश ग्रहण करनेवाले और गुरु से उपदेश ग्रहण कर सत्संग से उसे सुदृढ़ करनेवालों के अनेक दृष्टांत 84-252 वैष्णवों की वार्ताओं में मिलते हैं।

इस तरह सत्संग और गुरु संग का अभी गहन विचार करने हेतु श्रीमहाप्रभुजी के दो चार वचनों का मनन कर लेना आवश्यक है:-

(1) लोक में जैसे कोई एकाकी व्यक्ति किसी तरह के रसकी अनुभूति का मजा लेता हो, उसके बजाय बराबर के योग्य सब मिलकर यदि रसानुभूति का लाभ लें - तो वह अधिक सुखकारी होता है। इसी तरह अलौकिक परमानन्द के अनुभव के संबंध में भी यही बात लागू होती है। अत: प्रभु के चरणकमलों का अनन्याश्रय रखनेवाले भी परस्पर सत्संग हेतु घरबार छोड़कर, क्योंकि ऐसे अनन्य भक्तों के साथ अलौकिक परमानन्द का दिव्यभोग अनेक प्रकार से कर सकते हैं, अर्थात मोक्ष प्राप्ति के बजाय भगवत्कथा के श्रवण में अधिक रस विद्यमान है; और यह रस प्राप्त करने में घर यदि प्रतिबंधक होता हो तो ऐसे घर में रहने के लिए

भगवत्सेवा करनेवाले सहमत नहीं होते। इसलिए ऐसे घर को छोड़कर भी सत्संग करने का विधान है। (वेदस्तुति सुबोधिनी 21)

फिर भी एक बात कभी भी भूलनी नहीं चाहिए कि भगवत्सेवा और भगवत्कथा दोनों का समुच्चय अर्थात एक साथ निर्वाह, उत्तमकक्षा की भक्ति का निर्वाह है। दोनों में से किसी एक का निर्वाह उत्तमकक्षा की भक्ति नहीं है। अतएव श्रीमहाप्रभुजी चतुःश्लोकी में -- 'स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यम्' की आज्ञा करते हैं।

इसी तरह भक्तिवर्धिनी में भी स्पष्ट शब्दों में आज्ञा करते हैं कि :-

... भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभि: (उत्तम पक्ष)

... हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत्सदा (मध्यम पक्ष)

ऐसे ही--सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्ति: दृढ़ा भवेत् (मध्यम पक्ष) यहां सेवा या कथा में से किसी एक में भी दृढ़ आसक्ति के कारण भी जब भक्ति को पुष्ट कर सकते हैं तो दोनों का समुच्चय तो बिना कहे ही उत्तम पक्ष सिद्ध हो जाता है। ऐसे ही सेवा या कथा के विकल्प में से किसी एक पक्ष को स्वीकारना मध्यम पक्ष है, यह भी सिद्ध होता है।

निरोधलक्षण में भी "कथा + सेवा = उत्तम पक्ष" कल्पका अनुसरण कर, कथापक्ष में आदर्श विरह भावना का उपदेश और सेवापक्ष में आदर्श मिलन भावना का उपेदश इस तरह दिया है :-

यच्च दु:खं यशोदाया:... तद् दु:खं स्यान्मम क्वचित्।

गोकुले गोपिकानां च सर्वेषां व्रजवासिनाम्।

यत्सुखं समभूत्तन्मे भगवान् किं विधास्यति!

अतएव आधुनिक भक्तों को उत्तमकक्षा की सेवारीति का उपदेश देते हुए श्रीमहाप्रभुजी समझाते हैं कि :- संसारावेशदुष्टानामिन्द्रियाणां हिताय वै। कृष्णस्य सर्ववस्तूनि भूम्न ईशस्य योजयेत्॥

मध्यमकक्षा के केवल कथापक्ष में आदर्श विरहभावना का उपदेश देते हुए श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि :-

उद्धवागमने जात: उत्सव: सुमहान् यथा।

वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित्॥

केवल कथा के अवलम्बन में भक्तिमार्ग की दृष्टि से क्या ताप है, उसका हेतु आप गोपीगीत की सुबोधिनी में बताते हैं। इस निरूपण का अभिप्राय यही है कि :-

मृत्यु आती हो तो अमृतपान मृत्युनिवारक हो सकता है, इससे सदैव ही खाने पीने की वस्तु अमृत नहीं हो सकती। ऐसे ही भगवदनुभूति के लिए तरसते भगवद्विप्रयोगियों को भगवत्कथा-श्रवण अमृतसमान लगता है परंतु इससे साक्षाद् भगवदनुभूति गौण नहीं हो जाती। वरना तो रास में भगवान के तिरोहित होने पर गोपीजन भगवान को ढूंढने के बजाय किसी भागवत्कथावाचक को ही ढूंढते! हाँ, शोधने के बाद भी भगवान कहीं मिलते न हों तो ऐसी विषम परिस्थिति में भगवान की साक्षात् प्राप्ति के अनुकल्पतया भागवत्कथा से काम चला सकते हैं।
(सुबो. 10/28/9 के आधार पर)

मूल में तो गोपीजनों ने किसी कथावाचक की खोज नहीं की है, साक्षात् प्रभु को ही खोज रहे थे और गुणगान किया वह भी परस्पर मिलकर ही, किसी कथावाचक को बुलाकर नहीं और न किसी गोपीने युगलगीत सुनाने की दक्षिणा ही ली थी! 'युगलगीत' किसी सप्ताहविधि से गाया गया गीत नहीं है अपितु नित्यक्रमविधि से गाया गया गीत है। जैसे "मंगलं मंगलं व्रज भुवि मंगलं" नित्यक्रमविधि का गीत है।

श्रीमहाप्रभुजी के लिए भी इसीलिए गाने में आया है :-

प्रकट व्है मारग रीति दिखाई।

कर आरती अनोसर पट दे बैठे, निजगृह आई॥

भोजन कर विश्राम छिनक ले, निज मंडली (गांव को नहीं) बुलाई॥

करत कृपा निज (गांव नहीं) दैवी जीवन पर, श्रीमुख वचन सुनाई॥ वेणुगीत पुनि युगलगीत की, रस-बरखा बरसाई।

सेवारीति प्रीति ब्रजजनकी, जनहित (आजीविकार्थ नहीं) जग प्रगटाई॥

ऐसी जो जीवन जीने के प्रणाली है उसे आजीविका बनायेंगे तो दुर्गति हुए बिना रहेगी नहीं, इसीलिए सूरदासजी भी हमें यही पूछते हैं - 'सूरदास भक्तन् सों मिलिके, हरि जस काहे न गावे!'

युगलगीत की सुबोधिनी के प्रारम्भ में भी श्रीमहाप्रभुजी ऐसी ही आज्ञा करते हैं:-

''शरद की रात्रि में भगवान के साथ रासक्रीड़ा करने के बाद दिन में भी गोपीजन सांसारिक सुखों में रचे-पचे नहीं रहते थे। वे दिन में भी भगवद्गुणगान में तत्पर रहते थे, यह बताने के लिए ही युगलगीत का वर्णन किया गया है।''

स्नान-भोजन-शयनादि अपने जीवन के दैनिक कर्म होते हैं, साप्ताहिक नहीं। पूरे एक सप्ताह सोते ही रहें और दूसरे पूरे सप्ताह में खाते ही रहें तो शीघ्र ही यमपुर पहुंचने की नौबत बजे बिना नहीं रहेगी!

अपने पुष्टिमार्ग में आज ऐसे ही नाटक खेले जा रहे हैं कि जो आह्निक कृत्य अपने मार्ग में था, उसको मर्यादामार्ग की नकल करके हम ने भी, साप्ताहिक कृत्य बना दिया है। भागवत्कथा जो अपनी दिव्य भक्ति-साधना थी, आज निम्नस्तरीय धनसंचय की प्रवृत्ति बन गयी है।

अंततोगत्वा, सत्संग ही दु:संग में विकृत हो गया है। एक

शास्त्रीजी मुझे कह रहे थे कि ''शुकदेवजीने भी सप्ताह (कथा) की थी कि नहीं? गोकर्णजी ने सप्ताह की थी की नहीं ?, इन प्रश्नों के जवाब दो, फिर मुझे बहुत से दूसरे प्रश्न पूछने है।''

मैंने लिखा कि ''शुकदेवजी या गोकर्णजी ने कितनी दक्षिणा या पोथी भेंट ली थी, पहले यह बताओ।''

फिर इसका खुलासा तो किया नहीं, भारपूर्वक पूछने पर अंत में जवाब दिया कि ''आपका पत्र मैंने परिवार में किसी को पढ़ने नहीं दिया। वरना उनको अश्रद्धा हो जाती। होगी हमारी भागवत्कथा गटर के गड्ढे जैसी, परंतु पूज्यपाद गो. श्री--- की आज्ञा से हम करते हैं, अत: हमारा उद्धार होगा''।

अब कोई भी गोस्वामी बालक श्रीमहाप्रभुजी के वंशज होने के नाते पूज्यपाद बनते हैं, ऐसे श्रीमहाप्रभुजी की आज्ञा निरस्त और उनके वंशजों की आज्ञा भी शिरोधार्य है! कहा गया है कि:-

विप्रै: भागवती वार्ता गेहे-गेहे जने-जने।

कारिता कणलोभेन कथासारस्ततो गत:॥

इसीलिए श्रीमहाप्रभुजी ने इससे संबंधित सम्पूर्ण विवेचना भागवतार्थनिबंध में की है :-

भागवतकथा अधिकारी के मुंह से ही सुननी चाहिए, अनधिकारी के मुख से नहीं। अनुपनीत या आजीविकार्थ कथा करनेवाले तो कथा कहने के अधिकारी ही नहीं हैं। इस तरह कथाकार सम्पूर्ण भागवत का ज्ञाता होना चाहिए। सम्प्रदायानुसार जिसने अधिकारी वक्ता से स्वयं भागवत्कथा सुनी हो, ऐसा ही पुरुष वक्ता बनने का अधिकारी होता है। वह स्वयं भी भक्त होना चाहिए। यहां एक शंका होती है कि वक्ता के अधिकारी होने की शर्त क्यों ? श्रोता ही अधिकारी होना चाहिए? वास्तव

में मुख्यता वक्ता के ही अधिकारी होने की है, श्रोता तो जैसा-तैसा हो, तो भी उत्तम बन सकता है। जब सूतजी ने श्रीशुकदेवजी के मुंह से भागवतकथा सुनी थी तो वह कथा उत्तम क्यों नहीं गिनी जाती? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि सूतजीने स्वयं इस भागवतकथा का विक्रय नहीं किया था तथापि उनकी आजीविका तो पुराणकथा कहकर कमाने की ही थी, इसीलिए उनकी भागवतकथा फलवती नहीं बनी। (इसलिये जो कोई भागवतकथा का ही आजीविका के साधनतया उपयोग करता हो तो फिर कहने को कुछ रहता ही नहीं)। भगवान का नामात्मक स्वरूप होने से इसका विक्रय करने वाले को यह भागवत पुराण पैसे के सिवा अन्य कुछ भी सिद्ध नहीं करता।(भाग.नि.1/27)

इससे यह सिद्ध होता है कि भागवतशास्त्र का अध्ययनाध्यापन - उपनीत अधिकारी, यद्यपि मर्यादामार्ग में गुरु-शिष्य के रूप में आजीविकार्थ कर सकते हैं क्योंकि वह शास्त्रानुमोदित है, तथापि पुष्टिमार्ग में भागवतविक्रय सर्वथा निषिद्ध कोटि में गिना गया है। इसके अतिरिक्त शास्त्रोक्त या भागवतोक्त(भागवत का तो शास्त्र तरीके भी नहीं और कदापि नहीं ही) धर्म का उपदेश गुरु रूप से देकर, उपनीत विप्र आजीविका का उपार्जन कर सकता है।

भागवतोक्त भगवल्लीलाओं का श्रवण-स्मरण-कीर्तन कथात्मिका भक्ति साधना है। अत: श्रीमहाप्रभुजी के वंशज या लालाजी या शास्त्रीजी या कोई भी पुष्टिमार्गीय यदि आजीविकार्थ भागवतकथा करता है तो उसकी ऐसी कथा का श्रवण गटर के गड्ढे में पैर रखने के समान, अपवित्र कथा श्रवण है।

भागवत के हार्द का मर्मज्ञ होना, पुष्टिमार्ग में ब्रह्मसंबंधदीक्षा प्रदान करने हेतु अधिकारी की योग्यता की तीन-चार शर्तों में से, एक प्रमुख शर्त है। आत्मसमर्पण सर्वाधिकारक भक्तिमार्गीय सेवासाधना का

अधिकार प्रदान करनेवाला संस्कार है। अत: भागवत का शास्त्रतया गम्भीर अध्ययन जिसने न किया हो वह ब्रह्मसंबंधदीक्षा प्रदान करने के लिए योग्य अधिकारी ही नहीं है।

नये वल्लभपंथी धूतक फैलाते हैं कि ब्रह्मसंबंध तो कोई भी दे सकता है। अत: कोई भी जो कृष्ण-सेवापरायण, दंभादि रहित और भागवत तत्त्वज्ञ हो, वह ब्रह्मसंबंध दे सकता है; परन्तु यह बात ठीक नहीं है। क्योंकि कोई अनुपनीत भी कृष्ण-सेवापरायण और दंभादिरहित हो सकता है पर भागवत का अधीतज्ञ (अधिकारी-मर्मज्ञ) नहीं हो सकता। अध्ययन करे तो भी वह 'अनधिकारचेष्टा' ही कहलायेगी - विप्राधिकारक अध्ययन के नियम के कारण। अत: सत्संग के लिए ऐसे गुरुओं का संग शास्त्रानुकूल प्रकार नहीं है।

भागवतोक्त भगवल्लीलाओं को कहने-सुनने के लिए प्रत्येक स्त्री या पुरुष अधिकारी है। इसके लिए उपनीत या अनुपनीत का कोई अधिकार भेद नहीं है परंतु वह आजीविकार्थ नहीं होना चाहिए। और यदि हो तो, वह पाखंड और पाखंड के सिवा कुछ नहीं है।

ऐसी स्थिति में भागवत-तत्त्वज्ञ गुरु को भागवतोक्त प्रेमात्मिका सेवा-भक्ति की दीक्षा के रूप में आत्मसमर्पण या ब्रह्मसंबंध मंत्र का उपदेश करना होता है। इसमें मंत्र प्रदान करने हेतु 'फिक्सरेट' बांधकर, पैसे मांगना, तो नाम विक्रय ही है। अलबत्ता दीक्षा प्राप्त शिष्य या सेवक स्वेच्छा से यदा-कदा जो कुछ गुरुबुद्धि से भेंट धरते हैं उसको 'स्ववृत्तिवाद' में और जलभेद कारिका की व्याख्या में श्रीपुरुषोत्तमजी ने 'गुरुवृत्ति' के रूप में स्वीकारा है। इसके अतिरिक्त आजकल ठाकुरजी को पुष्ट करने की भी 'फिक्सरेट' रखी जाती है। यह तो स्पष्ट देवविक्रय है और अति जघन्य कोटि का अपराध है। कोई दे तो भी रुपये नहीं लेने

चाहिए। अत: पुष्टिजीवों से उनके भागवतोक्त कर्तव्योपदेश की ही गुरुभेट लेनी निर्दोष है।

कई लोग यह पूछते हैं कि यदि आजके वल्लभवंश इस नियम को पालते न हों तो इस नियम को तोड़ने की छूट दूसरों के लिए क्यों नहीं ?

समाज में समझो कि गुंडे पराये धन या परायी वस्तु को लूट लेते हों - नियम को पालते न हों तो नियम को तोड़ने की यानी कानून को हाथ में लेने की छूट नहीं दी जा सकती। वल्लभवंशज, जिनको श्रीविठ्ठलेश प्रभुचरणने ''भुवि भक्तिप्रचारैककृते स्वान्वयकृत-- स्ववंशे स्थापिताशेष स्वमाहात्म्य:'' वचन द्वारा पुष्टिमार्ग में गुरु होने की स्वरूप योग्यता प्रदान की है वे गुरु होने की फलमुख-योग्यता अर्थात कृष्णसेवा-परायणता, दंभादि-रहितता और भागवत तत्त्वज्ञता, स्वयं के अंदर खिला न सकते हों तो क्या करना? इस संबंध में आपद्धर्मरूप नियम जो ग्रन्थों में मिलते हैं उनको जानकर, समझकर बर्ताव करना चाहिए, परंतु कानून हाथ में नहीं लिया जा सकता। वे (नियम) क्या हैं यह अब हमें देख लेने चाहिये जिससे सत्संग का सच्चा स्वरूप ठीक-ठीक समझ सकें। इसके लिए श्रीमहाप्रभुजी-विरचित सर्वनिर्णय - निबंध के वचन और उनकी व्याख्या के रूप में लिखी गई श्रीगोपीनाथजी प्रभुचरण-रचित 'साधनदीपिका' के वचन देख लेने चाहिए :--

पाषंडमत को अनुसरने वाले अधर्मवर्ती, छलसे धर्ममार्ग को छोड़कर घोर नर्क में पड़ते हैं। आज के कलियुग में तो सभी शास्त्रविरुद्ध आचरण में तत्पर हो गये हैं। वेदादि शास्त्रों के स्वाध्यायादि - कर्मरहित और शौचाचार-विहीन लोग जो थोड़ा बहुत आचार रखते हैं, वे भी इससे संबंधित शास्त्रीय विधि-निषेध के विवेक बिना ही, आचार का आडंबर करते होते हैं। लोगों में जिह्वोपस्थपरायणता अंतहीन बढ़ गयी है,

इसलिए भ्रमित लोगों के मन भी हर ओर भटक रहे हैं। ऐसे व्रात्यप्राय दुष्ट लोग धर्माचरण करें तो भी ऐसे आचरण को 'धर्माचरण' नहीं कहा जा सकता। इस कलियुग में धर्म के सहायक अंग -- देश-काल-द्रव्य-कर्ता-मंत्र और कर्म जब स्वयं ही सब तरह से अशुद्ध हो गये हों, तब इन अंगो के आधार पर सिद्ध होता धर्म स्वयं में धर्म नहीं रह जाता। फिर भी पाषंडमत को अनुसरे बिना यथाशक्ति शास्त्रविहित धर्मका अनुसरण करने वाले यदि गीता-भागवतोपदिष्ट प्रणाली से भगवद्भजन करेंगे तो उनको यह कलियुग बंधनकारी नहीं होगा।

इस तरह भजन करनेवाले भी स्वयं कभी वेदनिंदा और अधर्माचरण न कर बैठें इसका भी खयाल रखना चाहिए, अन्यथा हीन योनियों में जन्म लेना पड़ेगा। श्रीकृष्ण का आश्रय अनन्यभाव से निभाते हुए आत्मसमर्पणपूर्वक अनन्य प्रेम साध सकें तो वह कोटिजन-दुर्लभ लाभ कहा जायेगा। क्योंकि वेदादिशास्त्रों का परमप्रतिपाद्य परमात्मा श्रीकृष्ण ही समस्त जीवात्माओं का परमफल है। इस परमफल के लिए प्रेमरूपा भक्ति प्राप्त करने के साधन श्रवण-कीर्तन-स्मरण-पादसेवन-अर्चन-वंदन-दास्य-सख्य और आत्मनिवेदन हैं। इस तथ्य का प्रतिपादन स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में संक्षेप में किया है। इस गीता का ही विस्तार श्रीव्यासजी ने समाधिभाषा रूप श्रीमद्भागवत में किया है।

यह मार्ग सर्वमार्गों में उत्तम है परंतु, हरिकृपा बिना इस मार्ग में रुचि पैदा होना संभव नहीं है। अत: हरिकृपा जिन पर बरसी है उनके लिए प्रारम्भ से ही क्या क्या साधन हैं, उनका निरूपण किया गया है - जो सेवा का उपदेश करते हों उनको सर्व प्रथम स्वयं भी सेवापरायण होना चाहिए। वह कृष्णसेवा दंभ (काम-वासना, धनलोभ या लोक में प्रसिद्धि) आदि हेतुओं से प्रेरित नहीं होनी चाहिए। सेवा भी गीता -भागवतोक्त प्रणाली से

प्रामाणिक होनी चाहिए, तभी फल सिद्धि होती है। अत: जो सेवाका उपदेश करते हों उनको भागवत्-तत्त्वज्ञ पुरुष होना आवश्यक है। (सर्वनिर्णय.नि. 211-227)

श्रीमहाप्रभुजी के ग्रन्थों और सिद्धांतों की अनभिज्ञता और गैर-समझ की सोलह की सोलह कलाओं को वंशानुगत संपत्ति के रूप में प्राप्त करने वाले, फिर भी पुष्टिसिद्धान्तों के स्वयं को उद्धारक मानने की ग्रन्थि से पीड़ित कितने ही भगोड़े लेखक इस ''कृष्णसेवापरं वीक्ष्य..तदभावे स्वयं वापि'' कारिकाओं को पुष्टिमार्गी नहीं मानकर - मर्यादामार्गीय उपदेश मानते हैं।

वल्लभवंशजो को नष्ट करने के इच्छुक ऐसे विधान करनेवालों को होश नहीं है कि इस श्लोक की व्याख्या करते हुए श्रीपुरुषोत्तमजी ने स्पष्ट लिखा है कि ...

तेन ब्रह्मसंबंधोऽपि फलमुख: तस्यैव इति सिद्ध्यति। (सर्व.नि.आ.227)

अर्थात ब्रह्मसंबंधदीक्षा भी वैष्णवों को क्या ऐसे मर्यादामार्गीय पुरुषों से ही लेनी? श्रीमहाप्रभुजी के वंशजों से नहीं! इस तरह श्रीवल्लभवंशजों को सदा के लिए निर्वीर्य बना देने के षड़यन्त्र के ये सूत्रधार भोले गो. बालकों को --''तत्र वंशकर्तु: मुख्यत्वात् महत्त्वात् च तदीयत्वख्यापनेन तस्य कीर्ति: भवति'' (सुबो.1/8/31) वचन का अत्युत्तम मृगजल दिखाकर ललचाते होते हैं। अत: बाड़ ही खेत को खाने जैसा आचरण हो रहा है। (अस्तु!)

श्रीमहाप्रभुजी के ज्येष्ठात्मज श्रीगोपीनाथ प्रभुचरण भी इस अंश की व्याख्या में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि :-

संसारभय से छुटकारा चाहने वालों को सर्वात्मा - परमात्मा परमेश्वर भगवान श्रीहरि का श्रवण-कीर्तन-स्मरण करना चाहिए...

भगवान के शास्त्रसिद्ध माहात्म्य को अच्छी तरह जानने के बाद जीवात्माका परमात्मा के प्रति सुदृढ़ सर्वतोधिक स्नेह ही 'भक्ति' कहा गया है। अत: माहात्म्यज्ञान का उपदेश प्राप्त करने के लिए भगवान के गुण-कर्मों का श्रवण आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्ति शास्त्रों से होती है और शास्त्रीय उपदेश के लिए गुरु की आवश्यकता है। वह गुरु कृष्णसेवापरायण दंभादिरहित श्रीभागवत् तत्त्वज्ञ पुरुष होना चाहिए। (साधनदीपिका श्लोक 7-10)

यदि भेड़चाल से आकर्षित होकर खड्ड में न गिरना हो तो सत्संग या गुरुसंग दोनों के बाबत अमुक सभानता रखना अत्यावश्यक है। इसीलिए श्री पुरुषोत्तम जी ने ''कृष्णसेवापरं वीक्ष्य .....'' वचन में 'वीक्ष्य' शब्द की व्याख्या में स्पष्ट खुलासा किया है :-

श्रीमद्भागवत वेदादि सकल शास्त्रों का साररूप ग्रन्थ है। अत: श्रीभागवत तत्त्वज्ञ होने की शर्त के कारण गुरु का भी शास्त्रीय ज्ञान से सम्पन्न होना अत्यावश्यक है। 'वीक्ष्य' अर्थात अच्छी तरह से छानबीन करके किसी को गुरु तरीके स्वीकारना चाहिए। अन्य मार्गों की तुलना में अपने मार्ग का वैलक्षण्य इस छानबीन के उल्लेख से सूचित करने में आया है। अन्यथा जो पुरुष कृष्णसेवापरायण दंभादिरहित और भागवत तत्त्वज्ञ न हो उसका अनुसरण करने से, एक अंधे पशु का अनुसरण जैसे दूसरा अंधा पशु करे और दोनों एक साथ खड्ड में पड़ें, ऐसी विषम स्थिति तो उत्पन्न होगी ही। श्रीमहाप्रभुजी ने जलभेद ग्रन्थ इसी हेतु से प्रकट किया है। जलभेद ग्रन्थ में ''कुल्या:पौराणिका: प्रोक्ता:'' की व्याख्या में श्रीपुरुषोत्तमजी ने इस प्रश्न की विस्तार से छान-बीन की है:-

पानी नहर में से बहकर खेत में पहुंच कर जैसे अनाज पैदा करता है वैसे ही पौराणिक, घर-गृहस्थी चलाने के लिए भगवत्कथा की

आजीविका करने के कारण, अहंता-ममतात्मक संसारासक्ति को बढाने वाले ही होते हैं -- द्वितीय स्कन्ध की सुबोधिनी में -- "श्रवणादि का लाभ प्राप्त करने या उपदेश प्राप्त करने के लिए धन की अपेक्षा रहती है। उसमें धनदाता को सत्फल और प्रतिग्रहीता (पानेवाले) को संसारोत्पत्ति होती है। जिससे पेट भरे, मात्र इतना ही, तत्त्वविचार के लिए कोई स्वीकारे तो तीर्थपर्यटन के दरमियान ली जाती भिक्षा की तरह वह निर्दोष हो सकती है"। वह भी वंशपरंपरा से स्वयं पौराणिक हो तो, अन्यथा खुद ही पौराणिक वृत्ति को अपनाता हो तो उसमें श्रोता-वक्ता दोनों को ही भगवत्कथा से संसारासक्ति ही बढेगी। यहां एक शंका होती है कि ब्रह्मवैवर्तपुराण के श्रीकृष्णजन्मखण्ड में "कल्याणसूक्तसामानि हरेर्नामैकमंगलं, कुर्वन्ति विक्रयं ये वै तेषां भारेण पीड़िता ...... मन्नामविक्रयी विप्रो न हि मुक्तो भवेत् ध्रुवं, मृत्युकाले च मन्नामस्मृतिमात्रं न विद्यते" जैसे वचनों के आधार पर नाम विक्रय यदि दोष रूप हो तो शिष्यों को भगवन्नामका उपदेश करने पर भी दोष लगेगा, क्योंकि शिष्यों द्वारा धरी जाती भेंट, गुरु आजीविकार्थ स्वीकारते हैं, अत: वह भी नाम विक्रय ही कहलायेगा न !

यद्यपि यह बात सच है फिर भी गुरुत्व ब्राह्मण की साहजिक वृत्ति है, अत: ब्राह्मण तरीके जीना हो तो इसको छोड़ा नहीं जा सकता... श्रुति में भी... ब्रह्मविद्या का उपदेश करने के बाद शिष्य द्वारा दी गई भेंट ग्रहण करने की बात कही गई है। वही न्याय यहां भी लागू करना चाहिए। सहजकर्म, आसक्ति से अथवा अनासक्ति से, दोनों ही तरह हो सकता है। अत: सहज गुरुवृत्ति को आसक्ति (ब्रह्मसंबंध देने की फ़िक्सरेट या पुष्ट करके ठाकुरजी पधारा देने की भी फिक्सरेट) से अथवा अनासक्ति [ऐसी भेंट लिए बिना अन्य प्रसंग में मात्र गुरु-शिष्य के भाव से अयाचित भेंट

मिलती हो] से सहजकर्म के भी दोष बढ़ या घट सकते हैं। इसीलिए प्रभुचरण भी आज्ञा करते हैं कि - "विचार करके ही कोई दान करना चाहिए, विशेषत: कृष्णनाम का दान; क्योंकि बिना विचारे दान करने वाला स्वयं ही स्वयं के विनाश को आमंत्रित करता है"। ऐसी जो आज्ञा की है वह स्वयं के एवं शिष्य के 'मात्र उद्धार की विशुद्ध भावना रखने का विचार करके जो दीक्षा दी जाती है उस संदर्भ में' समझने की है। धनलोभ हेतु यदि अधिकारी का विवेक रखे बिना अष्टाक्षरमंत्र या ब्रह्मसंबंध दिया जाए (अर्थात् फिक्सरेट मांगकर) तो नाम विक्रय का अपराध लगता है और दीक्षादाता अपराधी बनता है। (जलभेद 3-4 विवृत्ति का भावानुवाद)

इसमें समझने लायक बात यह है कि जो कुल परंपरा से पौराणिक हो तो उनकी सहज वृत्ति मान सकते हैं, जैसे ब्राह्मण की गुरुत्व वृत्ति सहज है। जिनकी गुरुत्व वृत्ति सहजतासे शास्त्रानुमोदित (जन्मना ब्राह्मणो गुरु:) नहीं, ऐसे लोग यदि आजीविका के लिए गुरुत्व धारण कर लें तो सहज नहीं कहे जाते। ऐसी परिस्थिति में, उनको शास्त्रानुसार छूट है कि नहीं, यह भी विचारणीय हो जाता है। वह छूट भी शास्त्र पुन: शास्त्र व्यावृत्ति के लिए देता है कि नहीं, उसका विचार भी आवश्यक हो जाता है।

इसीलिए श्रीपुरुषोत्तमजी ने स्ववृत्तिवाद ग्रन्थ में श्रीमहाप्रभुजी के वंशजों की आजीविका गुरुत्व के रूप में निर्धारित की है, क्योंकि अंतत: तो वल्लभवंशज ब्राह्मण हैं। ब्राह्मणों के लिए यजन-शास्त्राध्ययन-दान शास्त्रानुसार धर्म के रूप में निर्धारित हैं और याजन-अध्यापन-प्रतिग्रह शास्त्रानुसार आजीविका रूप से निर्धारित हैं। यद्यपि यजन-याजन की जगह अपने यहां वित्तजा और तनुजा सेवा ले सकते हैं परंतु सिद्धान्तमुक्तावली की टीका में श्रीपुरुषोत्तमजी ने इस संबंध में भी खुलासा किया है :-

यजमान जैसे पुरोहित को वित्त देकर यज्ञ करा लेते हैं वैसे अपने मार्ग में किसी (उदाहरणार्थ - वल्लभवंशज गोस्वामी) को रुपये-पैसे सामग्री देकर कृष्णसेवा क्यों नहीं करा लेनी चाहिए ? शास्त्र के अनुसार जो कर्ममार्गीय याजन है वह ब्राह्मणकी आजीविकाके रूप में विहित है, अत: वहां ऐसा करने पर दोष नहीं लगता। परन्तु भक्तिमार्गीय कृष्णसेवा के लिए (ऐसे ही भगवत्कथा के लिए भी) इनसे आजीविका कमाने की कोई ऐसी छूट नहीं दी गई है। अत: कर्ममार्गीय रीति का अनुकरण भक्तिमार्ग में नहीं किया जा सकता। (सि.मु.वि.प्र.2)

यहाँ पुन: एक प्रश्न खड़ा होता है कि गुरुत्व मूल आचार्य द्वारा सहजतया अनुमोदित वृत्ति होने से, सेवोपदेश करके गोस्वामी बालक अपनी आजीविका उससे कमा सकते हैं। परन्तु दर्शनार्थी जनता से वित्त (नकद या सामग्री) स्वीकार कर उसके बदले में केवल तनुजासेवा नहीं कर सकते।

बहुत से लोग कहते हैं कि ''उत्तमाधिकारी केवल तनुजासेवा नहीं करते परंतु जघन्याधिकारी तो करते ही हैं। गीता में भगवान भी अर्थार्थी भक्त को 'सुकृति' के रूप में बखानते हैं। इसी प्रकार ''सुदुराचारी भी अनन्यभावसे प्रभु को भजता हो तो उसको साधुपुरुष मानना गीता में कहा गया है।'' श्रीप्रभुचरण भी सिद्धांतमुक्तावली की विवृत्ति में आगे जाकर आज्ञा करते हैं.... 'कृतभजनवैयर्थ्यासंभवाद् जन्मान्तरे तत् फलिष्यति।' अत: गोस्वामी बालक अपनी कोई पूर्वजन्म की लेनदेनदारी के कारण दर्शनार्थी जनता का दैवी द्रव्य स्वीकार लेते हों या दर्शनार्थी जनता सिद्धान्त की समुचित समझ के कारण गोस्वामियों को गुरु मानकर चरणभेंट धरती हो अथवा नासमझी के कारण पुजारी मानकर अथवा तो - गुरु के सेव्य-स्वरूप के प्रति भावातिरेक के कारण रोकड़ या

सामग्री भेंट धरती हो, उसमें आपत्ति नहीं है क्योंकि गोस्वमियों का सेव्य-स्वरूप, जैसे उनके लिए अपना है, उसी तरह अनुयायियों के लिए भी होता है। अत: स्व-परोभयार्थ (उभय पक्ष के लिए) है। जबकि वैष्णवों के सेव्य-स्वरूप उनके स्वयं के लिए ही सेव्य होते हैं, अन्य के लिए नहीं। इसके अतिरिक्त ''द्वंद्वसमास के अंत में जोड़े गए शब्द उसके पहले आते दोनों शब्दों के साथ अलग-अलग जोड़ कर भी अर्थघटन कर सकते हैं''। इस नियम के कारण उदाहरण के लिए - 'रामलक्ष्मणदास' का अर्थ रामदास और लक्ष्मणदास हो सकता है। इसीलिए, तनुवित्तजा का अर्थ तनुजा और वित्तजा भी हो सकता है। जन्मजन्मातर की अदृष्ट आधिदैविक लेनदारी के कारण इसकी अपेक्षा गुरुवृत्ति छोड़कर पौरोहित्य वृत्ति अपनाली; यह नहीं कहा जा सकता!

यहां समझने की बात मूल में यह है कि आजकी तारीख में सेवा करनेवाले 99 प्रतिशत वैष्णव अपने घर में तनुवित्तजा अर्थात अपने तनसे और अपने ही धनसे सेवा करते हैं, अत: वे उत्तमाधिकारी सिद्ध होंगे। लेनदार गोस्वामी मात्र तन से, अर्थात देनदार वैष्णवों का द्रव्य, खुद के सेव्यरूस्वरूप के लिए भेंट-सामग्री के रूप में, स्वीकार कर अपना निर्वाह करते हैं। तो पूर्वजन्म की लेन-देनदारी के अदृष्ट कारण से देनेवाले वैष्णवों की रोकड़ रकम या सामग्री पर लेनेवाले गोस्वमियों का ही वास्तविक स्वत्व हो तो 'तनुवित्तजा' पद में 'तनुवित्त' के द्वंद्व को समास करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती! इसके अलावा कभी देनेवाले वैष्णव दर्शनार्थी, समाधानी को मनोरथ के लिए धन देने की ना करें तो लेनेवाले गोस्वमियों को कोर्ट में दावा दाखिल करना चाहिए! और देनेवाले वैष्णव यदि स्वेच्छा से जो कुछ भेंट सामग्री देते हैं उसको पूर्वजन्मके लेन-देन तरीके गिनने में आता हो तो, लेनदार द्वारा भेंट-

सामग्री की रसीद न देकर पार्ट पेमेन्ट की एकनोलेजमेंट रसीद देनी चाहिए। 'तनुवित्त' के द्वन्द्व को अलग कर 'तनुजा' ही यदि सिद्धान्ताभिमत जघन्याधिकार हो तो, इस मार्ग के कितने गोस्वामी महाराज जघन्याधिकारी सिद्ध होंगे! आखिर उत्तमाधिकारी द्वारा जघन्याधिकारी को सेवाका उपदेश देना या जघन्याधिकारी द्वारा उत्तमाधिकारी को सेवाका उपेदश देना, इस ऊटपटांग स्थिति पर भी विचार करना ही पड़ेगा!

भगवान ने गीता में कहा है कि कुछ अर्थार्थी भक्त भी होते हैं, वैसे ही सुदुराचारी भी यदि भजन करता हो तो उसको भी साधु पुरुष समझना। यहाँ अर्थार्थी या सुदुराचारी को भी भजन करने की छूट देने में आयी है या भक्त को अर्थार्थी या सुदुराचारी बनने की छूट देने में आयी है? यह भी शांत चित्त से विचार करने लायक है। ऐसा विचार कर सकें, यह सामर्थ्य जघन्यमतिवाले अधिकारी में नहीं हो सकती!

किया गया भजन व्यर्थ नहीं जाता, तथा जन्मान्तर में कभी न कभी फलप्रद होता ही है। इससे मनमाफिक प्रकार से भजन यानि कि दारू - सिगरेट या अंडे आदि भोग धरकर भजन नहीं किया जा सकता। अपितु विधि के अनुसार ही करना चाहिए। सेवाविधि में तनुवित्तजा के विभाग अथवा लाभपूजार्थ की जाती भगवत्सेवा को पाखंड या धर्माभास मानने में आया हो तो वैसा कार्य नहीं किया जा सकता। पूर्वजन्म के आधिदैविक लेनदेन का बहाना करके किसी की जेब में हाथ डालकर भगवत्सेवार्थ जेब काट लेने जैसा कृत्य पुष्टिमार्ग में क्या कभी अनुमोदनीय हो सकता है? अत: तनुवित्तजा या समर्पण के प्रश्न में पूर्वजन्म के लेनदेन का विचार सर्वथा जघन्यबुद्धि में उपजी एक प्रपंची साजिश ही है!

इसके अतिरिक्त 1-तनुवित्तजा, 2-तनुजा और 3- वित्तजा, ऐसे त्रिविधसेवा के अपसिद्धांत को क्षुद्र व्याकरण के नियम के बंधन के कारण मान भी लें तो भी त्रिविध सेवा का ही प्रसंग उपस्थित होता है। देनदार दर्शनार्थियों के द्रव्य से लेनेवाले गोस्वामी महाराज वेतनभोगी मुखिया-भीतरिया-बालभोगिया, दूधघरियाओं की बटालियन रखकर, न तनुजा और न वित्तजा, केवल नाम की सेवा कराएं तो चतुर्विधसेवा का सिद्धांत तो क्षुद्र व्याकरण के नियमानुसार भी निकलता नहीं है।

अत: भक्ति में वल्लभवंशज गोस्वामी बेटीजी, या लालाजी या शास्त्री कोई भी भगवत्सेवा या भगवत्कथा को आजीविका कमाने के लिए नहीं कर सकते। और यदि करते हैं तो उनका संग 'सत्संग' नहीं कहा जा सकता। अत: सेवा-स्वगृह में स्वयं के तनुवित्तपरिजनों के ही विनियोगपूर्वक करनी चाहिए। सत्संग घर में या घर के बाहर, जो आजीविकार्थ भागवत्कथा या भगवद्गुणगान न करते हों, उनके साथ ही करना चाहिए। शास्त्राभ्यास के लिए शास्त्री या गोस्वामी केवल ब्राह्मणोचित गुरुवृत्ति के रूप मे गुरुदक्षिणा या गुरुभेंट स्वीकारें तो उसमें कोई बाधा नहीं है। पर भागवतशास्त्र को तो उसमें भी अपवाद ही गिनना चाहिए। यह बात भागवत के आधार पर दिये जाते कर्तव्योपदेश पर लागू नहीं होती, यह कर्तव्योपादेश फिर वल्लभवंश करते हों या कोई सामान्य शास्त्री।

भागवत्कथा के आजीविकार्थ उपयोग का निषेध श्रीमहाप्रभुजी ने भगवन्नामात्मक होने के कारण किया है। ऐसी स्थिति में साक्षात् स्वरूपतया सेवित स्वयं के सेव्यप्रभु का आजीविकार्थ उपयोग कैसे सिद्धांतशुद्ध हो सकता है? आजीविकार्थ उपयोग न करना हो तो तनुवित्तजा सेवा के अलग-अलग विभाग करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है।

बहुत से लोगों के अनुसार गो.बालकों को प्रदेश-पधरावनी आदि अनेक प्रसंगों में वैष्णवों द्वारा गुरु के रूप में, चरणभेंट मिलती ही है। गो.बालकों की यह आजीविका सिद्धान्तशुद्ध तरीके मान्य भी है। और क्योंकि गो.बालक गुरुओं की प्रसन्नता नेग,भोग, राग, शृंगारके वैभववाली सेवाप्रणाली के निर्वाह से स्वयं के ठाकुरजी को खूब-खूब लाड़ लड़ाने में होती है, अत: दान (डोनेशन) की भावना से नहीं, परंतु समर्पण की विशुद्ध भावना से ही गुरुद्वारा - गुरु के ठाकुरजी के लिये भेंट-सामग्री विनियोग कराने के प्रकार में सेवा को आजीविका बनाने का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता।

ऐसी भावना परंतु, केवल गुरुओं (पू. पा. लेनदारों) को ही क्यों होती है? किसलिए वैष्णवों (प.भ. देनदारों) को नहीं होती? और होती हो तो, गुरु भी वैष्णवों के श्रीठाकुरजी की सेवा नेग-भोग-राग शृंगार के वैभववाली हो, यह क्यों नहीं चाहते? क्या देनदार वैष्णवों के ठाकुरजी, पुष्टिपुरुषोत्तम नहीं हैं? क्या उनके ठाकुरजी में वैराग्य गुण की ही प्रधानता है- जबकि पू.पा. लेनदार गो. बालकों के श्रीठाकुरजी में ऐश्वर्य गुण की प्रधानता रही हुई है? ऐसा सिद्धांत तो कहीं भी किसी भी ग्रन्थ में दिखाई ही नहीं देता और वास्तव में यदि ऐसा ही हो तो पू.पा. लेनदार गो.बालकों के माथे बिराजते अधिकांश ठाकुरजी 84-252 वैष्णवों के ही माथे पधराने के लिए श्रीमहाप्रभुजी-श्रीप्रभुचरण ने पुष्ट किए थे। अत: उन सभी निधिस्वरूपों में वैराग्य गुण की प्रधानता के कारण नेग-भोग-राग-शृंगारके वैभववाली - सेवाप्रणाली को निभाने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। जैसे कि श्रीमथुराधीश आज भी श्रीपद्मनाभदासजी के भाव से छोले नित्य प्रति आरोगते ही हैं। प.भ. देनदार वैष्णवों को जैसे पू.पा.

लेनदार गो.बालक आत्मीय मानकर खुद के ठाकुरजी के लिये द्रव्य-सामग्री नि:संकोच स्वीकार लेते हैं, उसी तरह ऐसा ही आत्मीय भाव खुद भी निभाकर विशुद्ध समर्पण की भावना से (अर्थात वैष्णवों को भगवत्सेवार्थ कुछ दान दे रहे हैं, ऐसी भावना से नहीं) क्यों पू.पा. लेनदार गो.बालक, भेंट-सामग्री या मनोरथ नहीं कराते? यदि पूर्वजन्म के लेनदेन के कारण ऐसा होता है तो लेने-देने का अर्थात दोनों तरह का व्यवहार निभाना चाहिए, मात्र लेने का ही नहीं। मात्र लेने का ही व्यवहार निभाने में तो श्रीठाकुरजी को लाड लडाने की बजाय पू.पा. लेनदार गो.बालकों की लोभवृत्ति ही सिद्ध होती है।

84-252 वैष्णवों की वार्ताओं का उदाहरण देकर श्रीनाथजी की सेवा प्रणाली के आधार पर जाहिर मंदिर प्रणाली की वकालत श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धांत के रूप में की जाती है। ऐसी दलील देने वाले पुन: देखें - ''तब श्रीआचार्यजी कारीगर सों कहे हमारे ठाकुर को मंदिर... नाहीं। नंदरायजी के घर की न्याई करो... तब श्रीआचार्यजी जाने जो श्रीठाकुरजी की इच्छा यह है जो जगत में पुजाय बहुत जीव को उद्धार करेंगे **सो देवालय की रीति यहाँ राखनी उचित है** (पूरणमल की वार्ता)।'' इसीलिए ब्रह्मसंबंधदीक्षा रहित देवीभक्त बंगालियों को तब श्रीनाथजीकी सेवा सौंपी गई थी। यदि इस प्रकार को आज हम सिद्धान्ताभिमत प्रकार गिनते हों तो खुलासा करना पड़ेगा कि यह सिद्धान्त श्रीनाथजीके मंदिर के लिए ही है या किसी भी पुष्टिप्रभु की सेवा के लिए अनुसरणीय मानने में आ रहा है। यदि श्रीनाथजी के लिए ही स्वीकारने में आता हो तो किसलिए वहां चैतन्य सम्प्रदाय के 'हरे कृष्ण' वालों को या ऐसे ही किसी दूसरे को सेवा में नहाने की छूट अपवाद के रूप में नहीं दी

जाती ? रजस्वला को भी सेवा में नहाने की छूट अपवाद रूप में दी गई थी। इसका उदाहरण वार्ता में मिलता है। उसको भी क्यों नहीं सिद्धांत मान लिया जाता। यदि किसी भी पुष्टिमार्गीय निधिस्वरूप के संबंध में इसको सिद्धांततया स्वीकारने में आता हो तो फिर क्यों नहीं सर्वत्र ही श्रीनाथजी की सेवार्थ बनाये गये मंदिर की तरह, शिखर-ध्वजा-कलश बनाये जाते और गैरब्रह्मसंबंधियों को भीतर नहाने की छूट क्यों नहीं दी जाती ?

उस समय श्रीनाथजी जाहिर मंदिर में पाट बैठाये गये। वह दिन 'अक्षय तृतीया' का दिन था। फिर क्यों आज अक्षय तृतीया को पाटोत्सव तरीके नहीं मनाकर फाल्गुन बद सप्तमी को पाटोत्सव तरीके मनाया जाता है ?

सन्तदासजी की वार्ता में आता है कि "तब श्रीठाकुरजी की सेवा में मंडान, श्रीठाकुरजी के द्रव्य सों राखें" - "एक दिन राजभोग को नागा पर्यो जो मेरी सत्ता को भोग न धर्यो।" इन वचनों में स्पष्ट होता है कि दान और समर्पण में दान श्रीठाकुरजी की मालिकीवाला द्रव्य और समर्पण सेवाकर्ता की मालिकीवाला द्रव्य है --- पहले का प्रसाद सर्वथा अग्राह्य और द्वितीय का ग्राह्य। इस पृथक्करण की सुनी-अनसुनी क्यों करने में आ रही है?

कृष्णदासजी की वार्ता में आता है -- "हम कौन कों अधिकार दे के बिगार करें? तब श्रीगोवर्धननाथजी कहे जो हमहू किनको बिगार करें! जो कोई अधिकार लेगों ताको बिगार होयगो।" इस वचन को भी शिरोधार्य करके जाहिरमंदिर में अधिकार लेने पर बिगाड़ होता है परंतु, घर में सेवा के अधिकार से कभी भी बिगाड़ होन की बात कहीं भी कही नहीं गयी। इसका जवाब जाहिर मंदिरवादियों के पास क्या है ?

इसी तरह श्रीमहाप्रभुजी 84 बैठकों में स्वयं भागवतसप्ताह करते थे यह कहनेवाले भूल जाते हैं कि श्रीमहाप्रभुजी उसकी दक्षिणा या पोथीभेंट नहीं लेते थे तथा भागवतकथा तो आपश्री का दैनंदिन आराधना का कार्यक्रम था, आजीविका का नहीं। आपश्री ने मूल भागवत का पारायण ही कुछ – कुछ बैठकों में किया है जाहिर प्रवंचना तो कतई नहीं।

अत: सिद्ध होता है कि नामात्मक या साक्षात सेव्यस्वरूप के नाम से पुष्टिमार्ग में कोई भी लेनदार देनदार से द्रव्य हथिया या उगाह नहीं सकता।

(23/ख) प्रश्नकर्ता भाई पूछते हैं कि खुद के घर में जो सेवा होती है वह पर्याप्त हो और मंदिर की आवश्यकता नहीं है तो वाचन और कीर्तन भी समूह में करने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर के रूप में उपरोक्त विस्तृत विवेचन के बाद कहने को कुछ शेष नहीं रह जाता कि वाचन और कीर्तन सेवा की तरह घर में जिनसे निभते हों उनको समूह में करने की आवश्यकता नहीं। पर जिनसे घर में निभाना शक्य न हो, वे समूह में या सत्संग-हाल में भी वाचन कीर्तन करें तो इसमें कोई सैद्धांतिक बाधा नहीं आती है।

(23/ग) श्रीमहाप्रभुजी ने सेवा के पहले सत्संग करने का उपदेश दिया ही है, अत: जहां ठाकुरजी की सेवा के साथ सत्संग चलता हो वह तो सोने में सुगंध जैसा है, पर जिस घर में या सत्संग-हाल में सेवा बिना भी सत्संग चलता हो तो सेवा नहीं चलने के अपराध वश कहीं भी इसको बंद करने का विधान मिलता नहीं है। यह ऐसी बचकाना दलील है कि जिनको ग्रन्थ लिखना नहीं आता हो उसको बारहखड़ी सीखना ही नहीं। भगवान तो स्वयं आज्ञा कर रहे हैं--

तेनाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमा:।
अव्रतातप्ततपस: सत्संगाद् माम् उपाश्रिता:॥
केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो खगा मृगा:।
येऽन्ये मूढधियो नागा: सिद्धा मामीयुरंजसा॥

(भाग. 11/12/7-8)

सेवा बिना केवल भक्तिभाव सहित सत्संग के कारण भगवत्प्राप्ति की डिम्-डिम् घोषणा इस श्लोकमें करने में आयी है।

(23/घ) - अत: सत्संग हाल की, जहां पर किये जाते सत्संग के कारण वैष्णव व्यापारिक धर्म के उपद्रव वाले भेड़िया धसान में आकर्षित न हो जाएं, आज अतिशय आवश्यकता है। चली आती भगती के मखोलरूपी गड्ढे में पड़ते हुए वैष्णवों को बचाने के लिए इस कार्य को अतिशीघ्र करना चाहिए। ऐसे सत्संग हाल में समग्र पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों, आदर्शों, भावनाओं और सच्ची परंपराओं की व्यवस्थित जानकारी भी मिल सकेगी जिससे ऐसे बचकाना प्रश्न कभी मन में उठेंगे ही नहीं। अंत में

श्रीमद्-वल्लभवंश-वृक्ष-जनितं भक्त्यैकरूपं फलं
भूयात् तद् भुवि भोग्यभावभरितं कृष्णैकतोषे परम्।
वृत्यर्थं भगवत्प्रदर्शनविधौ पातित्यमासादयत्
कष्टं भो कलिकाकदृष्टमिह तद् दृष्ट्वापि सीदेन्न क:!

प्रश्न (24=30 का सारांश) मंदिर हो तो, बैठकजी की तरह समूह में दर्शन, कीर्तन-जल-फल-फूल-पान-शाक-धान-झाड़ू बुहारी आदि की सेवा करने का मजा मिल सकता है। एक बहन को ऐसी सेवा करते देखकर दूसरों का भी मन ऐसी सेवा करने के लिए आकर्षित होता है। मंदिर में सेवा देने वाली बहनें खुद के घर के ठाकुरजी की सेवा भी करती हैं। घर में सेवा करनेवालों से क्या मंदिर

में सेवा नहीं हो सकती, क्या इसमें अपराध लगता है? घर और मंदिर दोनों जगह सेवा का दोहरा लाभ लेने पर प्रभु के सतत-सान्निध्य का मूल सिद्धांत भी पलता है।

उत्तरक्रम (24=30) प्रश्नकर्ता भाई एक ओर मंदिर की वकालत आधुनिक युगकी व्यस्तताके कारण करते हैं पर उस समय स्वयं सतत-सान्निध्य का मूल सिद्धांत भूल जाते हैं। दूसरी ओर फिर यहां उनको जो स्मरण आया, इसकी तो बधाई! पर साथ-साथ यह बताना तो पड़ेगा ही कि सतत-सान्निध्य की तरह ही, खुद के घर में अपने तन-मन-धन और परिवारजनों के साथ सेवा करने के मूल सिद्धांत को क्यों भुला दिया? क्या जो पसंद वह आया मूल सिद्धांत और जो नहीं पसंद उसको ''जाऽऽने दोऽऽन''! दो मूल सिद्धान्त में से एक मनभाते सिद्धांत को पालने का आग्रह और दूसरे नहीं भाते सिद्धांत का इतना विरोध!! ऐसी 'सिद्धांतनिष्ठा' के बारे में क्या कहना?

आधुनिक युग में व्यावसायिक हेतुओं से बैठकों में झारी भरने की होड़ बढ़ती जा रही है। एक झारी भरकर पधरायी जाती है और महाप्रभुजी ने वह आरोगी भी न हो, उससे पहले ही सरा ली जाती है ! ऐसी छीन-झपट में कभी आरोगाने के बजाय स्नान करा देने की दुर्घटना और कभी तो, जहां संगमरमर की चौकी पक्की न हो वहां, पत्थर ही खंडित होने या खिसक जाने की घटनायें भी हुई हैं। यह भी सेवा = तत्सुखविचार के तीसरे सिद्धान्त को तिलांजलि देने के कारण ही सम्भव हुआ है। मूल में तो जाहिर मंदिरों की भीतरी सेवा में वैष्णवों को प्रवेशाधिकार ही कहाँ है कि बैठकों की तरह सेवा करने का प्रश्न खड़ा हो सके। आधुनिक जीवन में वरण की हुई व्यस्तता को तलाक देकर ठाकुरजी के सतत सान्निध्य के

मनोरथ की इच्छा यदि जाहिर मंदिरों के शौकीनों को माफिक आती हो तो स्वयं के घर में सिद्धांतशुद्ध प्रणालिकानुसार भगवत्सेवा को निभाने में आधुनिक जीवन की व्यस्तता क्यों बाधक हो जाती है ? अतः सिद्ध होता है कि अलग-अलग मापदंड अपना कर वैष्णवों को सच्चे कर्तव्य से विमुख करने के नये-नये मानक खोजे जा रहे हैं।

प्रश्न संख्या (25=31 का सारांश)

प्रश्न (25/क) घर के बजाय तो मंदिर अधिक पवित्र या शुद्ध गिना जाता है। घर में सेवा होती हो तो भी कलह-क्लेश, अपशब्दों का उपयोग, रेडियो - टी.वी. के असभ्य संगीत या दृश्य, कुटुम्ब के लोगों की आपसी निंदा-स्तुति, देश-परदेश, सरकारी-राजकाज आदि की अनेक तरह की खरी-खोटी चर्चा, इसी तरह और भी छोटे-मोटे दोषयुक्त कार्य भी होते ही हैं।

प्रश्न (25/ख) सम्पूर्ण सदाचार का पालन करते हुए अष्टप्रहर की सेवा हो तो ही 'सच्ची सेवा' कहलाती है, एक-दो घंटे की सेवा, सेवा नहीं है वह तो नित्यकर्म है। सभी नियमों का शतप्रतिशत पालन होता हो तो ही 'घर-घर की सेवा' का सिद्धांत सही कहलाता है। परंतु आज वैष्णवों के लिए यह सम्भव नहीं है, जबकि मंदिरों में यह सम्भव है।

प्रश्न (25/ग) घर में रहे हुए इन दोषों से आंख मूंदकर मंदिर-प्रणाली के दोष खोजना यह कहां का न्याय है!

उत्तर (25=31 का सारांश)

उत्तर (25/क)घर में जो दोष गिनाये गये हैं उनमें रेडियो-टी.वी.-वीडियो के अपवाद को छोड़कर बाकी के दोष आज ही पैदा हुए हों और प्राचीनकाल में नहीं थे, यह मानने का कोई कारण दिखाई नहीं

देता। इन दोषों को दृष्टिगत रखते हुए ही यदि शास्त्रों में गृहस्थियों के लिए उनके अपने घर में ही यज्ञ-होम, संध्या-तर्पण या देवपूजन का विधान किया गया हो तो, अथवा तो श्रीमहाप्रभुजी ने भी अपनी साम्प्रदायिक परिभाषानुसार भगवत्सेवा का विधान किया हो तो, स्वधर्म के 100% अनुष्ठान या निर्वाह की चिंता प्रश्नकर्ता भाई या मुझे करनी की कोई आवश्यकता नहीं है। शास्त्रों ने और श्रीमहाप्रभुजी ने भी इसका गहन विचार किया ही होगा। यदि शास्त्रों पर और श्रीमहाप्रभुजी पर ऐसी श्रद्धा न हो तो धर्म के सच्चे या खोटे प्रकारों की चिंता करने का हमें अधिकार ही नहीं रह जाता।

जो दोष घर में गिनाने में आये हैं वे दोष एक सद्गृहस्थ के घर के बजाय चार गुना अधिक मंदिरों के हम पू. पा. महाराजश्रीओं - मुखियाजी - भीतरियाजी - कीर्तनियाजी - जलघरियाजी और समाधानीजी आदि में भी हो सकते हैं। वरना - समाचार-पत्र या फिल्मी पत्रिकाएं आदि खरीदने की और कोर्ट-कचहरियों में जाने की हमको आवश्यकता ही नहीं रहती। घरमें की जाती स्वधर्मनिष्ठा वाली सेवा की जगह व्यावसायिक प्रवृत्ति के ढोंग के गड्ढे में भगवत्सेवा को धकेलने का अपराध और अधिक लगता है, उसका क्या?

सार्वजनिक मंदिरों में किये जाते धार्मिक ढोंग का धंधा अच्छी तरह से चलने लगा कि तुरंत ही मंदिरों में रहनेवाले भी क्या रेडियो- टी. वी. या वीडियो सुनने-देखने नहीं लगते ? उस रेडियो -टी. वी. की आवाज घर में सुनने पर तो असभ्य परन्तु, जैसे गंगा में गटर का जल मिले वैसे, मंदिर में सुनने से क्या संस्कारयुक्त सभ्य, आध्यात्मिक या आधिदैविक बन जाती है? यदि ऐसी छूट आज रेडियो टी. वी. या वीडियो

को देंगे तो कल को ब्लूफिल्मों की विडियो पार्लर या बीयर-बार को भी यह छूट देनी पडेगी! दो वर्ष पूर्व एक प्रसिद्ध मंदिर के बड़े मुखियाजी ने एक साप्ताहिक पत्रिका को दिये इन्टरव्यू में स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया था कि "इतने समय तक परिश्रमयुक्त सेवा करने के बाद कुछ मनोरंजन की तो अपेक्षा रहती ही है, इसलिए हिन्दी फिल्म के (असभ्य) गानों को सुनने देखने में आपत्तिजनक क्या है!"

(25/ख) सम्पूर्ण सदाचार का पालन आज घर में संभव नहीं होता। उसी तरह सार्वजनिक मंदिरों में भी पगारदार नौकरों से बलात् पालन कराये जाते सदाचार से 100% धर्मसिद्धि की 100% अंधश्रद्धा भी मृगजल से प्यास मिटाने का 100% बालिश भ्रम ही है। श्रीमहाप्रभुजी तो यथाशक्ति सदाचार के साथ यथोपलब्ध समय में 'स्वधर्माचरणं शक्त्या' "एककाल द्विकालं वा त्रिकालं वा" (सर्व निर्णय निबन्ध/338-237) भगवत्सेवा करने की छूट दे ही रहे हैं। प्रश्नकर्ता भाई की तरह ऐसी सेवा को नित्यकर्म की निम्नश्रेणी की पायदान पर गिराना नहीं चाहते तो इस प्रश्न से इंगित किये जाते विधान को पूछनेवाले की मिथ्या धारणा मानना या सम्प्रदाय का सच्चा सिद्धान्त ?

(25/ग) व्यावसायिक मंदिरों में रहनेवाले भावनाहीन धन-लोलुपों के भयंकर दोषों के प्रति आंख मूंद कर स्वयं के घर में शुद्धभाव से भगवद्भजन करने के इच्छुक बेचारे गृहस्थियों की जीवनशैली में दोष ढूंढना कहां का न्याय है ?

प्रश्न (26 = 32 का सारांश) मंदिर दर्शन करने आने वालों में कुछ एक वैष्णव ही भूल (गलती) करते हैं, सभी वैष्णव नहीं। कुछेक की सजा सबको नहीं दी जा सकती। मंदिर का संचालन प्रबंधन करने वाले मात्र 10-15 जन होते हैं, जबकि दर्शन करने

वाले तो हजारों होते हैं। जाहेर मंदिरों का विरोध करके 10-15 लोगों की भूल की सजा हजारों को नहीं दी जा सकती।

उत्तर 26 = 32

कितनी ही महंगी होटलें अपने हजारों ग्राहकों को खुश करने के लिए, गैरकानूनी 10-15 कालगर्ल्स की सुविधा भी देती होती है। प्रत्यक्षतया इन कालगर्ल्स का आकर्षण घर की पत्नी के बजाय कम हो तो गैरकानूनी धंधा चल ही नहीं सकता। अब समझो कि इन 10-15 कालगर्ल्स को एड्स का भयंकर संक्रामक रोग हो गया हो तो क्या इस धंधे का विरोध नहीं करना चाहिए ? 10-15 कालगर्ल्स की भूल का यह गैरकानूनी धंधा जाहिर जनता के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक और अनीतिपूर्ण तो है ही, इसके बावजूद दंड होटल के हजारों ग्राहकों को नहीं देना चाहिए। ऐसी वकालत कोई करे तो उसको क्या समझना?

प्रश्न (27 = 33 का सारांश) मंदिर हो तो शहर में गोस्वामी बालकों का आवागमन होता है। उनको आरती उतारते हुए निहारने में कितना आनन्द आता है ? क्या सत्संग-हाल में यह आनन्द आ सकता है?

उत्तर (27 = 33) वैष्णव तो अमेरिका, इंग्लैण्ड और अन्य अनेक शहरों में भी बसते ही हैं, जहां अनेक स्थानों पर एक भी मंदिर नहीं होते। पू.पा. गोस्वामी बालक जहां भेट-पधरामणी होती हो वहां तो बिना विनती के पधारने की कृपा करते ही हैं। जहां मंदिर हो वहां ही पधारना ऐसा आग्रह तो कहीं देखने-सुनने में आया नहीं।

किसीको को खाते हुए देखने मात्र से पेट भर जाता हो तो भारत सरकार को विदेशों से अन्न मंगाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। टी.वी. पर सुबह-शाम-दोपहर मिनिस्टरों के जीमने के तमाशे या दृश्य जारीकर

के पूरक हैं, क्योंकि घर में विवाहित स्त्री-पुरुष रहते हों तो भी सभी व्यक्ति दांपत्यसुख नहीं भोग सकते। इसलिए भी शहर में दांपत्यसुख की सुविधा प्रदान करनेवाला कमसे-कम एक क्लब कुटुम्ब के ऐसे लोगों के लिए आवश्यक है कि नहीं? प्रश्नकर्ता भाई को पहले इस प्रश्न का उत्तर देना चाहिए।

(28/ख) अक्कल के दुश्मन बनकर तो पुष्टिमार्गीयों को दुनिया में रहना नहीं है। इसी प्रकार पुष्टिमार्ग में भक्ति के नाम पर ढोंग करते हुए भी नहीं रहना चाहिए। पुष्टिमार्ग में ज्ञान श्रेष्ठ या भक्ति श्रेष्ठ अथवा तो 'ज्ञान' या 'भक्ति' शब्दों का श्रीमहाप्रभुजी को अभिप्रेत अर्थ क्या है यह मनमाने तरीके से तय नहीं हो सकता। श्रीमहाप्रभुजीप्रभृति पूर्वाचार्यों के वचनों से उपदिष्ट भक्ति का प्रकार ही सच्ची भक्ति है, बाकी तो भक्ति के ढोंग ही हैं। इस संबंध में दो-चार निर्णायक वचनों का अवलोकन कर लेना उपकारक होगा।

(1) अतस्तु ब्रह्मवादेन कृष्णे बुद्धिर्विधीयताम्।
एवं स्वशास्त्रसर्वस्वं मया गुप्तं निरूपितम्।।
एतद्बुद्ध्वा विमुच्येत पुरुषः सर्वसंशयात्।
(सिद्धान्त मुक्तावली)

(2) बीजदार्ढ्य-प्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः॥
व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ न्यसेत्सदा।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत्।। (भक्तिवर्धिनी)

(3) गुणगाने सुखावाप्तिर्गोविन्दस्य प्रजायते।
यथा तथा शुकादीनां नैवात्मनि कुतोन्यतः॥
क्लिश्यमानान्जनान् दृष्ट्वा कृपायुक्तो यदा भवेत्।
तदा सर्वं सदानन्दं हृदिस्थंनिर्गतम् बहिः।।

सर्वानन्दमयस्यापि कृपानन्दः सुदुर्लभः।
हृद्गतः स्वगुणान् श्रुत्वा पूर्णः प्लावयते जनान्।।
तस्मात्सर्वं परित्यज्य निरुद्धैः सर्वदा गुणैः।
सदानंदपरैर्गेयाः सच्चिनन्दता ततः।। (निरोधलक्षणम्)

(4) सेवैव कर्तव्या, शास्त्रमवगत्य मनोवाग्देहैः कृष्णः सेव्य इत्यर्थः।
(निब.शा.प्र.4)

(5) वैराग्यज्ञानयोगैश्च प्रेम्णा च तपसा तथा।
एकेनापि दृढ़ेनेशं भजन्सिद्धिमवाप्नुयात्।। (निबं.शा.का.95)

(6) एवं सर्वं ततः सर्वं स इति ज्ञानयोगतः।
यः सेवते हरिं प्रेम्णा श्रवणादिभिरुत्तमः।
प्रेमाभावे मध्यमः स्याज्ज्ञानाभावे तथादिमः।
उभयोरप्यभावे तु पापनाशस्ततो भवेत्॥

एवं परमतं निराकृत्य स्वमते यथा भजनं तथा संकलीकृत्याह 'एवं सर्वमिति' ...... प्रेम्णा श्रवणादिप्रकारेण यो भजते स भक्तिमार्गे उत्तमः शास्त्रार्थज्ञानाभावेऽपि प्रेम्णा भजने मध्यमः--- ज्ञानाभावे तथा मध्यम इत्यर्थः। आदिमो वा। उभयोरभावे श्रवणादीनां पापनाशकत्वं, धर्मत्वं वा, नतु भक्तिमार्ग इत्यर्थः।
(निब.शा.का.प्र. 101-102)

(1) सिद्धान्तमुक्तावली के उपदेश में श्रीमहाप्रभुजी सुन्दर आज्ञा देते हैं कि श्रीकृष्णसेवार्थ - श्रीकृष्ण में जो अपनी बुद्धि लगानी है वह श्रीमहाप्रभुजी के तत्त्वचिंतन को अच्छी तरह समझकर लगानी चाहिए। यह हमारे शास्त्रीय निष्कर्ष का अंतिम निचोड़ है जिसको समझनेवाला सभी संदेहों से मुक्त हो जाता है।

(2) भक्तिवर्धिनी में श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि यथाशक्ति

स्वधर्माचरण (सदाचार) को निभाते हुए अपने घर में रहकर ही सेवा और श्रवण और कीर्तन आदि (चाहे वह अपने घर में होते हों या सत्संग -हाल में) इन दो उपायों से कृष्णभजन करने से भक्ति के बीजभाव की दृढता होती है। यह उपदेश -जिनकी जीवनशैली व्यस्तता भरी न हो उसके लिए है, परंतु जिनकी जीवनशैली व्यस्तता भरी है उनको तो (सत्संग-हाल या किसी भगवदीय के अथवा गुरु के घर में) श्रवण-कीर्तन-स्मरण के प्रकार से ही कृष्णभजन करना चाहिए। इससे ही उसके चित्त में भक्ति का विकास, प्रेम आसक्ति और अंत में व्यसन के रूप में हो जाता है।

(3) निरोधलक्षण में श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि गोविन्द के गुणगान से जैसा सुख श्रीशुकदेवजी आदि को मिला वैसा सुख उनको अपनी आत्मा में भी प्राप्त नहीं हुआ तो अन्य विषयों की तो बात ही क्या करनी? सम्पूर्ण आनन्दमय भगवान का भी कृपानन्द मिलना अत्यंत दुर्लभ है। वह तो गुणगान में परायण किसी भगवदीय के ऊपर भगवान के प्रसन्न होने पर ही कभी छलकता है। अत: सच्चिदानन्द परमात्मा में परायण निरुद्ध भगवदीयों को सर्वदा भगवद्गुणगान करना चाहिए जिससे कि वे स्वयं सच्चिदानन्दात्मक बन जायें।

4 (क) निबंध में श्रीमहाप्रभुजी कह रहे हैं कि अपना मुख्य कर्तव्य तो कृष्णसेवा ही है, अर्थात शास्त्र को अच्छी तरह समझकर मन-वाणी-देह से कृष्ण का सेवन करने का अभिप्राय है।

4 (ख) वैराग्य-ज्ञान-योग प्रेम या तप इन साधनों में से किसी भी एक प्रकार द्वारा प्रभु का दृढ़ भजन करने पर सिद्धि मिलती ही है।

4 (ग) भगवान में से प्रकट हुआ सब कुछ ही भगवदात्मक है, ऐसे ज्ञान के साथ जो सप्रेम श्रवण-कीर्तन आदि प्रकारों से भजन करता है उसे भक्तिमार्ग में उत्तम कक्षा का समझना। जिसे शास्त्रका ज्ञान न हो फिर

भी प्रेम पूर्वक भजन करता है तो उसे मध्यम कक्षा का समझना। इसी तरह जो माहात्म्यज्ञान पूर्वक प्रेमरहित भजन करता है उसे प्राथमिक कक्षा का भक्त समझना। जिसे ज्ञान या प्रेम दोनों में से एक भी न हो उसके द्वारा किये जाते नवधाभक्ति के कर्मकांड को भक्तिमार्ग नहीं कहा जा सकता- उसे केवल पापनाशक धर्माचरण समझ सकते हैं।

अत: प्रश्नकर्ता भाई का ज्ञान के प्रति द्वेषभाव पुष्टिमार्ग में भक्ति की चरम कक्षा प्राप्त करने या पुष्टिप्रभु के सतत सानिध्य का सच्चा सुख लेने में कभी भी सहायक नहीं बन सकता। भक्ति के ढोंग करने में हमारा सम्प्रदाय आज सम्पूर्ण समर्थ बन गया है, इसके कारण खोजने पर 1. जाहिर मंदिरों का प्रभाव और 2. सत्संग-हाल का अभाव, ऐसी दो वास्तविकताएं नजरों के सामने उभर जाती हैं!

प्रश्न (29=36+37 का सारांश)

विज्ञान का शिक्षण विद्यालय में पुस्तक के वाचन, लेबोरेटरी में प्रत्यक्ष प्रयोग, स्लाइड्स, फिल्मों आदि द्वारा सिखाने में आये तो विद्यार्थियों के हृदय में ज्ञान स्थिर हो जाता है। इसी तरह सेवा की समझ विकसित करने हेतु सत्संग और प्रत्यक्ष प्रयोग रूप में दर्शन करने के लिए श्रीनाथद्वारा-मथुरा-गोकुल-जतिपुरा आदि निधिस्वरूपों के प्रभावशाली जाहिर मंदिरों की तरह सभी शहरों या गांवों में भी जाहिर मंदिरों की आवश्यकता है।

उत्तर (29=36+37 का सारांश)

मुझे लगता है कि भगवत्सेवा को भगवद्भक्त और भगवान के बीच मधुर-मधुर गोप्य संबंध के रूप में खिलाने के प्रयास के बजाय श्रद्धा संपत्ति और समय के अक्षम्य व्यर्थ प्रयोग के प्रदर्शनरूपी मखौल ने ही आज अपनी बुद्धि और अपने हृदय को श्रीमहाप्रभुजी के मौलिक

सिद्धान्तों की सच्ची समझ से और कृष्णभक्ति की निष्ठापूर्वक भावना से सदा के लिए विमुख बना दिया है। यदि जाहिर मंदिर भक्तिभाव के प्रयोग की लेबोरेट्री हो तो मुखिया-भीतरियाओं की बटालियन पर्दे के पीछे जैसी सेवा करती है उसे ये तथाकथित प्रयोगार्थी अर्थात दर्शनार्थी कैसे समझ सकते हैं?

हटाओ, इन पगारदार भावनाहीन बटालियनों को! आरंभ करो यह मुहिम कि जाहिर मंदिरों के प्रयोग (=नाटक) जो इस मार्ग में जिन प्रयोगार्थियों (=दर्शनार्थियों) की फीस (=पैसे) से चल रहे हैं उनको निजमंदिर, रसोई, बालभोग या दूधघर आदि के खासे अपरस में किये जाते भक्तिभावनाके सभी प्रत्यक्ष प्रयोगों मे नहाने दो!! यदि यह आंदोलन प्रारम्भ करने का नैतिक साहस न हो तो बंद करो इन कायरतापूर्ण बौद्धिक नपुंसकता से भरी मिथ्या दलीलों को!!!

नाथद्वारा गोकुल आदि गांवों में बिराजते निधिस्वरूप तो हिम्मतनगर जैसे हर एक गांव या शहर में पधारकर बिराज नहीं सकते। अत: नये-नये स्वरूप पुष्ट कराके उन-उन शहरों या गांवों में पधराए जा सकते हों तो भी जिनको खुद के घर में बिराजते सेव्यस्वरूप के प्रति अनन्यभाव नहीं है उन्हें अपने गांव के जाहिर मंदिर में बिराजते गैर निधि स्वरूप से भी संतोष तो होना नहीं है। अर्थात फिर भी यहां - वहां भटकते रहने का क्रम तो कायम ही रहने वाला हो तो जाहिर मंदिर बनाए बिना नाथद्वारा-कांकरोली-मथुरा-गोकुल-कामवन-जतिपुरा आदि स्थलों पर जाने के लिए हवाई जहाज या रेल्वे की टिकट, और यदि हवाईअड्डा या रेलवे स्टेशन न हो तो, बस स्टेंड या टेक्सीस्टैंड कहां नहीं हैं ? रेलवे या बसों के रिजर्वेशन तो सब जगह मिलते हैं।

प्रश्न (30=38 का सारांश)

पुष्टिमार्ग के मंदिरों में दर्शन का समय चूक न जाए इसके लिए वैष्णवों को जै-जै-जै-जै पुकारते हुए दौड़ते हुए देखा है। उनको दर्शन हो जाने पर कितनी शांति और रोमांच का अनुभव होता है! क्या यह सत्संग-हाल में सम्भव है?

उत्तर (30=38)

हां, इस तरह हो - हल्ला करके दौड़ते हुए वैष्णवों को मैंने भी बचपन में खूब देखा है। उन जै-जै-जै-जै करके दौड़ने वाले वैष्णवों में से कितने ही वैष्णव स्वयं या उनके पुत्र दौड़ते-दौड़ते आज गैरपुष्टिमार्गीय स्वाध्याय करने-करवाने गांव-गांव में दौड़ने वाले हो गये हैं! कितने ही तो इतने वेग से दौड़े कि वे सीधे ही स्वामीनारायणपंथ पर ही दौड़ने लग गये हैं! कुछेक जो बचे हैं, वे प्रश्नकर्ता भाई की तरह, पुष्टिमार्गीय महाराजों को 'जघन्य कोटि के देवलक पुजारी' मानने लग गये हैं!!!

यह इतनी करुणकथा नहीं है जितनी यह कि उनके साथ वल्लभवंशज भी 'प.भ. - प.भ. - प.भ.' कहकर पुकारते हुए, दौड़ते हुए स्वयं को जघन्यकोटि का मानने लग गये हैं। (देखो-पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त चर्चा सभा विस्तृत विवरण - 192-228)

प्रश्न (31=39 का सारांश)

एक तर्क ऐसा है कि महाप्रभुजी के सिद्धान्तानुसार केवल घर की सेवा को ही मान्यता दी गई है। पूज्य गोस्वामी बालक जो सेवा करते हैं वह घर की सेवा है - परंतु समय के अनुसार उसमें परिवर्तन आया और इसने 'हवेली' का रूप धारण कर लिया और 'हवेली' में दर्शन करने की सार्वजनिक जनता को छूट मिल गई। हाल ही के हाईकोर्ट के निर्णयानुसार गोस्वामी बालकों को उनकी

हवेली के 'पुजारी' तरीके वर्णित किया गया है। असंख्य साक्ष्यों के आधार पर ही हाईकोर्ट ने यह निष्कर्ष निकाला होगा। 'पुजारी' की संज्ञा दी इससे एक मान्यता प्रबल होती है कि गोस्वामी बालकों द्वारा स्वयं अपनी हवेलियों में (मंदिरों में) श्रीठाकुरजी की सेवा स्वयं अर्थात हाथ से करने की परंपरा है परंतु कालांतर में इसमें भी कुछ परिवर्तन आ गया। आपश्रीओं को समय का अभाव होने लगा अथवा परिस्थितियों में परिवर्तन हुआ और इसलिए 'मुखियाजी' की मार्फत सेवा करने का क्रम वर्षों से चला आ रहा है और इसको गोस्वामी बालकों ने भी मान्य किया हुआ है। अनेक पुष्टिमार्गीय मंदिरों और बैठकजी में मुखियाजी की मार्फत सेवा होती है और मुखियाजी द्वारा सेवा शुरू हुई इसलिए अर्थात ऐसी सेवा जहां होती है वह स्थल फिर जाहिर मंदिर के जैसा ही हुआ या क्या हुआ? भले 'हवेली' कहो पर आज हजारों वैष्णवों को इसकी मार्फत समूह में जाहिर में दर्शन-मनोरथ-कीर्तन आदि का अमूल्य लाभ मिल रहा है। पूज्य गोस्वामी बालकों द्वारा ही चलाई गई यह मंदिर की परंपरा है। इसको यकायक बंद कर देने की बात हृदय को आघात पहुंचाने वाली है ?

प्रश्न (31/ख)

मंदिर मिठाई की दुकान बन गये हैं इस तर्क के पीछे कहने का हेतु यह है कि एक वैष्णव 5रु. मंदिर में भेंट करता है और दूसरा 100रु. भेंट करता है तो दोनों को प्रसाद या महाप्रसाद समान परिमाण में मिलना चाहिए, ऐसा तर्क दिया जा रहा है कि नहीं तो मंदिर को मिठाई की दुकान कहा जा सकता है? अब इस तर्क का दूसरा पक्ष देखते हैं। यदि 5रु. देनेवाले को उदाहरणतया एक लाडू

दिया जाता हो जिसकी लागत 5रू. आती हो और जिसने 100रु. भेंट धरी हो उसको भी एक ही लाडू दिया जावे तो 100रु. देनेवाले के पैसे में से 95रु. मंदिर की बचत होगी अर्थात मंदिर की आवक में 95रु. का लाभ होगा; और अंत में वह द्रव्य किसकी तिजोरी में जायेगा? यदि ऐसा होगा तो वैष्णव टीका तो करेंगे ही कि मंदिर केवल लाभ कमाने की पेढियां (व्यापारिक संस्थान) हैं? विचार करो।

उत्तर (31=39)

''गोस्वामी करते हैं वह घर की सेवा है, परंतु समय व्यतीत होने के साथ-साथ उसमें परिवर्तन हुआ और उसने 'हवेली' का रूप धारण किया और 'हवेली' में आम जनता को दर्शन की छूट मिल गई''। यह एक ही विधान इस बात का सक्षम प्रमाण है कि आज के तथाकथित पुष्टिमार्गीय वैष्णव स्वयं ही अपने पुष्टिमार्गीय सिद्धांत, भावना और इतिहास के संबंध में केवल अनजान हैं इतना ही नहीं अपितु निरंतर विरोधी धारणा, विरोधी भावना और विरोधी जानकारी का भी पोषण कर रहे हैं!

इसमें यदि कोई वास्तविकता स्वीकारी गई है तो वह है ''समय के साथ-साथ आये परिवर्तन की''।

अपने मार्ग के इतिहास को तीन कालखंडों (1) प्रारम्भ (2) उत्कर्ष (3) अवनति में विभक्त करें तो पहला काल 'प्रारंभ' अर्थात् पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों के सांगोपांग-प्रवर्तित होने का काल है। इस काल में लिखे गये किसी भी ग्रन्थ में जाहिर मंदिर में पुष्टिमार्गीय सेवा करने के संबंध में कोई विधान नहीं मिलता। श्रीमहाप्रभुजी की सैद्धान्तिक भावना के विपरीत श्रीनाथजीका मंदिर तो स्वयं श्रीनाथजी की इच्छा से ही उस

समय प्रकट हुआ था। इस तथ्य को अस्वीकार करने पर या तो हमें आज भी गैरब्रह्मसंबंध दैवीभक्तों को पुन: सेवा सौंपनी पड़ेगी और पाटोत्सव भी फाल्गुन बद सप्तमी के बजाय अक्षयतृतीया के दिन मनाना पड़ेगा या फिर यह स्वीकारना पड़ेगा कि वह प्रकार पुष्टिमार्गीय नहीं था। दूसरा 'उत्कर्ष काल' ग्रन्थोक्त सिद्धान्तोंकी व्यवस्थित व्याख्या और स्वमार्गीय प्रचार-प्रसार का काल था। इस काल में लिखे गये ग्रन्थों में भी कहीं पर भी जाहिर मंदिरों में पुष्टिमार्गीय रीति से सेवा करने का विधान नहीं मिलता। 'उत्कर्ष काल' में परंतु, प्राप्त जनमान्यताओं और फैलाव के कारण इस काल के अंत में कहीं किन्हीं महाराजश्री के निर्वंश लीला में पधारने के कारण, उनकी विधवा बहुजीमहाराज या बेटीजी आदि ने अपने घर में भगवत्सेवा का क्रम स्वयं ही निभाने का निश्चय किया, जिसकी व्यवस्था के लिए सेवा में स्वयं न पहुंच सकने के कारण आज्ञाकारी सहायक वैष्णवों की व्यवस्था समितियों की रचना करने में आयी थी। इसी में से वर्तमान काल के ट्रस्ट के जाहिर मंदिरों के बीज बोने मे आये हैं।

तीसरे अवनति काल में, उत्कर्षकाल में प्राप्त सफलता और श्रद्धास्पदता के ही एक दुष्परिणाम के रूप में गोस्वामी बालकों में स्वमार्गीय ग्रन्थों का गहन अध्ययन, उसका परिभ्रमण - परिश्रम पूर्वक जनताको धर्मलाभ देने का उत्साह या कर्तव्यबोध क्षीणप्राय हो गया। अत: स्वधर्म में निष्ठाविहीन अन्धश्रद्धालु वैष्णव जनता तथा स्वमार्गीय सिद्धान्तों के व्यवस्थित अभ्यास - उपदेश की या अनुसरण करने की निष्ठा से वंचित हम गोस्वामी बालकों ने जाहिर मंदिरों की प्रणाली को प्रोत्साहित किया, इसमें कोई दो मत नहीं हो सकते। बावजूद इसके, इस अवनतिकाल में भी जागरुक गोस्वामी बालकों ने इस खोटी प्रथा को पोषित करनेवाली प्रथा का विरोध तो किया ही था, और आज दिन तक

विरोध करते ही आ रहे हैं, जिसके प्रमाण अमृत-अभिप्रायावली (अमृतवचनवाली) में देखे-पढे जा सकते हैं। इसमें से बहुत से अभिप्राय प्रश्नकर्ता भाई की धारणा से विपरीत, हाल ही में सुप्रीमकोर्ट द्वारा दिये गये निर्णय से बहुत पूर्व के भी हैं। और जिन गोस्वामी बालकों के घर, आज हारे हुए जुआरी की तरह, अपसिद्धांत का दोहरा खेल खेलने के लिए, जाहिर मंदिर प्रणाली के समर्थक बन बैठे हैं, वस्तुत: वे ही घर सुप्रीमकोर्ट में ''पुष्टिमार्ग में जाहिर मंदिर की प्रणाली होती ही नहीं है अपितु निजी हवेलियों में सेवा करने की प्रणाली है'' ऐसा दावा लेकर झगड़ने गये थे। नडियाद का केस हो या नाथद्वारा का, दोनों केसों में कोर्ट में जानेवाले महाराजश्री पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों की प्रस्तुति षोडशग्रन्थ, निबंध, सुबोधिनी या अणुभाष्य जैसे साम्प्रदायिक मौलिक सैद्धांतिक ग्रन्थों के आधार पर नहीं कर सके। भांडारकर, एच.एच.विल्सन, एम.सी.परीख और एन.ए.थूथी जैसे अंग्रेजी भाषा के विद्वानों के उद्धरण प्रस्तुत करके संतुष्ट हो गये।

ये सभी उदाहरण कि पुष्टिमार्ग में जाहिर मंदिर नहीं होते और गुरु स्वयं के घर में ही सेवा करते हैं ऐसा (जाहिर जनता के समक्ष सिद्धांत से विपरीत इसका प्रदर्शन भी करने के उल्लेख सहित) विधान एकमत से कर रहे थे। इन विधानों को एकबार पढकर कोर्ट ने क्या निचोड़ निकाला वह भी पढेंगे -

1. Each Guru has a temple of his own, and there are no public places of worship. The devotee should visit the temple of his Guru at the stated intervals, which are eight in number during the day. (Vaishnavism, Shaivism and Minor Religious systems: Bhandarkar, 1928 Edn.P.114)

2. The practice of the sect are of a similar character with those of other regular worshippers, their temples and house have images of Gopal... (Religious Sects of the Hindus: H.H. Vilson 1958 Edn. P. 72)

3. This service is sharply contrasted from the worship of other bodies in several features, both outward and inward.

A very notable difference lies in the fact that Vallabha's Church has no Mandirs or temples proper. The place of these has been taken by what are called Havelis:, i.e. houses. Many of these are private houses belonging to the members of the family of the Vallabha and are open to the public at certain fixed periods of the day. (Shri Vallabhacharya, life, Teachings and Movement:, M.C.Parikh, 1943 Edn.p. 247)

4. Due to several reasons the Vallabhites have no public temples for worship. The descendants of the Vallabhacharya worship one image or another in their homes. And the followers are allowed to a certain extent, to join in any of the eight services performed daily. (Vaishnavas of Gujrat:, N.A. Thoothi, 1935 Edn.p. P94)

उपरोक्त उदाहरणों को पढ़ते ही खयाल में आ जाता है कि समर्पण-सेवा, सेवोपयोगी द्रव्य-स्थल और सेवा की भावना-प्रयोजन, जैसी बातों पर सभी सिद्धान्तों के टूटे-फूटे खंडहरों और व्यावसायिक रीति के धूम-धड़ाके से चलाये जाते सार्वजनिक मंदिरों के अपसिद्धांत रूपी महलों का चित्रण इन लेखों में नग्न रूप में आँखों के सामने प्रस्तुत किया गया है।

अब सर्वोच्च अदालतों में जो निर्णय दिये गये थे, वे सिद्धांतों के आधारपर दिये गये थे या अमुक-अमुक मंदिरों पर लागू तथ्यों और ऊपर

वर्णित अंग्रेजी पुस्तकों के उद्धरण के आधार पर दिये गये थे, यह भी देख लेना उपयोगी होगा। नड़ियाद-नाथद्वारा के केस के निर्णय में कहा गया था कि :-

1. Whether a temple and idol, which is worshiped by the vaishnava devotees of this cult, was a private or public temple would always, in our opinion, be a question of fact. (para. 12 of Mahalaxami Vahuji, Nadia ¤ case: A.I.R. 1953 Bombay 153 Later on confirmed in A.I.R. 1970 S.C. 2025)

2. The views expressed by Dr. Bhandarkar had greatly weighed with the trial Court and it is mainly on the basis of those views the trial court, rejected the plaintiff's Suit. The High Court after examining the doctrines of the Vallabha school its tenets and usages as well as the views expressed by the eminent writers like Dr. Radhkrishanan and Das Gupta, came to the conclusion that it would not be correct to say that worship in public temple is prohibited by the vallabha cult though in the absence of any positive evidence it may not be taken granted that the place where the Vallabha Sampradayees worship is a private temple. (Para. 9A.I.R. 1970 S.C. 2025)

3. If Dr. Bhandarkar's work in the section dealing with Vallabha is considered as a whole, it would be clear that these observations are incidental and cannot be taken to indicate the learned doctor's conclusions. (A.I.R. 1963 SC. 1638)

4. But once it is held that the temple is a public temple it is difficult to accede to the argument that the tenets of Vallabha Cult require as a matter of religion

that the properties must be managed by the tilkayat. If fact no such tenet has been aduced before us. (para. 61 A.I.R. 1963 S.C. 1638)

इससे सिद्ध होता है कि न्यायालयों ने पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों की छानबीन, अर्थात सेवास्थल, सेवोपयोगी संपत्ति, सेव्यस्वरूप या सेवाप्रयोजन निजी होते हैं या सार्वजनिक, इसके संबंध में पुष्टिमार्ग के मौलिक ग्रन्थों की सूक्ष्मता से छानबीन किये बिना क्षुद्र तथ्यों और पुष्टिमार्ग के लिए नितांत अबंधनकारी अंग्रेजी भाषा के ग्रन्थों के आधार पर, नड़ियाद-नाथद्वारा के केसों में निर्णय दिया है। स्वाभाविक रूप से इसमें गलती न्यायधीशों की न होकर हम पुष्टिमार्गीयों की ही थी कि या तो हम अपने सिद्धान्तों से पूर्णत: अनभिज्ञ थे अथवा तो सिद्धांत और व्यवहार के बीच रहे भयंकर अन्तराल के कारण स्वसिद्धान्तों को प्रकट करना ही नहीं चाहते थे। इसके पश्चात जूनागढ़ के केस में तो इन दो निर्णयों को ही कसौटी मानकर - Let us now examine the question as to whether tenets of Pushtimargiya Sampradaya frown upon public temples and contra-indicate Havelis managed and run by descendants of Mahaprabhuji. i.e. Gosais to be ever treated as public temples. This question is no longer res integra as it is directly covered by the decisions of the Supreme Court viz. A.I.R. 1963, Tilkayat's case (Supra) as well as A.I.R. 1970 S.C. 2025 (supra) (जूनागढ केस में गुजरात हाईकोर्ट का निर्णय, पेज 150)।

उक्त निर्णयों को सुप्रीम कोर्ट ने मान्य रखा था, मार्ग के सिद्धान्तों को एक बार अच्छी तरह सुनने के हमारे आवेदन को स्वीकार किये बिना ही। मात्र एक संशोधन किया कि गोस्वामी बालकों को भेंट में प्राप्त धन संपत्ति उनकी निजी होती है, ठाकुरजी के ट्रस्ट की नहीं; ऐसी परिस्थिति में 'हवेली' जिसका अर्थ निजी घर ही होता था वह आज अपनी खराब

आदत के कारण 'जाहिर मंदिर' के अर्थ में विकृत हो गया है। खराब आदत के परिणाम तो हमेशा भोगने ही पड़ते हैं, परंतु उस खराब आदत को अपना गुण मान लेना क्या किसी को शोभा देता है ? इस अवसर पर मुझे एक मजेदार 'जोक' याद आता है -

एक भाई को नींद में पेशाब निकलजाने की बचपन की बुरी आदत थी! उस भाई का विवाह होने पर इस बुरी आदत के संबंध में उसकी पत्नी ने बहुत आपत्ति उठाई। अंत में परेशान होकर वह भाई एक मनोरोग विशेषज्ञ के पास अपना इलाज कराने गया। एक महीने तक इलाज आदि कराकर वापस घर आया। पत्नी ने हर्षपूर्वक स्वागत करते हुए कहा - ''आप बहुत प्रसन्न लगते हो ? लगता है आपकी बुरी आदत अब पूरी तरह छूट गई है''! पति महोदय ने उत्तर दिया : ना! अभी भी बिस्तर में सोते-सोते पेशाब तो निकल ही जाता है, पर इसमें शरमाने जैसा मुझे अब कुछ लगता नहीं है। डाक्टर ने मुझे सच्ची हकीकत बता दी है- ''बचपन में इतनी बार पेशाब, करने के बाद अचानक कोई इसे बुरी आदत कह कर विरोध करके, छोडने के लिए कहे तो उसे कैसे छोड़ा जा सकता है ? क्या तुम्हारी पत्नी ने बचपन में नींद में पेशाब नहीं किया होगा ?, अत: निश्चय समझो कि वह अपने किसी निजी स्वार्थ के कारण इसका विरोध कर रही होगी जिससे तुम दोनों की संतति हो तो उसके पेशाब के पोतड़े उसको बदलने या धोने नहीं पड़े।

ऐसा ही कुछ प्रश्नकर्ता भाई भी वैष्णवों के दिमाग में ठूंसना चाह रहे हैं। सिद्धान्त के भली-भांति अध्ययन के बिना पुष्टिमार्ग के तीसरे अर्थात अवनति के काल में हम गोस्वामी बालकों ने स्वभगवत्सेवा को सार्वजनिक बनाकर जो पोतड़े भिगोये थे उस आधार पर न केवल गोस्वामी बालकों अपितु वैष्णवों को भी गर्व के साथ जाहिर मंदिरों की

इस बुरी आदत को चालू रखना चाहिए। किसलिए? क्योंकि, पुजारीपन के पोतड़े गीले करने का बालकों का अधिकार कोर्ट ने मनोरोग विशेषज्ञ की तरह मान्य किया है।

(31/ख) पके हुए अन्न का विक्रय करनेवाला ब्राह्मण शूद्र बन जाता है, इसलिए महाराजश्री या मुखिया-भीतरिया तो कर ही नहीं सकते। ट्रस्टों के द्वारा किया जाता हो तो रु. 5/- या रु. 100/- लेकर बेचा जाता महाप्रसाद मंदिर को मिठाई की दुकान ही सिद्ध करता है। किसलिए किसी से पैसे इस हेतु से स्वीकार करने चाहिए, जिससे रु. 100/- लेकर रु. 5/- का प्रसाद देकर रु. 95/- तिजोरी में भरने का आरोप झेलना पड़े?

प्रश्न (32=40 का सारांश)

''बहिनें मंदिर में निंदा करती हैं'' - यह तर्क उचित है। मंदिर निंदा करने का स्थान नहीं है लेकिन बातें या निंदा करने की आदत अनुशासन के नियम बनाकर बंद की जा सकती है। मंदिर में यह संभव है- घर में कदाचित संभव न हो। परंतु दूसरे पहलू से विचार करे: अपने घर में, जहाँ सेवा होती है, वहाँ सास-बहू, देवरानी-जेठानी या ननद-भाभी क्या परस्पर निंदा नहीं करती हैं? इसलिए इसके अनुसार यदि घर में यह सब होता हो तो क्या वहाँ सेवा बंद कर देना चाहिए? घर में केवल निंदा ही नहीं बल्कि क्लेश, क्रोध, झगड़ा, मारपीट, गाली-गलौज सब होते हैं जो मंदिर में नहीं होते। इसलिए मंदिर तो घर की अपेक्षा अधिक शांतिपूर्ण और श्रीठाकुरजी को अधिकाधिक सुख देने वाला स्थान है जो महाप्रभुजी के सिद्धान्त के अनुसार है।

उत्तर (32=40)

दूर के ढोल सुहाने लगते हैं। विवाह के भोज में स्वच्छ वस्त्र धारण करके भाड़े के परोसने वालों के द्वारा भाड़े की सजावट के आडंबर

में परोसे जाने वाले व्यंजन, पर्दे के पीछे किस प्रकार तैयार होते हैं, उसे भोज में चटखारे के शौकीन देखना नहीं चाहते। प्रश्नकर्ता भाई भी पर्दा हटने के बाद की सजावट को देखने के शौकीन होने के कारण घर की भीतरी अशांति और असुखद अवस्था का रोना रो रहे हैं। मंदिर में मैं रहा हूँ। वहाँ भीतर ही भीतर क्या चलता रहता है वह प्रश्नकर्ता भाई ने नहीं- मैंने देखा, जिया और भोगा है। प्रश्न पढ़कर मुझे तो यही लगता है कि यह मंदिर का वर्णन हो रहा है, घर का नहीं। क्योंकि महाराजश्री मुखिया या भीतरिया के रूप में कुछ सन्यासियों या ब्रह्मचारियों को रखकर अपने मंदिर नहीं चलाए जाते बल्कि महाराजश्री, मुखिया आदि हम सब गृहस्थी ही होते हैं। अत: एक गृहस्थ के घर में जो दोष होते हैं वे तो मंदिर में भी होते ही हैं। तदुपरांत भगवान, भक्ति और धर्म के धंधे की ठगाई भरी अनैतिकता का एक अतिरिक्त दोष जो है वह तो मंदिरों की ही लाक्षणिक विशिष्टता के रूप में और अधिक अभिवृद्धि होने जैसा है।

टिप्पणी : (मूल प्रश्न 45=41) को प्रश्नकर्ता भाई के द्वारा गौण मुद्दा माने जाने से मैं भी उसे गौण ही समझकर उत्तर देने के लिए विस्तार नहीं कर रहा हूँ।

प्रश्न (33=42 का सारांश)

हमारे पूर्वाचार्यों द्वारा अपनाई गई मंदिर की परिपाटी वर्षों से चली आ रही है। इतने वर्षों के बाद उसको महाप्रभुजी के सिद्धान्तों से विरुद्ध कहा जाए तो क्या पूर्वाचार्यों ने भूल की थी? महाप्रभुजी के सिद्धान्त सत्य या पूर्वाचार्यों द्वारा अंगीकृत परिपाटी सत्य है? पिता या पुत्र दोनों में से कौन सही है, यह उत्तर देना आसान नहीं है। सभी सात घरों के गोस्वामी बालकों की परिषद् एकत्रित होकर चर्चा करे और वे एकमत हों तो ही वैष्णव-समुदाय के बात गले उतरे। बहुमत से निर्णय निश्चित होना चाहिए।

उत्तर (33=42)

प्रश्नकर्ता भाई की उलझन - "पिता सही या पुत्र सही" - का तो एक ही उत्तर : यदि पिता स्वयं ही गलत, तो उनके नाम से पुत्रों द्वारा आगे बढ़ाई गई परवर्ती सभी बातें मिथ्या, मिथ्या और सरासर-मिथ्या ही हैं।

बाकी रही बात-बहुमत से निर्णय लेने की तो, जब गुजरात-हाईकोर्ट ने जूनागढ़ हवेली के केस में यह निर्णय दिया कि - "गोस्वामी बालकों की चरणभेंट, घर या ठाकुरजी निजी नहीं होते" - तब कई गोस्वामी बालकों ने इस निर्णय के विरुद्ध आवेदन करने के लिए मुझे पावर ऑफ अटोर्नी दी थी। उस समय समग्र विश्व के 87 नगरों में रहने वाले लगभग 11,000 वैष्णवों ने सुप्रीम कोर्ट में इस आशय के शपथ-प्रस्तुत किए थे कि - "गोस्वामी बालकों की हवेलियाँ उनके निजी घर होते हैं, सार्वजनिक मंदिर नहीं - जो वैष्णव वहाँ दर्शन करने जाते हैं वे इस भावना से नहीं कि सेवा करने का उनका अपना धार्मिक अधिकार है बल्कि गोस्वामी बालकों के प्रति गुरुभाव के कारण जाते हैं और उन हवेलियों में जो भेंट-सामग्री धरी जाती है वह ठाकुरजी को नहीं बल्कि अनुयायी की हैसियत से गुरु को ही धरी जाती हैं।"

इसके अतिरिक्त महाप्रभुजी आदि पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों के आधार पर सेवादीक्षा, सेवास्थल, सेवोपयोगी धनसम्पत्ति, सेवाप्रयोजन, सेवासहायक और सेव्यस्वरूप - इनमें से कोई एक भी बात सिद्धान्त के अनुसार आम जनता से संबंधित नहीं हो सकती। इस विषय पर मूल वचनों के उद्धरण भी सुप्रीम कोर्ट में प्रस्तुत किए गए थे।

अत: पूर्व में नाथद्वारा और नडियाद के दावों में, पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों को सुन चुके होने से, 'पुन: सुनने की आवश्यकता नहीं' ऐसा कहकर, मात्र चरण - भेंट निजी होने का संशोधन उच्चतम न्यायालय द्वारा गुजरात हाई कोर्ट के निर्णय में किया गया।

फिर तो मुखतारनामा (पावर आफ अटर्नी) देनेवालों में से, बहुत से गोस्वामी बालकों ने आगे झगड़ा (वाद) नहीं करना स्वीकार कर लिया। चरणभेंट निजी हो गई तो मानो भगवान मिल गये। घर के ठाकुरजी को खोकर चरण भेंट मिल गई (निजी हो गई) इसको, विजय नहीं अपितु, पराजय मानकर वाद चालू रखने हेतु जो सभी की मीटिंग बुलाई गई थी उसमें बहुत सारे गोस्वामी बालकों ने नहीं पधारना ही उचित समझा। उसमें उपस्थित बालकों ने एकमत से हस्ताक्षर करके पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों के बाबत जो सार्वजनिक निवेदन तैयार किया था, उसके कारण कई महानुभावों ने मिली हुई चरण भेंट पुन: न छिन जाए या किसी आन्तरिक भयवशात्, किये गये हस्ताक्षर भी वापस ले लिए। निजी चर्चा करने पर कारण मात्र एक ही बताया गया कि जब तक दूसरा कोई धन्धा नहीं जम जाये, तब तक इस भय से इस सेवा के धन्धे को कैसे बंद करें? इसलिए विवाद के बढ़ने पर एक सार्वजनिक पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तचर्चा सभा का आयोजन किया गया कि मतभेद रखनेवाले समस्त बालक मूल ग्रन्थों के वचनों का भावानुवाद सार्वजनिक जनता के सामने प्रस्तुत करेंगे, जिस पर सभी तटस्थ होकर विचार कर सकें। परन्तु पुष्टिमार्ग के दुर्भाग्य कि मेरे द्वारा प्रस्तुत भावानुवाद के साथ मतभेद रखनेवाले किसी भी गोस्वामी बालक ने सकल सिद्धान्त-वचनों का भावानुवाद आज दिन तक प्रस्तुत नहीं किया और "श्याम मनोहर जी श्रीनाथजी के विरोधी हैं" ऐसा पाखंडपूर्ण दुष्प्रचार मेरे विरोध में करके वैष्णव श्रीमहाप्रभुजी के सच्चे सिद्धान्तों को सुनकर - समझकर - अनुसरण न कर सकें, ऐसे साजिशपूर्ण छल-छद्म कर रहे हैं। इसका सिलसिलेवार इतिहास पढ़ने के लिए देखें, इसी ग्रन्थ के अंत में योजित किया गया 'परिशिष्ट'। यदि जीवित मेंढ़कों को तोलना संभव हो तो इस मार्ग के सभी बालकों को सिद्धान्तचर्चार्थ इकट्ठा करना संभव हो और इकट्ठा होकर यदि कोई

हस्ताक्षर युक्त निर्णय ले भी लें तो उससे पलट न जायें, ऐसे गोस्वामी बालक तो मुश्किल से ही मिलें। मेरे परिचित सोमाभाई कहते है - '' अस्सी बरस का वृद्ध फिर भी बालक ! अत: बालक सब ब्रह्म जानिए !!'' अब तो प्रश्न कर्ता भाई को ही विचार करना है कि 'वाक्पति:' पिता सच्चे या उनकी वाणी की अवहेलना करनेवाले पुत्र या पुत्रियाँ सच्ची !!!

प्रश्न (34=43+44)

प्रश्न - (34/क) भक्ति के नौ प्रकारों को 'नवधाभक्ति' कहा जाता है। सिद्धान्त मुक्तावली ग्रन्थ में नवधा भक्ति अपनाने की आज्ञा दी गई है।

श्रवणं कीर्तनं विष्णो: स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

यह नवधाभक्ति जाहिर मंदिर न हों तो कैसे की जा सकती है?

प्रश्न - (34/ख) पूज्य जगद्गुरु श्री वल्लभाचार्यजी के लीलाप्रवेश के बाद श्री विट्ठलनाथजी ने अष्टप्रहर की भावना, शृंगार - कीर्तन आदि के रूप में वैभव को बढ़ाया है। आठ प्रहर की सेवा के लिए अष्टछाप की स्थापना करके श्रीनाथजी के स्वरूप के सन्मुख समय - समय के कीर्तन करने के लिए आठ अलग-अलग कीर्तनकारों को काम सौंपा गया। यह कीर्तन-प्रणाली पूरे भारत में खूब प्रचलित हुई और इसी प्रकार अलग - अलग दर्शनों के समय मंदिरों में अलग - अलग कीर्तन गाये जाते हैं। इस बात से भी प्रमाणित होता है कि हवेली अथवा मंदिर पुष्टिमार्ग को सम्पूर्णतया अनुसरने के लिए आवश्यक और अनिवार्य हैं।

प्रश्न - (34/ग) सत्संग - हाल होंगे तो हमें केवल श्रवण, कीर्तन या स्मरण का ही लाभ मिलेगा। पाद सेवन, अर्चना, वंदना आदि का या दर्शन का लाभ क्या मिल सकेगा? और यदि न मिल

सकता हो तो महाप्रभुजी के सिद्धान्तानुसार नवधा भक्ति का लाभ सम्पूर्णतया वैष्णवों को नहीं मिल सकेगा।

उत्तर (34=43+44)

(34/क) सिद्धान्तमुक्तावली में श्रीमहाप्रभुजी ने मात्र सेवा का ही उपदेश दिया है - नवधा भक्ति का नहीं। यह सेवा अपने तन से और अपने धन से करनी होती है। सेवार्थ अन्य किसी को पैसे देना या अन्य किसी से पैसे लेना, सेवा के (नवधा भक्ति का वास्तविक लक्ष्य) प्रेमलक्षणा भक्ति तरीके खिलने में बाधक होता है, ऐसा निरूपण किया गया है। प्रश्नकर्ता भाई ने सिद्धान्त मुक्तावली पढ़े बिना ही दलील देना शुरू किया लगता है। नवधा भक्ति को भगवत्सेवा में गूंथ लेने का उपदेश तो भक्तिवर्धिनी ग्रन्थ में दिया गया है, वहाँ सेवा या तो घर में करनी चाहिए अथवा यह निभना शक्य न हो तो किसी सेवापरायण भगवदीय के घर सत्संग करने हेतु जाने का विधान किया गया है। इसके अनुकल्प रूप में, आज की सामाजिक व्यवस्था को दृष्टिगत रखते हुए सत्संग - हाल को भी सिद्धान्त से अविरुद्ध तया स्वीकारा जा सकता है।

(34/ख) श्रीमहाप्रभुजी के पश्चात श्री विट्ठलनाथ प्रभुचरण ने अष्टप्रहर की भगवत्सेवा में जिन अष्टछाप भक्तकवियों को नियुक्त किया और जिन अष्टछाप आदि भक्तकवियों के पदों की कीर्तन-प्रणाली समस्त भारत में खूब प्रचलित हुई उन भक्तकवियों में पुष्टिमार्ग के जहाज श्रीसूरदास जी का यह पद जाहिर मंदिरों में यदि गाया जाता हो तो उस कारण खड़े होते विरोधाभास से मानस-शास्त्री दुखी होंगे कि नहीं? यह प्रश्नकर्ता भाई को अपने मानस से पूछ लेना चाहिए -.

यामे कहा घटेगो तेरो?
नंदनंदन कर घर को ठाकुर, आप होय रहे चेरो।

भली भई जो सम्पत्ति बाढ़ी, बहुत कियो घर घेरो।
सुत वनिता बहुयूथ संकेले, वैभव भयो जो घनेरो।
कहूँ हरि कथा कहूँ हरि सेवा, कहूँ भक्तन को डेरो।
सूर समर्पण करो श्याम को, यह सांचो मत मेरो॥

अत: जिन अष्टछाप के पदों के गायन की दुहाई प्रश्नकर्ता भाई देते हैं, उनको गाने लगें तो प्रश्नकर्ता भाई के प्रश्न खोटे या नहीं? ऐसे तो एक क्या अनेक पद हैं – उदाहरणार्थ :---

(1) रुचिर पद कमल श्री वल्लभाधीश के रैन और दिवस निज शिरसि धरिये।
गहत दृढ़ बांह जिहिं काज श्रीनन्दसुत पत्र फल पुष्प सेवानुसरिये॥
प्रेम भाव तें निकट संतत रहत राख विश्वास ब्रततें न टरिये।
श्रीविट्ठलगिरधरन हित प्रकट लक्ष्मणसुवन भक्त के भवन में वास करिये॥

(2) कौन रस भूतल प्रकट भयो।
देखो री देखो भर – भर नैनन प्रभु आनंद मयो॥
जे रस निगम–अगमहु अगोचर सो सब सद्य लह्यो।
सो रस श्रीलक्ष्मण भट्ट गुह प्रकटित प्रेम मयो॥
घर – घर नंदनंदन फल फूल्यो सेवा विधि सिखयो।
आपुने किये रसाल रीति सों श्रीवल्लभ गिरधरन रिझयो॥

(3) यह कलि परम सुभग जन धन्य श्री विट्ठलनाथ उपासी।
घर हरिसदन सदा यश गावत भक्ति मुक्ति सी दासी।
वदत न कछू भीम अब वैभव भजनानन्द उपासी॥

अत: या तो कबूल करो कि – अष्टछाप के पद उस समय के अनुसार लिखे गऐ थे और "समस्त संसार के स्वामी धणी के धणी

श्रीनाथजी की ओवर रूलिंग द्वारा रद्द हुए सिद्धान्तों का गान होने से अब गाने लायक नहीं रहे; अथवा कबूल करो कि सेवा तो श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धान्तों के अनुसार घर में ही हो सकती है।

(34/ग) नवधाभक्ति का सम्पूर्ण लाभ तो जाहिर मंदिरों में चलते भगती के ढ़ोंग में भी कहाँ मिलता है? पगारदार कीर्तनिये कीर्तन करते हैं, दर्शनार्थी नहीं। झांझों की तेज आवाज में कीर्तनों के शब्द ही सुनाई नहीं देते। ऐसे ही दर्शनार्थियों की रेल–पेल में कीर्तन का श्रवणलाभ मिले, ऐसी व्यवस्था या फुरसत खुद दर्शनार्थियों को भी नहीं होती। अत: सुना ही न हो तो स्मरणभक्ति का लाभ तो स्वप्न में भी शायद संभव नहीं। पादसेवन और अर्चन तो सेवा का धन्धा करनेवाले या तो पू. पा. महाराजश्रीयों की या सेवा की नौकरी करने वाले मुखिया जी की मोनोपोली होती है। यह (मोनोपोली) घर में सेवा करने पर टूट सकती है। यह प्रश्नकर्ता भाई को पसंद नहीं तो दर्शनार्थियों को यह लाभ कैसे मिल सकता है?

दास्य, सख्य या आत्मनिवेदन रूप भक्ति तो बहुत ऊँची कक्षा की बात है। अलबत्ता नौ में से मात्र एक वंदन भक्ति का लाभ जाहिर मंदिरों में मिल सकता है -- यह तो अपने घर की दीवार पर टंगे चित्रजी से भी क्यों नहीं मिल सकता!

अत: पुष्टिमार्ग को तनिक भी न अनुसरना हो तो ही हवेली या जाहिर मंदिर अनिवार्य और आवश्यक हैं।

प्रश्न – (35=45 का सारांश)

अपने पुष्टिमार्ग में घर में होती सेवा और मंदिरों में होती सेवा की प्रणाली अलग – अलग प्रकार की है। दोनों तरह की सेवा के लिए अलग – अलग ग्रन्थों की रचना हुई है। केवल इससे ही सिद्ध हो जाता है कि गुरुओं ने समयानुसार विवेक रखते हुए जाहिर मंदिरों को भी समाज की आवश्यकता मानकर मान्यता दी है।

उत्तर - (35=45) पिछले तीस वर्षों से मेरा एक भी सप्ताह ऐसा नहीं गया कि जिसमें मैंने सम्प्रदाय का कोई न कोई ग्रन्थ नहीं पढ़ा हो। तदुपरांत भी प्रश्न में जताई हुई अलग - अलग सेवा के अलग - अलग प्रकारों का विधान करने वाले प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थ अभी तक मेरे देखने में नहीं आये।

प्रश्न - (36=46 का सारांश)

कहा जा रहा है कि मंदिरों में अनेक दोष व्याप्त हो जाने से सत्संग हॉल स्थापित करो और उनमें महाप्रभुजी के चित्र पधराओ। यह किसलिए? समस्त संसार के स्वामी धणी के धणी श्रीनाथजी बाबा के चित्रजी पधराने के लिए मनाही क्यों? क्या रहस्य है इसमें?

कारण और रहस्य यह है कि श्रीमहाप्रभुजी गोस्वामी बालकों के पूर्वज होने से जहाँ सत्संग होता है वहाँ श्री महाप्रभुजी के चित्र के सामने वैष्णव जो भेट धरते हैं उस भेट का द्रव्य अपने लिए उपयोग में लेने का अधिकार गोस्वामी बालकों को है। जबकि जाहिर मंदिरों में श्रीठाकुरजी के नाम से आयी हुई भेंट या सन्मुख धरे गये द्रव्य पर उनका (बालकों) अधिकार नहीं होता। पहले था पर कोर्ट के आदेश के बाद नहीं रहा, अतः बुद्धिपूर्वक यह एक नई खोज की गई है। इसीलिए बार - बार श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धान्तों का हवाला देकर वैष्णवों के दिमाग में ठसाया जा रहा है कि ''मंदिर नहीं चाहिए, केवल घर की सेवा चाहिये। घर की सेवा को गौण न मानो।''

हकीकत में तो कोई वैष्णव घर की सेवा को गौण मानता नहीं या मंदिर को गौण गिनता नहीं। यह वास्तविकता है - फिर बार - बार क्यों कहा जाता है? वैष्णवों को मंदिरों से विमुख करने के लिए ही न! और तो क्या कारण हो सकता है?

उत्तर (36=46)

सोने की कटोरी का घरुवार्ता का प्रसंग, किशोरी बाई और संतदास की वार्ताओं के प्रसंग, साथ ही साथ ''दाने हि न स्वविनियोग:'' जैसे जो कंठोक्त निषेध हैं, उनके अभिप्राय पर विचार करें तो पहले कभी भी ठाकुरजी के नाम से या सन्मुख धरे द्रव्य का उपभोग अपने या अपने परिवार के लिए करने का अधिकार या भाव इस पुष्टिमार्ग में था ही नहीं। इसके एक नहीं अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं और मैंने दिये भी हैं। स्वमार्गीय सिद्धान्तों के प्रति शर्मनाक बेवफाई के कारण प्रश्नकर्ता भाई जैसे वैष्णवों को अब ऐसा लगने लगा है कि ठाकुर जी के नाम से या सन्मुख आये द्रव्य/सामग्री के उपभोग का अधिकार पहले था किन्तु अब कोर्ट द्वारा रद्द कर दिया गया है।

हकीकत में तो प्रश्नकर्ता भाई को न तो सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का ज्ञान है, न इतिहास का भान और न ही सैद्धान्तिक भावनाओं में निष्ठा है। जिन आधुनिक अदालतों के निर्णय की बात करते हैं, वह भी समुचित अध्ययन के बिना ही। नडियाद के केस में सुप्रीम कोर्ट का इस बाबत में अभिप्राय सभी नियमों संबंधी भ्रम को दूर करने में प्रमाण है --

The Goswami Maharajas or Maharanis are not mere managers in the temple belonging to Vallabha School. The Maharaja is the Mahaprabhu. The Vallabha devotees worship their deity through him. It is true that the income from the temple property has to be primarily used for the expenses of the sevas and utsavas in the temple, the upkeep, renovation and improvements of the temple premises, but subject to these demands the Mhaarajas has a right to utilise the temple income in the maintaining himself and his family in a reasonable comfortable manner (A.I.R. 1970S.C. 2025)

जैसा कि हम देख चुके हैं तदनुसार ठाकुर जी के नाम से या सन्मुख आये हुए द्रव्य =देव द्रव्य का उपभोग अत्यन्त पातक गिनने में आया था। फिर भी अपने देश की धर्म निरपेक्ष अदालतों ने पुष्टिमार्ग के धर्म गुरुओं को धार्मिक सिद्धान्त की दृष्टि से महापतित चांडालोपम देवलक होने के निम्न से निम्नतर पायदान पर आज पटक दिया है। इतना ही नहीं परन्तु इस महापतन को नियमानुसार आवश्यक भी ठहरा दिया गया है। इस मुद्दे से उभरी हुई विसंगति की पराकष्ठा तो यह है कि कोई सम्पत्ति निजी है या सार्वजनिक, इसका निर्णय तीन आधारों पर करने में आया है -

(1) सम्पत्ति की व्यवस्था करने का अधिकार।

(2) सम्पत्ति के उपभोग का अधिकार।

(3) ऊपर वर्णित अधिकारों को पीढ़ी दर पीढ़ी वारिसों के द्वारा भोगने का अधिकार।

जो सम्पत्ति सार्वजनिक ट्रस्ट की होती है, उसके लिए एक साथ ये तीनों अधिकार किसी के भी कभी भी दुनिया में कहीं भी स्वीकारने में नहीं आये हैं। पुष्टिमार्गीय हवेलियों को आज जो सार्वजनिक ट्रस्ट घोषित करने के फैसले आये हैं उसमें ये तीनों ही अधिकार वल्लभवंशज गोस्वामियों के मान्य रखे गये हैं। हकीकत में तो किसी भी व्यक्ति या परिवार के ऐसे तीनों अधिकार किसी भी सम्पत्ति पर प्रमाणित हो तो उस सम्पत्ति को सार्वजनिक ट्रस्ट कह ही नहीं सकते - कि जिससे इन्कमटैक्स या वैल्थटैक्स में किसी तरह की छूट मिल सके। यह तो पुष्टिमार्ग के जाहिर मंदिरों के हम 'महाराजा' 'महारानी' या आधुनिक 'महाप्रभुओं' का ही कानूनी माहात्म्य है कि जाहिर मंदिर की करमुक्त ट्रस्टसम्पत्ति में निजी सम्पत्ति के तीनों अधिकार हम 'reasonable comfortable manner' में भोग सकते हैं! जाहिर 'मंदिरवादी प्रश्नकर्ता भाई का जाहिर मंदिरों में तथाकथित आधुनिक महाप्रभुओं के भोक्तव्य के बारे में यह अज्ञान है या फिर वैष्णवों में पुष्टिसिद्धान्त बाबत

लोगों को सिगरेट पीने का व्यसन लगा दिया है। इस हद तक कि सिगरेट को मुँह में या अगुलियों में रखना युवा, ऑफिसर और बुद्धिजीवी अपनी प्रतिष्ठा की छाप डालने का एक प्रमुख साधन मानने लग गये हैं। अब तो वैज्ञानिकों ने शोध कर ली है कि सिगरेट से केंसर होता है अत: अब विज्ञापनों के नीचे - 'सिगरेट पीना स्वास्थ्य के लिए हानिकार है' लिखना विज्ञापनदाता को कानूनन अनिवार्य कर दिया गया है। अत: जाहिर मंदिरों में भगती के ढोंग या दिखावे को निहारने वाले वैष्णवों को व्यसन भी हो गया हो तो प्रत्येक जाहिर मंदिर के द्वार पर - ''यहाँ भगती के दिखावे को निहारने का व्यसन पुष्टिमार्गीय स्वास्थ्य के लिए हानिकारक एवं अक्षम्य है।'' ऐसे आशय की एक पट्टिका टांकना क्या उचित नहीं लगता? खूब आगे बढ़ चुकी वृद्धावस्था में प्रकृति के नियमानुसार छोटे बालकों की तरह दंतहीन-पोपले बन जाते हैं। पढ़ा-लिखा भी बहुत कुछ भूल जाते हैं - कितने ही वृद्धों को तो बिस्तर में ही छोटे बालकों की तरह पालना - पोसना पड़ता है। इसमें कहने-सुनने लायक कुछ है ही नहीं - शरीर के स्वभाव के कारण ही ऐसा हो जाता है : ''बालक बूढ़े एक समान''।

शास्त्र में बहुत सुन्दर विधान करने में आया है कि अनजाने में यदि सगोत्र कन्या के साथ लग्न कर लिया हो तो दाम्पत्य - संबंध का त्याग करके उस कन्या के साथ अपनी बहिन की तरह निर्वाह करना चाहिए। बहन के साथ व्यभिचार की तरह सगोत्र कन्या के साथ विवाह को भी शास्त्र में महापातक पाप रूप माना गया है। जाहिर मंदिरों में चलते भगवत्सेवा के व्यवसाय को या नौकरी को या देवद्रव्य के उपयोग को श्रीमहाप्रभुजी भी महापातक मानते हैं। अत: यदि किसी महाराज या वैष्णव का जाहिरमंदिर- प्रणाली के साथ महापातकी विवाह हो भी गया हो तो तलाक लेने में ही नीतिमत्ता है। बहन के साथ व्यभिचार करने का भाव कभी भी 'सिन्सियर' नहीं अपितु 'सिन्फुल' ही होता है।

प्रश्न - (38=50-51 का सारांश)

(38/क) श्रीनाथजी बाबा ने स्वयं नाथद्वारा (!?) में मंदिर बनाने एवं नेग भोग के लिए भी आज्ञा दी थी, अत: वैभव बढ़ता गया। श्रीठाकुरजी की स्वयं की अर्थात 'सुप्रीम अथॉरिटी' की आज्ञा हुई। अत: अन्य सभी सिद्धान्त कहाँ रहे? मंदिर के लिए श्रीनाथजी बाबा की आज्ञा होने के बाद श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धान्त उसके विरुद्ध यदि हों तो over rule माने जायेंगे।

(38/ख) श्रीनाथजी के मंदिर की बात को 'अपवाद' शब्द का प्रयोग करके टालने से किसी भी वैष्णव के मन का समाधान नहीं होता। या तो यह कहो कि ''श्रीजी बाबा का मंदिर सिद्धान्त से विरुद्ध है'' अथवा इस बात को स्वीकार करो कि श्री महाप्रभु जी के सिद्धान्त में मंदिर के विरोध की बात नहीं है''।

प्रश्न - (38/ग) घर में सेवा करने की जो बात है उसका अर्थ यह नहीं है कि जाहिर मंदिर नहीं होने चाहिए।

प्रश्न - (38/घ) हिन्दू - धर्म के अन्य असंख्य मंदिरों की परम्परा के प्रवाह में टिके रहने के लिए अपने पुष्टिमार्ग के मंदिर होना आवश्यक है। वरना हम हिन्दू धर्म के प्रवाह से बिछुड़ जायेंगे।

प्रश्न - (38/ङ) ''पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों के अनुसार मंदिर हो ही नहीं सकते'' यह सैद्धान्तिक मुद्दा है और ''मंदिर मिठाई की दुकान बन गये हैं'' यह मंदिरव्यवस्था पर उठता व्यावहारिक मुद्दा है। इसमें विचारणीय यह है कि मंदिरप्रणाली ही यदि सिद्धान्त विरुद्ध है तो मंदिरों की व्यवस्था को सुधारने का प्रश्न ही कैसे खड़ा हो सकता है? ऐसी विरोधाभासी दलील कोई मानसशास्त्री सुने तो हृदय को दुःख हुए बिना न रहे!

उत्तर (38=50+51) विशेष :--- प्रश्न 51 और 52 के मुद्दों का पर्याप्त विचार प्रश्न 49-50की चर्चा में हो चुका है।

(38/क) मंदिर बनाने की श्रीजी की आज्ञा, जो श्री महाप्रभु जी

के सभी सिद्धान्तों को 'सुप्रीम अथॉरिटी' के साथ 'ओवर रुल' करती हो तो क्या वह स्वयं श्रीजी के स्वरूप की सेवा के सन्दर्भ में या प्रत्येक पुष्टिस्वरूप के संबंध में? यदि श्रीजी की ही सेवा के संबंध में 'ओवर रूलिंग' हुई हो तो श्रीजी के मंदिर को और वहाँ चलते सेवाप्रकार को अपवाद माने बिना कोई छुटकारा ही नहीं है। यदि प्रत्येक पुष्टिस्वरूप की सेवा के लिए वह आज्ञा मानें तो पुष्टिमार्ग के हर एक मंदिर या हवेलियों को शिखर कलश ध्वजा से अलंकृत करके गैर पुष्टिमार्गीय दैवी भक्तों को मुखियागिरी सौंप कर चलाना चाहिये। ऐसे ही "बेझड़ की रोटी, टेंटी का साग, दूध - दही, छाछ - माखन" के सीमित नेग - भोग के साथ ही सभी मंदिरों को चलाने का आग्रह रखना चाहिए। फिर तो मठड़ी - मोहनथाल - बूंदी - सेव की मिठाईयों के नेग - भोग की दुकान चला ही नहीं सकते। नेग - भोग, राग - शृंगार का बढ़ाया हुआ वैभव भी श्रीजी की आज्ञानुसार ही बढ़ाना चाहिए - श्रीमहाप्रभुजी या श्रीप्रभुचरण के श्रीनाथजी द्वारा ओवर रूल्ड हुए सिद्धान्तानुसार नहीं।

(38/ख) इसमें भी गैर ब्रह्मसंबंधी दैवी भक्तों के श्रीजी की साक्षात सेवा करने के अधिकार को यदि सिद्धान्त नहीं मानकर, इसके लिए 'अपवाद' शब्द का प्रयोग करके उस बात को टाला जाता हो तो उससे श्रीनाथजी के ही किसी भी सच्चे भक्त के मन का समाधान नहीं हो सकता। या तो यह कहो कि "श्रीजी का वह मंदिर श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धान्तों से सर्वथा विपरीत था" या यह कबूल कर लो कि पुष्टिमार्ग की प्रत्येक हवेली में गैर ब्रह्मसंबंधी दैवी भक्तों को भी अपरस में नहा कर साक्षात सेवा करने का अधिकार श्रीमहाप्रभुजी के सभी सिद्धान्तों को ओवर रूल करके "समस्त संसार के स्वामी - धणी के धणी" श्रीजी ने स्वयं ही दिया है।

(38/ग) घर में सेवा करने के सिद्धान्त का सच्चा अर्थ करने का अधिकार प्रश्नकर्ता भाई को है या श्रीप्रभुचरण, उनके सात आत्मज,

श्रीकल्याणरायजी, श्रीहरिरायजी, श्रीपुरुषोत्तमजी आदि विद्वान व्याख्याकारों को है?

(38/घ) हिन्दू - धर्म के अन्य मंदिरों के प्रवाह के सामने टिकना हो तो समय - शक्ति - सम्पत्ति - श्रद्धा और सुव्यवस्था को अकल्पनीय नुकसान पहुँचाने वाली पुष्टिमार्गीय सेवाप्रणाली को बंद करके विविध देवी - देवताओं की पूजाप्रणाली वाले मंदिर प्रारम्भ करने की सिफारिश क्यों नहीं करते?

उत्तर - (38ङ) सिद्धांत और व्यवहार की परस्पर अतिशय विसंगति की विडंबना ने ही विश्व में श्रेष्ठतम हमारे सम्प्रदाय को आज एकदम नकारा बना दिया है। स्वयं प्रश्नकर्ता भाई भी इस प्रश्नावली में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक मुद्दों की निरन्तर मिलावट करके उसकी खिचड़ी ही तो पका रहे हैं। उसका दु:ख क्या मानसशास्त्रियों को नहीं होता? भय, मानस शास्त्रियों को होते दु:ख का या श्रीमहाप्रभुजी को होते दु:ख का अधिक रखना चाहिए?

विशेष :- प्रश्न - 52 और 53 के मुख्य मुद्दे पिछले प्रश्नों का ही पुनरावर्तन है, अत: यहाँ उनके उत्तर अनावश्यक हैं।

प्रश्न (39=53 का शेष भाग)

गोस्वामी बालक स्वयं के चरणों में मनी - आर्डर या चेक आदि सभी प्रकारों से आयी हुई भेंट को खुशी - खुशी स्वीकारते हैं। यदि सामर्थ्य हो तो भक्ति-भावयुक्त वैष्णवों की ही भेंट स्वीकारने का पुरुषार्थ दिखाना चाहिए। परन्तु ऐसा करते नहीं और ठाकुरजी की सेवा में अंगीकार कराने हेतु आये हुए द्रव्य का विरोध -- "इस तरह द्रव्य देने वालों में भक्तिभाव नहीं होता" कहकर करते हैं!

उत्तर (39=53 का शेष भाग) भक्तिभावरहित या भक्तिभावसंहित किसी भी पराये मनुष्य से भगवत्सेवार्थ द्रव्य स्वीकारना सेवा के उपदिष्ट तनुवित्तजा स्वरूप से विरुद्ध ही है। इसके अतिरिक्त गुरु के लिए निषिद्ध देवलक वृत्ति का स्वीकार आदि महापातक दोषों का

स्वरूप भी हम देख ही चुके हैं। भावभक्तिरहित वैष्णव या अवैष्णवों द्वारा विविध प्रकार से भेजी जाती भेंट भी यदि गोस्वामी बालक न स्वीकारें तो इससे उत्तम और क्या हो सकता है? परन्तु ठाकुरजी के नाम से स्वीकार कर अंत में तो खुद के ही लिए वह द्रव्य या सामग्री उपयोग में आती है और प्रश्नकर्ता भाई जैसे इसके प्रबल समर्थक गोस्वामी बालकों की बाल बुद्धि को भरमाकर उलटी राह पर भटकाते हों तो पुष्टिमार्गीय बालकों को कौन से खड्ड में जाकर पड़ना?

(प्रश्न 40=54 का सारांश) समय के साथ धीमे - धीमे ग्रन्थों की और विवेचन-प्रवचनों की वृद्धि के साथ पुष्टिसम्प्रदाय का फैलाव हुआ है। अधिक से अधिक लोग वैष्णव बन कर पुष्टिमार्ग में आने लगे, अतः उन - उन गाँवों में और शहरों में बिराजकर अपने ठाकुरजी के दर्शन का लाभ देना गोस्वामी बालकों के लिए अशक्य हो गया होगा। इसीलिए उन - उन गाँवों और उन - उन शहरों के वैष्णवों की जनभावनाओं और आतुरता को देखकर उन - उन गोस्वामी बालकों ने खूब दीर्घ दृष्टि रखकर उन - उन गाँवों शहरों में मंदिर-निर्माण खोलने की आज्ञा देना प्रारम्भ किया होगा। फलस्वरूप देश के कोने - कोने में अपने सम्प्रदाय के मंदिर बने होंगे।

सभी मंदिरों में गोस्वामी बालक स्वयं नहीं बिराजते परन्तु उन मंदिरों में ठाकुरजी की सेवा तो होती ही है और हजारों वैष्णव भी भाव से दर्शनों का अमूल्य लाभ लेते हैं। मंदिर बने और उनके लिए आज्ञा गुरु बालकों ने दी और यह आज्ञा, समय और परिस्थितियाँ देखकर तथा वैष्णवों की बढ़ती संख्या और पुष्टिसम्प्रदाय का उत्तरोत्तर विस्तार और भावना, भक्ति की जागृति और आतुरता देखकर दी हुई है।

उत्तर (40=54) लालन - पालन न कर सकते हों तो या तो पैदा ही नहीं करना चाहिए और पैदा कर ही दिया है तो कम से कम कुसंस्कारी

न बन जाए इतनी संभाल तो माता - पिता को रखनी ही चाहिए। परन्तु सामर्थ्य के अभाव के कारण अपनी संतति यदि कुसंस्कारी बन ही गयी हो तो भी अपनी संतति की चोरी, लबारपन और गुंडागर्दी जैसी बुरी लत को प्रोत्साहन देना तो किसी भी माता के लिए कभी भी शोभास्पद नहीं हो सकता। पुष्टिमार्ग या किसी भी धर्म - सम्प्रदाय के अनुयाइयों को उन - उन धर्म गुरुओं द्वारा स्वयं अपनी संतति के समान ही समझा जाना चाहिए। अतः स्वसिद्धान्तानुसार पालन - पोषण न कर सके तो या तो इस प्रमाण में बढ़ाने ही नहीं चाहिए अथवा भूतकाल की किसी भूल के परिणामस्वरूप बढ़ ही गये हों तो उनकी स्वमार्गीय सिद्धान्तों से विरुद्ध मनोवृत्ति या प्रवृत्ति को प्रोत्साहन तो कम से कम नहीं ही देना चाहिए।

(प्रश्न - (41=55+56 का सारांश)

प्रश्न - (41/क) गोस्वामी बालकों के समक्ष विवाद न भी करते हों पर अब वैष्णव बुद्धिमान हो गए हैं, अतः गोस्वामी बालकों के स्वार्थयुक्त या निःस्वार्थ विधानों में भेद कर सकते हैं।

प्रश्न - (41/ख) पुष्ट किये गये ठाकुरजी जहाँ बिराजते हों ऐसे मंदिरो की निन्दा प्रभु निन्दा ही कहलाती है। ऐसे दुष्कृत्य में कीमती समय बरबाद करने के बजाय समय की मांग, व्यवस्था आदि अनेकानेक पहलुओं को लक्ष्य में रखकर मंदिरों के संचालनार्थ ' आचार संहिता' बना देनी चाहिए। इस तरह के ठोस कार्य की जिम्मेदारी किसी बालक को लेना चाहिए। जाहिर में विरोधाभासी प्रवचनों से तो वैष्णवों में कई तरह की गुटबाजी का सौ प्रतिशत गर्भित भय है और उसके दुष्परिणाम सम्प्रदाय के लिए हानिकारक साबित होंगे। पूर्ववर्ती गोस्वामियों द्वारा खूब श्रम लेकर सिंचित किया गया पुष्टिवृक्ष सूख जायेगा।

प्रश्न - (41/ग) वैष्णव इन दुविधा युक्त बातों को सुन - सुन कर सम्प्रदाय को छोड़ कर सीधे और सरल मर्यादामार्ग की तरफ मुड़ जायेंगे, अतः गम्भीरता से विचार करने का समय आ गया है।

उत्तर - (41=55+56)

(41/क) कारखाने में अच्छी तरह से मजदूरी करने वाला, अदालतों में अच्छी तरह से कानूनी दलील करने वाला, विद्यालयों में अच्छी तरह से पढ़ाने वाला, होटलों में अच्छी सामग्री बनाकर अच्छी तरह से परोसने वाला या मच्छीमारों में अच्छी तरह अधिक मच्छी पकड़ने वाला सभी बुद्धिमान माने जाते हैं। तदनुसार अमुक - अमुक धर्म-सम्प्रदायों में अपने - अपने धर्म-सिद्धान्तों या आदर्शों को अच्छी तरह समझकर अमल में लाने हेतु पुरुषार्थपरायण को ही बुद्धिमान गिनना चाहिए अन्यथा तो मूर्ख और मूर्ख ही।

(41/ख) शास्त्रानुसार प्राणप्रतिष्ठा हो तो शिला या धातु आदि की मूर्ति को देव माना जाता है। स्वमार्ग में श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धान्त और कानी से पुष्ट सेवित स्वरूप ही पुष्टि पुरुषोत्तम बाकी तो --- श्रीमहाप्रभुजी द्वारा निर्दिष्ट आचार-संहिता को ही आज हम अनुसरना नहीं चाहते तो आधुनिक गोस्वामी बालकों द्वारा घड़ी गई आचार संहिता को मानेगा कौन? समय तो अपना काम करता ही रहा है और करता रहेगा।

(41/ग) जाहिर मंदिरों के चलते भी इतने अधिक लोग जब पुष्टिमार्ग को छोड़कर अलग - अलग पंथों की तरफ चले ही गये हैं तब एक बार उनको बंद कर सत्संग - हॉल के प्रयोग को आजमाने में परेशानी क्या है; यदि जीना ही हो तो! (विशेष :- प्रश्न 57 अनावश्यक होने से उत्तर नहीं दिया है।)

प्रश्न - (42=58+59 का सारांश)

(42/क) वैष्णवता का मूल आधार ''ब्रह्मसंबंध मंत्र'' है। अत: ब्रह्मसंबंध लेने के बाद ही वैष्णव को सेवा करने का अधिकार जो मिलता है, उसमें ठाकुरजी को भोग धरे हुए प्रसाद को लेने का

अधिकार भी समाहित है। वैष्णव ने तो ब्रह्मसंबंध लेकर अपना सर्वस्व ठाकुरजी को समर्पित कर दिया है और उस भावना से ठाकुरजी को भोग धरने के बाद उस प्रसाद को लेना वैष्णव का अधिकार ही नहीं कर्तव्य भी है।

(42/ख) ब्रह्मसंबंध-दीक्षा गोस्वामी बालक वैष्णवों को कैसे देते हैं, वह जानने लायक है: मंदिर में श्रीठाकुरजी के स्वरूप के समक्ष वैष्णवों के हाथ में तुलसीदल पधराकर तीन बार मंत्रोच्चारण गोस्वामी बालक कराते हैं। तदुपरांत तुलसीदल श्रीठाकुरजी के चरणों में समर्पित किया जाता है। यह सर्वस्व - अर्पण श्री तुलसीजी की महत्वूपर्ण साक्षी में गोस्वामी बालक की मार्फत ठाकुरजी को ही होता है -- ब्रह्मसंबंध के मंत्र में गोस्वामी बालक अथवा गुरु को सर्वस्व अर्पण का उल्लेख नहीं है - श्रीठाकुरजी को ही समर्पण करने की भावना है। ब्रह्म-संबंध दाता गुरु आदर के पात्र अवश्य हैं परन्तु उनको समर्पण नहीं किया जाता। ब्रह्मसंबंध लेने से श्रीठाकुरजी के चरणारविंद में सीधे भेंट धरने के अधिकार के उपरांत भोग धरने की या कीर्तन आदि करने की विविध सेवाओं का भी अधिकार वैष्णव को मिल जाता है। इससे फलित हुआ कि यदि ब्रह्मसंबंध लिया हुआ वैष्णव श्रीठाकुरजी को द्रव्य अर्पण करे तो उसमें गुरु को माध्यम बनाने की आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न - (42/ग) भगवत्सेवार्थ भेंट लेने के बाद उस भेंट को भगवत्सेवा के लिए विनियोग करने का दायित्व गुरु का हो जाता है। भगवत्सेवा में विनियोग करने के बाद उस द्रव्य का उपयोग करने का अधिकार गुरु का बन जाता है। हाईकोर्ट में केस इस मुद्दे

पर लड़ा गया था कि मंदिर में धरी गई भेंट पर गोस्वामी बालकों का अधिकार है, उसमें यह नहीं कहा गया था कि वह देवद्रव्य है। हाईकोर्ट ने परन्तु उसको देवद्रव्य माना और कहा कि इस पर गुरु - बालकों का अधिकार नहीं है - इसीलिए गुरु - बालकों की स्थिति पुजारी जैसी बनी है?

प्रश्न - (42/घ) हाईकोर्ट के इस निर्णय के बाद अब यह बात चलन में आयी है कि "मंदिर में भेंट मत धरो - गुरु को भेंट धरो"। इससे पूर्व मंदिर में भेंट अधिक से अधिक आए इसके लिए अनेक प्रकार के आयोजन होते थे। बुद्धिशाली वैष्णव समझ सकते हैं कि ब्रह्मसंबंध मंत्र में श्रीठाकुरजी को समर्पण करने की भावना या संकल्प है, गुरु को समर्पण करने की बात बताने में नहीं आई। वर्षों से जिस द्रव्य का उपयोग गोस्वामी बालक करते आये हैं उस द्रव्य को अब देवद्रव्य कहकर उपयोग में लाने की मनाही क्यों की जा रही है?

उत्तर (42=58+59)

(42/क) वैष्णवता का मूल आधार ब्रह्मसंबंध दीक्षा नहीं अपितु शरणागति अर्थात् अष्टाक्षरमंत्र की दीक्षा है। ब्रह्मसंबंध-दीक्षा तो वैष्णवी जीवन के शिखर रूप - स्वयं के घर में स्वयं के तन - मन - धन और परिजनों के साथ - भगवत्सेवामय जीवन जीने की दीक्षा या शपथ है। यह पुष्टिप्रभु की सन्निधि में तुलसीपत्र हाथ में देकर गुरु = गोस्वामी बालक द्वारा दिलाई जाती शपथ है।

स्पष्टतया जो अपने घर में अपने माथे बिराजते ठाकुरजी की सेवा के नियम से भागने हेतु गुरु के घर बिराजते ठाकुरजी के ऊपर दृष्टि बिगाड़ता है वह तो गुरु पत्नी या गुरुपुत्री के ऊपर दृष्टि बिगाड़ने वाले

जघन्यकोटि के अनुयायी से भी बढ़कर नराधमकोटि का मनुष्य है। गुरु पत्नी या गुरु पुत्रियों के साथ गुरु के जो संबंध हैं वह तो आधिभौतिक या आधिदैहिक संबंध हैं। इनके ऊपर दृष्टि बिगाड़ने पर गुरु का कुछ बिगड़ता भी हो तो वह गुरु के साथ लौकिक संबंध रखने वाले व्यक्तियों का बिगाड़ है। गुरु का अपने ठाकुरजी के साथ संबंध तो बहुत ऊँची कक्षा का आध्यात्मिक या आधिदैविक संबंध होता है। उस गूढ़स्त्रीभावात्मक स्वरूप पर दृष्टि बिगाड़ने का बड़ा अपराध तो पुष्टिमार्ग में संभव हो ही नहीं सकता।

अतः ब्रह्मसंबंधदीक्षा में गुरु को अथवा तो गुरु के माथे बिराजते ठाकुरजी के स्वरूप को भी सर्वस्व - अर्पण करने की बात योग्य नहीं है। यदि ऐसा सिद्धान्त या ऐसी भावना हो तो हवेली और वहाँ आती भेंट – सामग्री जैसे गोस्वामी बालकों की मालिकी की नहीं मानी जाती, वैसे ही हवेली में बिराजमान ठाकुर जी के समक्ष ब्रह्मसंबंधदीक्षा लेकर सर्वस्व - समर्पण करने वाले हर एक वैष्णव का घर या सम्पत्ति भी निजी न रहकर तत् - तत् हवेली में बिराजमान श्रीठाकुरजी की मालिकी का देवद्रव्य होने से सार्वजनिक पब्लिक ट्रस्ट बन जानी चाहिए। यह तो वही बात हुई कि - "तेरा - मेरा साझे का और मेरा तो मेरे बाप का ही।" क्या कोई वैष्णव अपने घर बिराजते ठाकुरजी की सेवा में अन्य किसी पड़ोसी या बाहर गाँव से आये वैष्णवों को अपने ठाकुरजी को भेंट धरने, सामग्री आरोगाकर प्रसाद लेने या दर्शन – कीर्तन करने का अधिकार और कर्तव्य स्वीकार करता है? यदि नहीं तो गोस्वामी बालकों की हवेलियों में बिराजते ठाकुरजी को भेंट धरने, सामग्री आरोगा कर प्रसाद लेने दर्शन - कीर्तन करने का अधिकार और कर्तव्य किस कारण से मांगा या माना जा सकता है? उसे ठाकुर जी के सामने ब्रह्मसंबंध लिया होने से मान्य किया जाता हो तो जैसे गोस्वामी बालक की हवेली और सम्पत्ति उसकी निजी

नहीं होती वैसे ही ब्रह्मसंबंध लेने वाले वैष्णवों का भी घर और सम्पत्ति निजी न होकर उन ठाकुरजी की मालिकी का सार्वजनिक ट्रस्ट क्यों नहीं होना चाहिए? यदि स्वीकार्य हो तो भोग धरने के बाद गोस्वामी बालकों की तरह दर्शनार्थी वैष्णवों का भी उस देवद्रव्य का प्रसाद लेने का अधिकार स्वीकारने में कोई तार्किक बाधा नहीं आती!

हकीकत में तो ब्रह्मसंबंधदीक्षा में सामान्य अर्थ में पुष्टि पुरुषोत्तम को ही सर्वस्व - समर्पण करना होता है - हवेली में बिराजते ठाकुरजी को नहीं। आत्मसमर्पण से अधिकार मिलता है: स्वयं के माथे पधराने में आए या आने वाले पुष्टि पुरुषोत्तम के किसी स्वरूप की सेवा का ही। इस 'अधिकार' शब्द के भी पुन: दो अर्थ होते हैं (1) योग्यता (2) हक। अंग्रेजी भाषा में इसके लिए Eligibility एवं Right ऐसे दो अलग - अलग शब्द प्रयुक्त होते हैं। इसमें से ब्रह्मसंबंधदीक्षा लेने पर जो सर्वस्व - विनियोग या सेवा का अधिकार मिलता है, वह 'हक' के अर्थ में न होकर 'योग्यता' के अर्थ में ही होता है। "भारत देश के किसी भी नागरिक को देश के किसी भी भाग में बसने की योग्यता के मूलभूत अधिकार" का गलत अर्थ निकालकर कोई गिलिंडर व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के घर में रहने के अपने अधिकार का दावा करने लगे तो उसे दूसरे के घर के बजाय पागलखाने में रहने का ही अधिकार निर्विवाद स्वीकारना पड़ेगा! संविधान ने किसी भी वयस्क स्त्री - पुरुष को जात-पाँत के भेद बिना आपसी सहमति से विवाह का जो अधिकार दिया हुआ है, उस अधिकार की दुहाई देकर इच्छुक/अनिच्छुक किसी भी स्त्री के साथ विवाह का अपना हक ही नहीं, बल्कि कर्तव्य भी (!) यदि कोई मान ले तो ऐसे गिलिंडर मजनू को क्या कहना? यही बात इस प्रश्न के उत्तर के रूप में विचार लेनी चाहिए!

एक ओर सर्वस्व - समर्पण के बिगुल बजाना, दूसरी ओर बाहर गाँव जाकर बसने का प्रसंग आते ही, जिस स्वरूप के साथ ब्रह्मसंबंध हुआ है उस स्वरूप को भूलकर, जिस किसी गाँव के - जिस किसी स्वरूप की सेवा में भेंट - सामग्री - दर्शन के अधिकार का दावा कर देना! ऐसी ही होती है निष्ठाविहीन आधुनिक वैष्णवों की सर्वस्व - अर्पण करने की लाक्षणिक नवमी आत्म निवेदनरूपा भक्ति!! विवाह के समय अपने धर्मार्थकाम पुरुषार्थ रूप सर्वस्व के अर्धांश को अर्पण करने की अग्नि की साक्षी में ली गई प्रतिज्ञा को भूलकर यदि पति - पत्नी में से कोई एक अलग - अलग गाँवों में अपने धर्मार्थकाम पुरुषार्थ के अर्धांश को अर्पण करने के लिए अलग - अलग जोड़ीदार ढूँढ़ने लगे तो विवाह-संस्था ही दुनिया में से नामशेष रह जायेगी कि नहीं?

(42/ख) ब्रह्मसंबंधदीक्षा लेने के बाद पुष्टि पुरुषोत्तम की सेवा में अपना सर्वस्व विनियोग करने के लिए जैसे गुरु के माध्यम की आवश्यकता नहीं है, उसी तरह गुरु के माथे या जाहिर मंदिर में बिराजते ठाकुर जी के माध्यम की भी आवश्यकता नहीं है। जिसे अपने घर में भगवत्सेवा नहीं करनी हो उसे ब्रह्मसंबंध लेने की या देनी की आवश्यकता ही नहीं है। यदि लिया जाता है या दिया जाता है तो - "लोभी गुरु लालची चेला, दोनों नरक में ठेलम - ठेला" - जैसा ही कुछ हुआ समझना चाहिए। "ब्रह्मसंबंध में ठाकुरजी को सर्वस्व-समर्पण करने की बात है"- कहकर उसका खुलासा भी प्रश्नकर्ता भाई ने किया है कि "उसमें गुरु को समर्पण करने का उल्लेख नहीं है" यह तो शत - प्रतिशत सच्ची बात है। खुद के विधान का परन्तु, खुद ने अर्थ विचार किया हो ऐसा लगता नहीं है। क्योंकि ब्रह्मसंबंधदीक्षा के मंत्र में जैसे गुरु का उल्लेख नहीं है वैसे ही गुरुओं के माथे बिराजते श्रीनाथजी,

श्रीनवनीतप्रिया जी, श्रीमथुरेशजी, श्रीविठ्ठलनाथजी, श्रीद्वारकाधीशजी, श्रीगोकुलनाथजी, श्रीगोकुलचन्द्रमाजी, श्रीकल्याणरायजी, श्रीमदनमोहनजी, श्रीनटवरलालजी, श्रीबालकृष्णलालजी आदि स्वरूपों का उल्लेख न होकर मात्र 'भगवान कृष्ण' का ही उल्लेख है। अत: जिसको भगवान कृष्ण के किसी स्वरूप के साथ खुद का पाणिग्रहण न करना हो उसको पाणिग्रहण करना ही नहीं चाहिए, अर्थात् ब्रह्मसंबंध ही नहीं लेना चाहिए। बाकी सभी चर्चा तो अज्ञान - दुर्भावमूलक हैं।

उत्तर (42/ग) प्रश्न के इस भाग में जो कुछ कहा गया है वह तो धर्मनिरपेक्ष अदालतों के निर्णयों का कार्यान्वयन जैसे नीचे के ओहदेदार, तहसीलदार आदि जिस तरह आँख मींचकर करते हैं, वैसी ही लाक्षणिक मनोवृत्ति को उजागर करने वाला है। ऐसी मनोवृत्ति का पुष्टिमार्ग के धार्मिक सिद्धान्त या परम्परा या मनोभावों के साथ कोई लेना - देना ही नहीं है।

(42/घ) सुप्रीम कोर्ट भी अपने दिये गये निर्णयों में कमियां निगाह में आते ही अपने ही निर्णयों को एक बार नहीं अनेक बार, सुधार चुका है। अत: भूतकाल में हुई भूल को नहीं सुधारना तो जड़ाग्रह है। जैसे - एक भेड़ खड्डे में पड़े तो पीछे की सभी भेड़ों को उसी खड्डे में पड़ते रहना। इस संबंध में अंतरराष्ट्रीय पुष्टिमार्गीय वैष्णव परिषद को अंतरराष्ट्रीय महा अधिवेशन का आयोजन करना चाहिए। उसमें ''सभी पुष्टिमार्गीयों को आज से मनुष्यों की तरह नहीं पर भेड़ों के समान पुष्टिमार्ग पर भटकना है।'' ऐसा प्रस्ताव सर्वानुमति से या बहुमत से जब तक पास नहीं किया जाए तब तक कौन बुद्धिमान मनुष्य ऐसी बात को स्वीकार सकता है! इसी बात को समझने के लिए भेड़बुद्धि से बाहर आकर थोड़ी मानव बुद्धि उपयोग में लानी ही पड़ेगी तब बात समझ में आयेगी!!

प्रश्न - (43=60+61+62 का सारांश)

(43/क) वैष्णव और गुरु के लिए एक जैसे सिद्धान्त नहीं हो सकते, ''सत्संग हॉल बनाओ मंदिर नहीं'' यह बात आघातजनक है। पुष्टि मार्ग आनन्द का मार्ग है, वह ठाकुरजी के मंदिर में ही शक्य है, सत्संग - हाल में नहीं।

(43/ख) कुछ वैष्णवों को बारी - बारी से मंदिर और सत्संग - हॉल में ले जाकर उनके पूर्वाग्रह रहित प्रतिभावों को जानकर, इसकी आजमाइश कर वास्तविकता जानी जा सकती है।

(43/ग) पूज्यपाद गोस्वामी बालकों के अधरामृत लेने के लिए वैष्णवों में कितनी छीना-झपटी रहती है। उस पर टीका - टिप्पणी तो नहीं की जा सकती परन्तु मंदिरों में भोग धरे गए बूंदी - मोहनथाल - लाडू - मठडी - बरफी - पेड़ा - मलाई - पिस्ता - पेठापाक आदि को मिठाई जैसे अशोभित शब्द वापर कर निन्दा की जाए तो क्या योग्य है?

उत्तर (43=60+61+62)

(43/क) वैष्णवों और गोस्वामी बालकों के एक जैसे सिद्धान्त न होने की गढ़ी हुई बात प्रश्नकर्ता श्रीअमृतलाल भाई की वाणी है। पुष्टि मार्ग के प्रवर्तक या प्रसारक किसी भी विद्वान आचार्य के वचनामृत नही हैं। पुष्टि मार्ग के सिद्धान्त और आदर्श मनोभाव आज की तारीख में कथित वैष्णवों में मृत लाल भाई बन गए हैं।

(43/ख) अमृतलाल भाई के विषय में, अत:, सत्संग - हॉल और/अथवा मंदिर, इन दो स्थानों के बीच कहाँ अधिक आनन्द का अनुभव होता है, इसका प्रतिभाव मंदिर के पक्ष में जाता है, इसकी कल्पना कर सकते हैं और स्वीकार कर सकते हैं। पर इस हकीकत को मान्य रखने

में एक बड़ी बाधा यह है कि अपने व्यावसायिक मंदिरों के ढोंग तो धूमधाम से चल ही रहे हैं फिर आनन्दय पुष्टि मार्ग से विमुख होकर वैष्णव स्वाध्याय आंदोलन या स्वामी नारायण पंथ में कैसे दौड़ पड़े! आज के दु:संगरूपी कीचड़ में आकंठ डूबे वैष्णव कहीं सत्संग प्राप्त कर पुष्टि के सच्चे पथ पर अग्रसर न हो जाएं, ऐसे स्वमार्गीय सिद्धान्तों की सच्ची समझ विकसित करने के योग्यतम उपायरूप सत्संग-हाल के प्रति कोई घबराहट और द्वेषभरी चिंता ऐसे प्रश्नों में झलक रही है।

(43/ग) प्रभु को निवेदित निजद्रव्य के समर्पण और विनियोग के रूप में ठाकुरजी को भोग धरना नहीं - जाहिर जनता के अनिवेदित द्रव्य से नेग - भोग का नाटक करना - वह भी मुफ्त में भोग धरी सामग्री का, उसका गौरव बनाये रखने के लिए नि:शुल्क वितरण करने के बजाय, पैसे लेकर उसको बेचना, उस 'महाप्रसाद' को मिठाई ही बना देता है। जो गोस्वामी बालक अपने अधरामृत को इस तरह बेचने का धंधा खोलें, उसको मिठाई नहीं अपितु वैष्णवों के साम्प्रदायिक स्वास्थ्य को अक्षम्य हानि पहुँचानेवाला विष ही मानना चाहिए। ऐसा अधरामृत जो लेता हो, उसको वह (अधरामृत) अर्धमृत ही बना देता है। बाकी उस अर्धमृत बनाने वाले अधरामृत को बेचने वालों का ब्राह्मणत्व तो पूरी तरह मृत ही बन जाता है।

प्रश्न - (44=63 का सारांश)

(44/क) एक गोस्वामी बालक को दूसरे गोस्वामी बालक का आदर करना चाहिए। पूज्य इन्दिरा बेटी जी ने रु.1000/= का फंड देकर मंदिर खोलने की आज्ञा दी। उसमें पूज्य सुरेश बाबा को दखल नही करनी चाहिए। क्योंकि यदि सुरेश बाबा ने इस तरह फंड देकर आज्ञा दी होती और पूज्य इंदिरा बेटी जी उसमें दखल देते तो यह नीति सम्मत कहलाता? अत: इंदिरा बेटी जी को जाहिर सभा में

दिये गये वचन का उल्लंघन कर सुरेश बाबा की आज्ञा मानने पर, वैष्णवों को अपराध नहीं लगेगा?

(44/ख) ठाकुरजी का मंदिर नहीं बनाकर श्रीमहाप्रभुजी का जाहिर मंदिर स्थापित करना या सत्संग - हॉल बनाना, इस विकल्प की आज्ञा भी उचित नहीं लगती, क्योंकि यदि श्रीमहाप्रभुजी का घरसेवा का ही सिद्धान्त हों तो श्रीमहाप्रभुजी की सेवा या सत्संग भी घर में ही करना चाहिए, सार्वजनिक स्थल पर नहीं। इसके अतिरिक्त इस तरह की अविचारित आज्ञाओं के कारण लोग धीरे - धीरे ठाकुरजी को भूल जायेंगे, इसका अपराध नहीं लगेगा?

(44/ग) गोकुल - अहमदाबाद - मथुरा - नाथद्वारा आदि प्रसिद्ध जाहिर मंदिरों को भी श्रीमहाप्रभुजी के मंदिरों में परिवर्तित किये बिना ऐसे सुधार सूचित करने का अधिकार किसी को भी नहीं है।

(44/घ) श्रीनाथजी का मंदिर स्वयं श्रीनाथजी की आज्ञा से श्रीमहाप्रभुजी ने स्थापित किया था। ठाकुरजी की सेवार्थ घर और मंदिर का भेद करने वाले अलग - अलग ग्रन्थ भी प्रचलित हुए हैं। श्रीमहाप्रभुजी के मंदिर में सेवा करने के विधि - विधानों का किन्हीं भी पौराणिक ग्रन्थों में उल्लेख नहीं मिलता।

(44/ङ) इसके सिवा वैष्णवों को जो ब्रह्मसंबंध की दीक्षा दी जाती है वह तो श्रीठाकुरजी के मंदिर में श्री ठाकुर जी के सन्मुख ही दी जाती है। क्या वह दीक्षा श्रीमहाप्रभुजी के मंदिर में दे सकते हैं? ऐसा करने के लिए मंत्र में सुधार करना पड़े तो और पौराणिक मौलिक ग्रन्थों में सुधार करना पड़े तो करने का अधिकार किसको है? इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि स्वतन्त्र श्रीठाकुरजी का मंदिर होना सर्वश्रेष्ठ है। यह एक कड़वा सच है। हिम्मत नगर में

श्रीठाकुरजी का मंदिर नहीं बने तो भविष्य में कोई गोस्वामी बालक हिम्मत नगर में बिराजेंगे तो भी वे ब्रह्मसंबंध मंत्र की दीक्षा तो नहीं ही दे पायेंगे, कारण कि ठाकुरजी का मंदिर ही नहीं है। महाप्रभुजी के मंदिर से वैष्णवों की यह आधारभूत मुख्य आवश्यकता पूरी नहीं होगी।

(44/च) श्रीमहाप्रभुजी पूज्य आदरणीय आद्य गुरु हैं। "महाप्रभु और श्रीजी बाबा एक हैं" ऐसे शब्दों का प्रयोग महाप्रभुजी के प्रति मात्र आदरभाव प्रकट करने के लिए उचित है, परंतु इससे आगे बढ़कर श्रीजी बाबा के मंदिर बनाने के विचार को त्याग कर, महाप्रभुजी का मंदिर बनाना, यह कार्य - महाप्रभु जी ने जिनको अपना इष्ट माना है उन श्रीजी बाबा से विरुद्ध कार्य होगा। महाप्रभुजी के इष्टका अनादर तो महाप्रभुजी के अनादर के समान है।

(44/छ) श्रीमहाप्रभुजी के मंदिर अस्तित्व में नहीं हैं। यदि श्रीमहाप्रभुजी और श्रीजी बाबा को प्रत्यक्षतया एक ही मानने में आया होता तो श्रीमहाप्रभुजी के असंख्य मंदिर बन गये होते - और नहीं बने - यह सबसे बड़ा प्रमाण है कि श्रीमहाप्रभुजी का मंदिर पुष्ट की गई मूर्तिसहित मंदिर नहीं हो सकता और यदि हो तो - एक दो अपवाद ही माने जायेंगे। अपवाद के आधार पर यदि सिद्धान्ततया महाप्रभु जी का मंदिर हो सकता है तो श्रीठाकुरजी का मंदिर अपवादतया क्यों नहीं हो सकता?

उत्तर (44=63)

(44/क) सुरेश बाबा ने हिम्मत नगर के साधारण वैष्णवों को ठाकुरजी का मंदिर बनाने की मनाही की या चौथी गादी के सेवकों को हिम्मत नगर में बने मंदिर में सहयोग करने की मनाही की, इसका स्पष्ट प्रमाण मेरे पास नहीं है। फिर भी सुरेश बाबा के स्वभाव और आज्ञा देने के आज तक देखे - समझे लक्षणों के आधार पर मुझे यह नहीं लगता कि

चौथी गादी के जो सेवक नहीं हैं, उन पुष्टिमार्गीय वैष्णवों को कोई आज्ञा देने का साहस सुरेश बाबा कभी करें। अत: हिम्मत नगर में बसते चौथी गादी के सेवकों को अर्थात्, जिन्होंने सुरेश बाबा की हवेली में ब्रह्मसंबंध लेकर मार्ग में प्रवेश किया है, उनको अपनी सैद्धान्तिक समझ के अनुसार मार्गनिर्देशन यदि सुरेश बाबा नहीं करेंगे तो क्या कोई मौलवी या पादरी यह (काम) करेगा? जिस दिन ब्रह्मसंबंध लिया उस दिन से ही ब्रह्मसंबंध दाता गुरु की आज्ञानुसार मार्ग पर चलने की जिम्मेदारी जिस तरह चौथी गादी के सेवकों की है, उसी तरह उन्हें चलाने की जिम्मेदारी सुरेश बाबा के कंधों पर आई हुई या स्वयं ली हुई है। अत: सुरेश बाबा की जिम्मेदारी के विरुद्ध जाकर, जाहिर मंदिर में 'सेवा परायण रहो' कहने वाले पू.पा.इंदिरा बेटीजी कौन? अब सुरेश बाबा की उनके सेवकों की जमानत से विरुद्ध जाकर इंदिराबेटीजी स्वयं कोईआज्ञा देने का अधिकार यदि रखते हों, क्योंकि दोनों ही (पू.पा.इंदिराबेटीजी और हिम्मत नगर में बसते चौथी गादी के सेवक भी) अंतत: तो पुष्टिमार्गीय ही हैं तो, पू.पा. इंदिरा बेटीजी की आज्ञा के विरुद्ध जाकर सुरेश बाबा मंदिर नहीं बांधने की आज्ञा क्यों नहीं दे सकते? यदि कहा जाए कि पुष्टिमार्ग में विभेद पैदा करने वाली ऐसी गादियों की गुटबंदी खड़ी नहीं करनी चाहिए और मात्र महाप्रभुजी को ही गुरु मानकर, उनकी आज्ञा में सबको एक सूत्र में बंध जाना चाहिए तो प्रत्येक गोस्वामी बालक को प्रत्येक जगह श्री महाप्रभुजी के सिद्धान्त के बाबत स्वयं अपनी - अपनी समझ के अनुसार, उपदेश - आज्ञा देने का समान अधिकार सिद्ध हो जायेगा। फिर इसमें नीति या अनीति का प्रश्न खड़ा नहीं हो सकता। चौथी गादी के सेवकों को, जों कुछ महाप्रभुजी का सिद्धान्त पू.पा.इंदिराबेटीजी को प्रामाणिक लगता हो, अपनी समझ के अनुसार उपदेश देने का उनका अबाधित अधिकार है। उसी तरह सुरेश बाबा की समझ के अनुसार जो कुछ पू.पा.इंदिरा बेटीजी

द्वारा सिद्धान्त विरुद्ध उपदेश या आदेश दिये गये हों, उनकी तरफ आकर्षित न होने का उपदेश और आदेश दे सकने का सुरेश बाबा का भी उतना ही अबाधित अधिकार स्वीकारना पड़ेगा। स्वाभाविक रूप से तब प्रश्न यह होगा कि श्री महाप्रभुजी का सच्चा सिद्धान्त कौनसा? इस संबंध में सुरेश बाबा की सैद्धान्तिक समझ को कुछ देर के लिए 100 प्रतिशत गलत ही मान लें और पू.पा.इंदिराबेटीजी की समझ को ही 125 प्रतिशत सच्ची मानें तो भी बात को गंभीरता से समझना पड़ेगा :- श्रीमहाप्रभुजी ने अलग - अलग मंदिरों की प्रणाली खड़ी नहीं की पर इसमें जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्यजी का एक दीर्घ दृष्टिकोण था। प्रत्येक वैष्णव का घर नन्दालय बनना चाहिए ...... एक मंदिर के पास में एक बहन रहती है। इसके यहाँ ठाकुर जी बिराजते हैं। मंदिर की आरती के घंटे इसे सुनाई देते हैं। सेवा करने बैठी हुई यह बहन ठाकुर जी के वस्त्र निकाल कर स्नान करा रही थी, उसी समय आरती के घंटे बजे। वह बहन ठाकुरजी को यों ही छोड़कर, मंदिर दौड़ी। कुछ देर बाद घर आई। अब विचार करो, इस तरह कोई सेवा करता है तो इसमें सेवा का सच्चा आनन्द आता है? यहाँ तो प्रत्येक वैष्णव का घर नन्दालय है। (श्रीभागवततत्त्व मर्मज्ञा पू. पा. इंदिराबेटीजी : वै.प.अंक जून, 1990)

(44/ख) इस तरह पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त के सच्चे जानकार सभी प्राचीन - अर्वाचीन व्यक्तियों का जिस संबंध में मतैक्य हो, उससे विरुद्ध आचरण की छूट देने या लोकभावना को प्रोत्साहित करने की मनोवृत्ति में वास्तविक लोक हित की कामना कितनी रहती है और कितनी लोगों में अज्ञान, प्रमाद या मनोनुकूल धर्म को अनुसरने की लोकमनोवृत्ति को प्रोत्साहित करने की कामना रहती है - इसका तारतम्य खोजना अपना कर्तव्य बन जाता है। पुष्टिप्रभु का जाहिर मंदिर, सिद्धान्त से पूर्णतया विरुद्ध होने से इसका दुराग्रह स्वधर्म में सन्निष्ठ लोगों को त्याग देना चाहिए।

मर्यादामार्गीय पूजा - प्रणाली वाले जाहिर मंदिरों के लिए श्रीमहाप्रभुजी ने अपनी सैद्धान्तिक अरुचि कहीं पर प्रकट नहीं की है, अत: "पुष्टिप्रभु की पुष्टिमार्गीय सेवा करने हेतु पुष्टिमार्ग में जाहिर मंदिर नहीं होने चाहिए" (इस) विधान का द्वेष भरा अर्थघटन कि "तो फिर कोई भी मंदिर या कोई भी धार्मिक आयोजन जाहिर स्थल पर नहीं होना चाहिए" एक तरह की विचित्र वैचारिक अक्षमता का सूचक है। ऐसी वैचारिक अक्षमता के कारण खड़ी हुई मांग की अनदेखी करने से ऐसी मांग करने वाले और उसकी अनदेखी करने वाले दोनों ही अपराध से बच सकते हैं।

(44/ग) गोकुल - मथुरा-कामवन-कांकरोली-नाथद्वारा आदि स्थलों की हवेलियाँ भूतकाल में कभी जाहिर मंदिर नहीं थीं। इसी प्रकार अपनी सिद्धान्तनिष्ठा, यदि अखंड हो अर्थात् अस्वस्थ न हो तो आज या भविष्य में भी कभी जाहिर मंदिर होने ही नहीं चाहिए। अर्थात उनको महाप्रभुजी के मंदिर में परिवर्तित करने के बजाय अधिक आवश्यकता उनको निजी सेवास्थल के रूप में पुन: पुष्टिमार्गीय महिमा से मंडित करने की है। यदि यह कानूनी बंधन के कारण अथवा स्वधर्मनिष्ठा रहित जड़ बुद्धि लोगों के दबाव के कारण सम्भव न हो तो जाहिर मंदिरों के रूप में विकृत हो चुकी उन - उन हवेलियों को श्रीमहाप्रभुजी के जाहिरमंदिर के रूप में परिवर्तित करने में बाधा न होनी चाहिए। ऐसा करना परंतु तब तक शक्य नहीं है जब तक कि पुष्टिमार्गीयों को पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त मनभावना न लगें।

(44/घ) श्रीजी की स्वयं की इच्छा से उस समय वह मंदिर जाहिर मंदिर के रूप में स्थापित हुआ यह बात तो सच है पर उस समय का सेवा प्रकार न तो पूरा - पूरा पुष्टिमार्गीय था और न पूरा - पूरा तंत्रोक्त - पुराणोक्त - शास्त्रोक्त ही था। सर्वदेश काल में उसका अनुकरण यदि अपने कर्तव्य तरीके महाप्रभुजी को मान्य होता तो आज जितने निधि

स्वरूप बिराज रहे हैं उन सभी की सेवा, श्रीजी की तरह शिखर - कलश - ध्वजा वाले मंदिरों में गैरब्रह्मसंबंधी देवी भक्तों के द्वारा होनी चाहिए थी। अत: श्रीमहाप्रभुजी के मंदिरों की सेवा प्रणाली जैसे तंत्र - पुराण शास्त्रों में नहीं मिलती वैसे ही स्वयं पुष्टिमार्गीय सेवाप्रकार भी तंत्र - पुराण शास्त्रों में कहाँ उपदिष्ट है? अपितु शास्त्रविधि के अनुसार यदि शिला - धातु की मूर्ति में प्राण प्रतिष्ठा न हुई हो तो उसका आराधन तो दूर उसको वंदन करने तक की शास्त्र में मनाही है।

(44/ङ) बाकी गोस्वामी बालक तो बहुत से ऐसे गाँवों या शहरों में पधारते हैं जहाँ मंदिर नहीं होते तो भी ब्रह्मसंबंध दीक्षा तो देते ही हैं - कभी झांपीजी में पधराये हुए अपने सच्चे सेव्य स्वरूप के सन्मुख - तो कभी अपने संध्या - जप - पाठ के साज सामान के साथ बैग में सजाये हुए मात्र झारी - बंटा - सिंहासन - ठाकुरजी के चित्र के सन्मुख भी! तो हिम्मत नगर के वैष्णवों को ही ऐसी मामूली बात के लिए स्वसिद्धान्त को अनुसरने की हिम्मत क्यों हारनी!!

(44/च) जो श्रीजी का मंदिर श्रीजी की स्वयं की आज्ञा से सिद्ध हुआ उसमें आठ समय के दर्शनों में अलग - अलग पद गाने के लिए जो अलग - अलग कीर्तनकारों की नियुक्ति हुई थी और जिसे चालू रखने के लिए प्रश्नकर्ता भाई जाहिर मंदिरों के लिये आवश्यक मानते हैं उन पदकारों के पद इस मुद्दे के संबंध में क्या अभिप्राय रखते हैं, यह देख या जान लेना यहाँ अप्रासंगिक नहीं होगा ...

(1) बरनों श्रीवल्लभ अवतार।
गोकुलपति प्रकटे फिर गोकुल सकल विश्व आधार॥
सेवा भजन बताय निजजन कों मेट्यो यम व्यवहार॥
कुंभनदास प्रभु गिरधर आये दैवी उतरे पार॥

(2) जय जय श्रीवल्लभवर अवतार।
प्रकट भये पूरणपुरुषोत्तम सकल श्रुतिन के सार॥
तब ही प्रकट भये वसुदेव के तुम हर्यो सकल भूभार॥ ....॥
जात बहे हे सकल जीव कली भवसागर की धार॥
तिनकी बांह गही कमलपद राखे परम उदार।
रामदासप्रभु सब भक्तन के जीवन प्राण उद्धार॥

(3) आनन्द भयो श्रीलक्ष्मणनंदकुमार॥
भू पर प्रकट भये पुरुषोत्तम जीव किये उद्धार॥ कर नि:साधन..॥
कृष्णदास श्रीहरि की लीला जाने जाननहार॥

(4) श्रीलक्ष्मणघर बजत बधाई॥
पूरण ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम श्रीवल्लभ सुखदाई।
मिट गये द्वन्द नंददासन के मन वांछित फल पाई॥

(5) श्रीवल्लभ वृंदावन-चंद॥
अज्ञानाधि निवारण कारण प्रकटे आनन्द कंद।
मुदित भये मन दैवी जन के मिटत सकल भव फंद।
मुग्ध भये मन मायिकजन के दुष्टमूढमतिमंद।
योग यज्ञ जप 'तप ध्यानागोचर गुण गावते श्रुति - छंद।
करत पान सेवक चकोर लख बल बलदास गोविंद॥
हम तो श्रीविट्ठलनाथ उपासी।
सदा सेऊंश्रीवल्लभनन्दन कहा करूं जाय कासी।
इन्हें छांड जो ओरे ध्यावे सो कहिये असुरांशी।।
छीतस्वामी गिरधरन श्रीविट्ठल बानी निगम प्रकाशी॥
दृढ़ इन चरनन केरो भरोसो॥
श्रीवल्लभनखचंद्र छटा बिन सब जग मांझ अंधेरो।

साधन ओर नहीं या कलि में जासों होत निवेरो।

सूर कहा कहे द्विविध आंधरो बिना मोलको चेरो॥

अष्टछाप आदि भक्तकवियों के भाव, प्रश्नकर्ता भाई की तरह मात्र आदर देने के लिए दोनों को एक मानने तक नहीं दिखाई देते। अत: या तो ऐसे कहो कि अष्टछाप के कीर्तनों की पूरे देश में प्रचलित प्रणाली गलत है या यह कबूल करो कि प्रश्नकर्ता भाई को पुष्टिमार्ग के सिद्धान्त के ककहरे का भी ज्ञान नहीं है।

(44/छ) श्रीमहाप्रभुजी की बैठकें आमतौर पर समग्र भारत में विद्यमान हैं, जो उनके जाहिर मंदिर नही तो क्या हैं? इस संबंध में कोई सैद्धान्तिक वैपरीत्य भी किसी ग्रन्थ में उपदिष्ट नहीं है। तो लोक भावना और सिद्धान्त दोनों जिसमें कायम रहते हों, ऐसे श्री महाप्रभु जी के जाहिर मंदिर या सत्संग - हॉल में हकीकत में क्या बाधा होनी चाहिए? अर्थात श्री महाप्रभु जी के मंदिर या सत्संग - हॉल के कारण प्रश्नकर्ता भाई को दर्द कहाँ हो रहा है उसे स्पष्ट शब्दों में हिम्मत के साथ कबूल करके हिम्मत नगर के वैष्णवों को बता देना चाहिए। घरसेवा का सिद्धान्त पुष्टिप्रभु की सेवा के संबंध में है - श्रीमहाप्रभुजी की सेवा - या सत्संग के बाबत नहीं। जब तक श्रीजी सतघरा में, जो श्रीप्रभुचरण का घर था, पाट नहीं बिराजे और जतिपुरा के उस मंदिर के आसपास की जमीन श्री प्रभुचरण ने खरीद कर निजी मालिकी की नहीं बना ली तब तक वह श्रीजी का मंदिर पुष्टिमार्ग के सिद्धान्त के अपवाद रूप में एक सार्वजनिक मंदिर था। बाद में तो वह श्रीजी का मंदिर भी अपवाद नहीं रहा और न ही श्रीमहाप्रभुजी की बैठकें भी पुष्टिसिद्धान्त की अपवाद रहीं। अत: इस प्रश्न भाग में प्रश्नकर्ता भाई द्वारा खड़े किये गये सभी मुद्दे कहाँ से आये या कहाँ जायेंगे उसका किसी भी प्रकार का विचार किये बिना दिशाविहीन हांकी हुई गाड़ी है।

परिशिष्ट (1)

वचोविंद वाचमुदीरयन्तीं विश्वाभिर्धीभिरुपतिष्ठमानाम्।
देवीं देवेभ्य: पर्येयुषीं गाम् आमावृक्त मर्त्यो दभ्रचेता:॥

(1 - गाम् = पूर्वाचार्यवाणीम् 2 - मर्त्यो दभ्रचेता: = क्षुद्रबुद्धिवाला मर्त्य यदि -- ''उत्तम कोटि का अधिकारी स्वयं के घर में तनुवित्तजा करता हो, इसलिए क्या जघन्याधिकारी दरिया में पड़ जाएं! मर जावें!!'' ऐसे भय के कारण पूर्वाचार्यों की वाणी को जो स्वीकारते न हो। (प्रश्नोत्तरी - पेज नं.161 पर मेरे द्वारा किये गये खुलासे पर नाराज होकर चि.हरिराय जी ने जो विरोधप्रदर्शक अभिप्राय पत्र नवप्रकाश के संपादक को भेजा था उसकी प्रति)

एक अभिप्राय

॥श्री श्याम:॥

जानीतं परमं तत्त्वं श्री यशोदोत्संगलालितम्।

गो.हरिराय जी

(साहित्य - वेदान्त - न्याय)

दाऊ जी मंदिर। मोटी हवेली
जोधपुर (राजस्थान) फो.21230 जामनगर (गुजरात) फो.77212

आपकी पत्रिका का नया अंक देखा। पू. गो. श्याममनोहरजी (मुम्बई) द्वारा लिखा 'प्रश्नोत्तरी लेख' जिस तरह आपने छाप दिया देखकर कुछ आश्चर्य हुआ। कारण कि आप सम्प्रदाय के एक मान्य पत्रकार हैं। अत: प्रकाशन में किसी भी प्रकार की उपेक्षा की अपेक्षा हम आप से नहीं रखते और आपके द्वारा कोई उपेक्षा की गई देखकर आश्चर्य हो, इसमें आश्चर्य नहीं। क्योंकि लेखक लोग तो स्वभाव से ही कुछ अधिक संवेदनशील होते ही हैं। अत: कभी कभार आवेश में, आक्रोश में

कुछ अविचारित भी लिख भेजें तो आश्चर्य नहीं। कभी – कभी निराशा के क्षणों में भी ऐसा हो सकता है। परन्तु पत्रकार लोग अपना दायित्व निभाते हुए अक्सर अमुद्रणीय अंश छोड़ देते हैं। परन्तु आपने बिना किसी सूचना या स्वीकृति के मेरा नाम सार्वजनिक घोषणा के रूप में शास्त्रार्थ के लिए छाप डाला (श्याममनोहरजी के लेख के माध्यम से) यह अनुचित है। पूज्य श्याममनोहरजी बड़े हैं, विद्या वयोवृद्ध हैं, मंजे हुए लेखक हैं। वो (मेरे लिए) कभी भी, कहीं भी, कुछ भी कह सकते हैं, लिख सकते हैं (सर्वतंत्र) स्वतंत्र है और संबंध में मेरे बड़े भाई हैं। बड़ों की बातें भी बड़ी होती हैं। हम उनका बुरा-भला कुछ भी नहीं मानते। परन्तु आप एक पत्रकार हैं। आपको कम से कम मुझे सूचित अवश्य करना चाहिए था। स्मरण रहे आपकी पत्रिका पंजीकृत है, इसमें आप किसी के लिए, कुछ भी नामोल्लेख सहित नहीं छाप सकते। इस विषय में आपसे कानूनन भी पूछा जा सकता है। क्योंकि अभी मैं पिछले काफी दिनों से अस्वस्थ हूँ, मुझसे पूछे बिना मेरा नाम सार्वजनिक रूप से शास्त्रार्थ हेतु छापने से पहले आपको मुझे सूचित (कम से कम) अवश्य करना चाहिए था। यह बात और है कि (चाहे किसी भी रूप में) श्याममनोहरजी ने मेरे बारे में जो अनुमानतः लिख डाला है, भगवत्कृपा एवं बड़ों (उन्हीं के या उनके भी) के आशीर्वाद तथा शुभाभिलाषा से सही है। यह मेरा सौभाग्य है। परन्तु बिना स्वीकृति के किसी भी नाम को सर्वसामान्यतया शास्त्रार्थ के चेलेंज – अर्थ प्रकाशित कर देना जरा गैर जिम्मेदाराना सा लगता है। फिर भी हम छोटे हैं, आप लोग बड़े हैं और बड़ों की सेवा के लिए हमें हर समय सन्नद्ध रहना ही चाहिए और प्रभु कृपा से हैं भी। वैसे – 'न वयं कवयस्तु' तथापि अब जबकि पू.श्याममनोहरजी ने अपनी स्थिति स्वयं ही स्पष्ट कर दी है,

शास्त्रार्थ का तो सवाल ही नहीं रहता (पहले भी कब था?) क्योंकि श्री श्याम मनोहर जी शांकर वेदान्त तथा सर्वशास्त्रों के उत्कृष्ट विद्वान हैं, इसमें दो राय नहीं। ''यह हमें मालूम है (जन्नत की हकीकत) लेकिन'' सार्वजनिक रूप से पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से तू---तू---मैं---मैं---में मैं विश्वास नहीं करता।

अब रहा प्रश्न प्रकृत विषय पर विचार विमर्श का तो यह सही है कि इसमें हमारे सैद्धान्तिक मतभेदों का समाधान हो सकता है! कारण कि प्रस्तुत मतभेदों के पीछे कोई रागद्वेष की भावना नहीं है। इसीलिए पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से उत्तर – प्रत्युत्तर प्रकाशित करके जन सामान्य में अकारण कौतूहल जगाने के पक्ष में हम नहीं हैं। तथापि आप बड़ों की यदि इच्छा हो तो हमें तो आज्ञा का पालन करना ही है।

हमको तुम्हारे इश्क ने क्या क्या बना दिया।
जब कुछ न बन सके तो तमाशा बना दिया॥

परन्तु इस तू ---तू---मैं---में हमारी रुचि नहीं। क्योंकि इसका परिणाम '0' होता है। उल्टा हमारे आचार्य – उपाचार्य व उनकी परम्पराओं के विषय में आवेशजन्य अनर्गल भाषा के प्रयोग का खतरा रहता है। और अनर्गल (प्र)लाप का कार्य ऐसा है कि इसमें केवल साहस ही नहीं वरन महासाहस चाहिये। जो हम में नहीं है क्योंकि हम छोटे हैं। यदि 'तुष्यतु दुर्जनः' न्याय से हम किसी (की) तरह महासाहसिक बन भी जाये तो सज्जन लोग हमारी उपेक्षा ही करेंगे, इसमें संशय नहीं। क्योंकि यही सदाचार है। तथापि बिना स्वीकृति शास्त्रार्थ नामोल्लेख करने का जो नुस्खा आपने आजमाया है, वह चाहे कुछ न्यून ही सही -- एक तरीका अवश्य हो सकता है, कुछ निकालने का -- खुदा का शुक्र है, हम अपनी शराफत में कैद हैं, गोया --- समझ लो कि यह उनकी

खुशनसीबी है।

चूंकि आपके इस प्रयत्न के पीछे कोई दुर्भावना नहीं है अत: मैं इसे अन्यथा नहीं लेता।

परिहासविजल्पितं सखे, परमार्थेन न धीयतां वच:।'

आपका शुभचिंतक
गो.हरिराय:

(न तो मैंने चि.हरिरायजी को शास्त्रार्थ की कोई चैलेंज दी थी न मैंने किसी के साथ ऐसा शास्त्रार्थ करने की ऐसी कोई गैरजिम्मेदाराना सार्वजनिक घोषणा की। यदा 'किंचिज्ज्ञोहं द्विपइव मदांध: समभवं' न्याय से किसी को शास्त्रार्थ की असह्य चटपटी सता ही रही हो तो, इसके लिए नाहक मेरा या मेरे पूर्वजों का शुभाशीर्वाद अपने पर है, ऐसा भ्रम रखकर शास्त्रार्थ के लिए सन्नद्ध होने पर भी शराफत में खुद के कैद होने की बात तो, शराफत को कैदखाना मानने की वृत्ति अर्थात् गुनाहखोरी की लाक्षणिक मानसिकता का खुले आम नग्न प्रदर्शन नहीं तो और क्या है? तदुपरांत भी जो जवाब इस पत्र का मैंने दिया था वो इस प्रकार है :)

गो.श्री रसिकराय जी ! नमस्कार।

नव प्रकाश' मासिक में प्रकाशित हो रही 'सेवानो -- प्रकार' लेखमाला के अमुक विधानों के बाबत में जोधपुर-जामनगर वाले महाकवि चि. गो. हरिरायजी की कविजनोचित भावप्रधानता को व्यक्त करता प्रतिभाव पढ़ने को मिला। हालांकि आपने अपनी तरफ से उसका खुलासा दिया है जो मुझे सर्वथा मान्य है, फिर भी दो - चार बातें मुझे और कहनी है - (1) चि.हरिरायजी के अनुसार लेखक लोग संवेदनशील होने से आवेश - आक्रोश और निराशा में कई बार अनुचित लेख लिखकर भेज देते हैं।

यदि यह बात, सभी लेखकों के स्वभाव के सामान्य नियम के रूप में कही जाती हो तो जो लेखक होने के उपरान्त ('शायर' या महा) कवि भी हों तो उनके लिए भी सच्ची - बल्कि अधिक सच्ची होनी चाहिए। परन्तु यदि मेरे जैसे अमुक निश्चित लेखकों के स्वभाव का वर्णन करने के लिए ही कहनी हो तो मेरे पास स्वीकार करने के अलावा कोई विकल्प ही नहीं कि यह एक हकीकत है। हाँ, सच में मेरे हृदय में अपने पुष्टिमार्ग में फैले हुए व्यावसायिक भगती के ढोंग की सड़ाँध के लिए अतिशय आक्रोश - आवेश और निराशा के भी भाव हैं जो, परन्तु, इसमें लिप्त या फंस गये हैं, उनके लिए सहानुभूति - संवेदना के भाव तो हैं परन्तु आक्रोश - आवेश या निराशा तो लेशमात्र भी नहीं है। क्योंकि मुझे लगता है कि विवादास्पद विषय के प्रत्येक पहलू की सम्यक् विवेचना करते हुए, आज नही तो कल, वे इस विकृति को दूर कर सकेंगे। श्रीगुसांईजी ने दो अतिशय महत्वपूर्ण बातें लिखी हैं :-

(1) अस्मत्कुलं निष्कलंकं यत् कृष्णेन आत्मसात् कृतम्,

(2) भुवि भक्तिप्रचारैक कृते स्वान्वयकृत्।

मेरी इस प्रबल निष्ठा के कारण मैं व्यावसायिक भगती के ढोंग को यथासंभव शीघ्र समाप्त हुआ देखकर, पुन: शुद्ध-शुद्ध पुष्टिभक्ति की प्रतिष्ठा के दर्शन करने हेतु लालायित हूँ। श्रीमदाचार्यचरण - श्रीप्रभुचरण आदि पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों को, परन्तु पढ़-समझ सके, ऐसे विद्वान ही यदि सिद्धान्तचर्चा को ''सार्वजनिक रूप में पत्र-त्रिकाओं में करने में आती - ''तू-तू मैं-मैं'' अथवा 'सज्जनों द्वारा उपक्षेणीय महासाहस' की भांति लेखबद्ध करते हों तो निराशा के भाव स्वाभाविक रूप से मेरे हृदय में घर कर बैठते हैं।

यह वैचारिक पलायन हम सब को कल, श्री विश्वनाथ मंदिर के द्वार पर चिपकाये हुए 'पत्रावलंबन' ग्रन्थ को भी 'सार्वजनिक तू - तू मैं - मैं'' के रूप में रेखांकित करने को कभी प्रेरित नहीं कर दे, तो गनीमत है।

(2) यह कोई मेरा मिथ्या दैन्याडंबर नहीं, अपितु, एक हकीकत है कि मैं अपने बारे में कोई उत्कृष्ट कोटि का विद्वान होने का दावा नहीं करता।

जिनको परन्तु भगवत् कृपा या अन्य कृपा के कारण ऐसा विद्वान होने का आत्मविश्वास है - उनमें यदि ''आचार्य, उपाचार्य और उनकी परम्पराओं के संबंध में अनर्गल भाषा का प्रयोग'' किये बिना शुद्ध - शुद्ध सिद्धान्त कहकर लिखने की सामर्थ्य या आत्मविश्वास न हो तो अपने सम्प्रदाय का, इससे बड़ा दुर्भाग्य दूसरा क्या हो सकता है? यदि मेरे लेखों में अपने मार्ग के आचार्य - उपाचार्य और उनकी परम्पराओं के लिए अनर्गल भाषा का प्रयोग या प्रलाप हो रहा हो तो शुद्ध - शुद्ध सिद्धान्त दोष रहित भाषा में किस प्रकार कह या लिख सकते हैं, उसका उदाहरण स्थापित करने हेतु क्या वैष्णव-जनता अन्य विद्वानों लेखकों, विशेषत: साहित्य, वेदान्त, न्याय आदि शास्त्रों में निष्णात, की अपेक्षा न रखे तो किसकी अपेक्षा रखे!

(3) चि.हरिरायजी ने लिखा है ''पू.श्याममनोहरजी ने अपनी स्थिति आप ही स्पष्ट कर दी है, अत: शास्त्रार्थ का तो सवाल ही नहीं रहता।'' यह तो हकीकत है, क्योंकि षड्दर्शन में से किसी भी शास्त्र में शास्त्रार्थ करने हेतु मुझे मौखिक संदेश और बेनामी पत्र भेजे जाते हैं। अत: मुझे अपने 'विद्याध्ययन' कहो कि 'पांडित्य' कहो या 'ज्ञान' कहो, का आडिटेड एकाउन्ट देना पड़ा। इसमें न तो किसी तरह का मिथ्यादैन्य है

और न ही किसी तरह का मिथ्यादर्प। वह लिखकर बताने का स्पष्ट हेतु मात्र एक ही है कि मेरे नगण्य पांडित्य के साथ स्पर्धा करने में किसी का कीमती समय व्यर्थ न हो। क्योंकि जब मुझे ही अपने पांडित्य पर विश्वास नहीं और मैं ऐसा दावा भी यदि नहीं करता होऊँ तो किसलिए मुझे केन्द्र में रखकर कोई भी विचार या चर्चा होनी चाहिए? मैं जो चर्चा, विचार - विमर्श या कलह जो कुछ भी कर रहा हूँ वह किसी को अपना प्रतिस्पर्धी मानकर नहीं (जिससे मेरे भीतर - आवेश आक्रोश या निराशा का प्रश्न खड़ा हो) मात्र ग्रन्थोक्त सिद्धान्त क्या हैं और प्रचलितअपसिद्धान्त क्या हैं, इन दो बातों को ही लक्ष्य में रखकर विचार-विनिमय करना चाहता हूँ।

षडदर्शन के पांडित्य के बारे में जैसे मुझे मेरी विद्वत्ता पर पूर्ण विश्वास नहीं, वैसे ही इससे विपरीत श्रीमहाप्रभुजी के ग्रन्थोक्त सिद्धान्त के बाबत सम्पूर्ण और सम्पूर्ण से लेशमात्र भी कम नहीं, ऐसा आत्मविश्वास है कि मैं किसी भी तरह की गलतबयानी नहीं कर रहा हूँ। बावजूद इसके कोई साहित्य - न्याय - वेदान्तादि दर्शनों का विद्वान मुझे मेरी भूल समझाए तो उसे सुधारने की सम्पूर्ण मानसिकता के साथ मैं चैलेंज दे रहा हूँ कि कोई सिद्ध कर बताये कि मैंने सिद्धान्तों की किस तरह गलत व्याख्या की है।

(4) चि.हरिरायजी के लिए मैंने किसी शास्त्रार्थ का चैलेंज देने की गैरजिम्मेदाराना कार्यवाही नहीं की है। मेरा वैसा आशय या वैसी भाषा नहीं है। गुजराती भाषा का सामान्य ज्ञान रखने वाले को भी यह समझ में आ सके ऐसी स्पष्ट बात है। मैंने तो मात्र मेरी असमर्थता और चि.हरिरायजी आदि बालकों की प्रशंसा अर्थात् समर्थ वैदुष्य का उल्लेख क़र यह लिख बताया है कि जिसको शास्त्रार्थ करने की अधिक खुजली हो वह ऐसे समर्थ विद्वानों के साथ बांह भिड़ाकर अपनी खुजली मिटा सकता है।

इसमें आवेश - आक्रोश - निराशा या निंदा जैसी कोई बात मुझे तो दिखाई नहीं देती। तदुपरांत भी ''जहाँ न पहुँचे रवि तहाँ पहुँचे कवि'' को बुरा लगा हो तो मैं क्षमा प्रार्थी हूँ।

अलबत्ता चि.हरिरायजी के पत्र पर से मेरे लेखन में रही एक त्रुटि मुझे स्पष्टतया समझ में आई है। मैंने अपनी धारणानुसार चि.हरिराय जी को साहित्य व्याकरण के विद्वान की तरह वर्णित किया था, परंतु अब उनकी खुद की कलम से वे अपने को साहित्य - न्याय - वेदान्त के मात्र विद्वान ही नहीं, परंतु (भूलता न होंऊ तो) ''प्रतिवादि - वारण - प्रकटाटोप - विपाटनक्षम'' भी हैं, ऐसा कहना चाहते हैं। इस हकीकत का जैसे पहले ज्ञान नहीं था, वैसे ही यह खुलासा मिलने के बाद इस संबंध में मुझे कोई प्रतिपत्ति या स्पर्धा भी नहीं ही है। चि.हरिरायजी में रही हुई ''प्रतिवादि - वारण - प्रकटाटोप - विपाटनक्षमता'' के साथ - साथ उनको आयु आरोग्य, सुख सौमनस्य और स्वसम्प्रदाय की सर्वविदित सेवा करने का चिरसामर्थ्य पुष्टिप्रभु प्रदान करें!

किसी परिस्थितिवश यह हकीकत मेरे ध्यान से बाहर रह गई, जिसके कारण चि.हरिरायजी को आत्मगुणानुवाद करने का श्रम उठाना पड़ा। यह तकलीफ मेरे कारण हुई होने से सार्वजनिक क्षमायाचना इस पत्र द्वारा मैं कर रहा हूँ।

यदि चि. हरिरायजी ने सीधा पत्र मुझे लिखा होता तो यह क्षमायाचना - पत्र मैं वहीं भेजता, परंतु क्योंकि उनका पत्र आपने खुले तौर पर छापा है, अतः इस क्षमायाचना को आपकी पत्रिका में प्रकाशित करेंगे तो आभारी रहूँगा। अन्यथा मेरे द्वारा उनको पहुँचाने का श्रम करेंगे तो भी बहुत आभार मानूंगा..।

ले. गो.श्याम।

पुनश्च:

यह 'परिहासविजल्पित' नहीं अपितु 'परिभाव विभावित' लिखी बात है।

(इसके बाद तो सार्वजनिक सभाओं में और मौखिक रूप से भी जब - तब मुझे संदेश मिलते रहे कि चि.हरिरायजी (जाम नगर वाले), श्री व्रजरमणजी (मथुरा), श्रीवल्लभरायजी (सूरत) और श्रीकल्याणरायजी (इंदौर) ये सब मिलकर शास्त्रार्थ करके प्रचलित सेवाप्रणाली की सिद्धान्ताभिमतता सिद्ध करने के लिए तैयार हैं। स्वमार्गीय सिद्धान्तों के बजाय वकालत के अध्ययन में ही समय व्यर्थ कर, जब वह चली नहीं तो पुन: माहाराजियत में ही जिनको खुश रहना पड़ा ऐसे मेरे चचेरे भाई व्रजाधीशजी को आगे कर जब - तब नाशिक के सिंहस्थ आयोजन में वक्तव्य दिये गये। तब उनको सहर्ष स्वीकार कर मैं चर्चासभा के स्थल व दिन की घोषणा करने जा रहा था, तभी इस विवाद का उत्तम और स्थाई निर्णय करने के लिए कई नवयुवक गोस्वामी बालकों ने स्वयं ही आयोजक बन मध्यस्थता करने की उत्सुकता प्रकट की। इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं थी, फिर भी उनके द्वारा जो - जो शर्तें मुझे बताई गई उनके अनुसरण के लिए मैंने अपनी सैद्धांतिक समझ की एक आधारभूत वचनावली तैयार करके सभी को भेजी जिससे कि मतभेद रखने वाले या निष्पक्ष चर्चा कर निर्णय करना चाहने वाले किसी भी व्यक्ति को चर्चास्पद मुद्दे अर्थात् कार्यसूची ठीक से मालूम हो जाए और इसके बाद विचारणार्थ वचनावली का भावानुवाद तैयार करके भेज दिया, इस शर्त के साथ कि सिद्धान्त चर्चासभा में मतभेद रखने वालों को अपना भावानुवाद लिखित में प्रस्तुत करना पड़ेगा। उसमें नाटक ऐसा हुआ कि कितने ही गोस्वामी बालकों ने कह दिया कि ऐसी सभा में शामिल होना आत्मापमान

है। दूसरे जो मतभेद रखने वाले बमुश्किल आये वे भी अपना भावानुवाद नहीं ला सके किसी को मलेरिया तो किसी को ज्वर तो किसी को सिरदर्द हो गया। आखिरकार उपपत्तियों के आगे - पीछे लगाये गये संपुटों सहित विस्तृत अनुवाद - वह भी कागज पर नहीं, अपितु अपने दिमाग में ही भरकर (!) लाने वाले, चि. हरिरायजी, जो कि परिपत्रों और प्रारंभिक वक्तव्यों में पहले से ही दिये गए खुलासे, बिगडी हुई रिकार्ड की माफिक, मांग - मांगकर चर्चासभा का समय व्यर्थ बरबाद करने लगे। उनको ऐसा करने से रोकने के लिए, भावानुवाद बिना ही, छूट देने में आयी कि मेरे भावानुवाद में वे गलतियाँ बतायें। यह छूट यद्यपि देनी नहीं चाहिए थी, फिर भी दी गई। उसमें किये गये भोंडेपन की विगत 'विस्तृत विवरण' में पढ़ लेनी चाहिए। आखिर किसी भी चर्चा में अपने - अपने पक्ष की स्पष्ट प्रस्तुति पहली आवश्यकता होती ही है। उसी को लक्ष्य में रखकर "यदि हरिरायजी पक्ष ग्रहण नहीं करेंगे तो आगे मैं चर्चा नहीं करूँगा।"- ऐसे दृढ़ निश्चय की घोषणा मुझे करनी पड़ी। अर्थात् चि. हरिरायजी को पक्षग्रहण में खुद को अनभिप्रेत स्वीकृतियाँ अरुचिपूर्वक करनी पड़ी। यद्यपि पूर्वनिर्धारित नियमों के नियम 9 - 10 के अनुसार यह अनिवार्य था, फिर भी पक्षग्रहण को अपने ऊपर बलात्कार करने में •ा रहा है ऐसा विलाप कर आखिर पक्षग्रहण किया। अत: तमाम घोटाला प्रकट हो जाने के कारण चि.हरिरायजी को चर्चा स्थगित करनी पड़ी। फिर तो हारा हुआ जुआरी दुगना दांव लगाता है- की मनोवृत्ति दिखाते हुए सभा में स्वयं द्वारा रखे गये पक्ष के लिए - 'पु.सि.सं.शि.' पदवी, पू.पा. गो. ति. महाराजश्री और पू. पा. श्री ब्रजरत्नलाल जी महाराज श्री से ले ली! नवयुवंक गो.बालकों द्वारा स्थापित संवाद स्थापकमंडल के आपत्ति प्रस्तुत करने पर मेरे घर पर मंडल के सदस्यों और हम दोनों के हस्ताक्षरों सहित

एक घोषण - पत्र भी मुझे दिया गया। इस प्रकार जैसे तैसे - जान छुड़ाकर, सौराष्ट्र में पुन: मान - सम्मान प्राप्त करने हेतु सभाओं का आयोजन किया जाने लगा - उसका विवरण)

संदेश : राजकोट दिनांक 19-2-92 जाम नगर : ब्रजभूषणलाल जी महाराज के 73 वें प्राकट्य दिवस के भव्य आयोजन के :-

...उपलक्ष्य में योजित श्रीभागवत सुधारस सत्र के अध्यक्ष पद पर श्री -- महाराज बिराजे थे। इस सत्र में वैष्णवों ने पुष्कल संख्या में भाग लिया था। मुम्बई में धर्माचार्यो की सभा में हुए शास्त्रार्थ के प्रसंग में जामनगर, मोटी हवेली वाले श्रीहरिरायजी महाराज को श्रीटीकायतश्री (नाथद्वारा) तथा श्रीब्रजरत्नलालजी महाराज (सूरत) की ओर से "पुष्टिसिद्धान्त संरक्षण शिरोमणि" की उपाधि दी गई। उसके अनुसंधान में प्राकट्य महोत्सव के प्रसंग पर जामनगर वैष्णव समाज की ओर से कृष्ण शंकर शास्त्रीजी के हाथ से सम्मान पत्र अर्पण किया गया। इस अवसर पर श्रीविट्ठलनाथजी महाराज, आणदाबावा आश्रम के महंत श्रीदेवीदासजी और बड़ी संख्या मे ं वैष्णव उपस्थित थे।

(संदेश:राजकोट - 19-2-92 से साभार)

फूलछाब (राजकोट) दि: 21-3-92

(इसलिए मुझे न चाहते हुए भी ऊपर बताधा गया पत्र प्रकाशित करना पड़ा)

(A) पुष्टिमार्गीय वैष्णवों के लिए (पुष्टिसिद्धान्त संरक्षण शिरोमणि : एक हकीकत)

(B) ॥ श्री मदनमोहन प्रभुर्विजयते ॥

दि : 10, 11, 12 और 13 ज़नवरी, 1992 को विश्वकर्मा बाग, पार्ला, मुम्बई में आयोजित पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा में सिद्धांत चर्चा में हम दोनों ने भाग लिया था। यह सभा निर्धारित समय में सम्पूर्ण न हो सकी।

सिद्धान्त वचनावली में रखे गये 13 विषयों में से 2, 3, 4, 6, 7, 11 और 13 वें शीर्षक वाले वचनों पर ही चर्चा हो सकी थी। ये वचन जो संशय उठते हैं, उनको पूर्वपक्ष और उत्तर पक्ष को सामने लाने के लिए प्रस्तुत किये गये। इनमें अपन-अपने पक्षों की प्रस्तुति मात्र ही हो सकी थी, अन्य किसी विषय की चर्चा के बिना। यह अन्य विषय की चर्चा थोड़ी आगे बढ़कर, अपनी - अपनी दलीलें देने तक पहुँची थी, पर किसी भी विषय की चर्चा निष्कर्ष तक तो पहुँची ही नहीं थी। ऐसी स्थिति में समादरणीय गो.ति. श्रीगोविन्दलालजी और समादरणीय श्रीव्रजरत्नलालजी द्वारा दिया गया अभिनंदन किसी भी निर्णय के लिए प्रमाणभूत तो गिना ही नहीं जा सकता। फिर भी जब तक मिलने जुलने वाले किसी भी महानुभाव द्वारा इस अभिनन्दन पत्र को जनता में प्रकाशित नहीं करवाया जाए तब तक इस हकीकत को हम गुप्त रखेंगे, किन्तु किसी भी प्रकार से इसे यदि जाहिर किया जायेगा तो अपने - अपने अभिप्रेत अर्थघटन के साथ इसको जाहिर करने के लिए हम दोनों स्वतंत्र रहेंगे।

इसके लिए अभिनन्दन प्राप्त करने वाले गो.श्रीहरिरायजी ने स्वयं ही अभिनन्दन पत्र की प्रामाणिक जीरोक्स प्रति गो.श्याममनोहरजी को दी है। इस संबंध में हम दोनों अपनी - अपनी सहमति इसके द्वारा दे रहे हैं।

गो. श्याम मनोहर

15 जनवरी 1992 गो.हरिराय

....

गो.नीरज कुमार, गो.योगेश, गो.शरद, गो.पंकज, गो.व्रजेन्द्र, गो.भूषण।

प्रकाशक: गो.श्याम मनोहर।

सौजन्य : डी. विरेन्द्र कुमार एण्ड कं. (फूलछाब, दि : 2-3-92 से साभार)

(इस तरह पु.सि.सं.शि.'पदवी' के सौराष्ट्र में बजते खोखले नगाड़ों की पोल खुल जाने से जो निवेदन सार्वजनिक करने में आया वह इस प्रकार है :)

समस्त पुष्टिमार्गीय वैष्णवों को सार्वजनिक निवेदन :-

समस्त पुष्टिमार्गीयों को सूचित किया जाता है कि आज की सामाजिक तथा कानूनी विषम परिस्थिति से भयभीत होकर जब सिद्धान्तनिष्ठा के नाम से श्रीमहाप्रभु जी के सिद्धान्तवचनों का स्वार्थसिद्धि के लिए, गलत अर्थघटन करने की प्रवृत्ति बन गयी है तब सच्चा अर्थ वैष्णव समाज समझे, ऐसे शुभ हेतु से, हाल ही में मुम्बई के बारह युवा गोस्वामी बालकों द्वारा संवाद स्थापक मंडल के नाम से विश्वकर्माबाग - मुम्बई में, दि: 10, 11, 12, 13 जनवरी 1992 अर्थात् चार दिनों तक, पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा का सार्वजनिक आयोजन किया गया था। इस चर्चासभा में पू.पा. गो. श्रीश्याममनोहरजी (किशनगढ़ - मुम्बई) के साथ गो.हरिरायजी - जामनगर की, अर्थात् मेरी विस्तृत चर्चा हुई थी। इस चर्चा की वास्तविकता वैष्णवों तक पहुँचे, ऐसे शुभ हेतु से, संवाद स्थापक मंडल द्वारा इस सभा की ओडियो - विडियो रिकार्डिंग कराई गई थी। वह रिकार्डिंग आज दिन तक मुझे स्वयं को प्राप्त नहीं हुई है। इस कारण शंका होती है। जब तक मिनिट - मिनिट की यह रिकार्डिंग बिना सेंसर के तथा मेरी सहमतिसहित प्रकाशित न हो तब तक उक्त सभा में व्यक्त मेरे मंतव्य के विषय में कोई भी महानुभाव, मंडल और स्वयं संवाद स्थापक मंडल भी किसी तरह की पत्रिका, रिपोर्ट अथवा तो मंतव्य प्रकाशित करेगाा तो, वह मेरी दृष्टि से प्रामाणिक नहीं होगा। अत: समस्त पुष्टिमार्गीय वैष्णवों को इस चर्चासभा की हकीकत जाननी हो तो उसकी ओडियो - विडियो रिकार्डिंग ही (सेंसररहित) एकमात्र सच्चा उपाय है। इस बीच यदि यह रिकार्डिंग (सेंसर हुए बिना) संवाद स्थापक मंडल द्वारा मुझे प्राप्त होगी तो मैं अतिशीघ्र वैष्णव समाज के लिए उसे प्रकाशित करूंगा। जिससे समाज में मिथ्याभ्रम फैलने से रुके और लोग सच्ची हकीकत जानें।

टिप्पणी :- इस शास्त्र चर्चा में पू.श्याममनोहरजी से मैं पराजित हुआ हूँ अथवा सहमत हुआ हूँ या असहमत हुआ हूँ, जो कुछ भी हुआ हूँ – वह उक्त विडियो फिल्म द्वारा (यदि सेंसर न हुई हो तो) शीघ्रातिशीघ्र लोग अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखें तथा जानें और मानें ऐसी शुभकामना के साथ। लिखित अभिप्राय स्वीकार्य हैं।

ता. 14-4-92 गो.हरिरायजी महाराज

....

सौजन्य :- अतुल तन्ना तथा सहयोगी वैष्णव विलेपार्ले (मुम्बई) समाचार : 19-4-92 से साभर)

(ऐसी कुटिल भाषा के विज्ञापन के अनुसंधान में 'संवाद स्थापक मंडल' द्वारा जो प्रत्युत्तर छपवाया गया वह इस प्रकार है :)

जयहिन्द दि : 9-5-92

समस्त पुष्टिमार्गीय वैष्णवों के हितार्थ सार्वजनिक निवेदन

पुष्टिमार्ग के कुछ सिद्धान्तों के सच्चे स्वरूप के विषय में पिछले कुछ समय से विवाद चल रहा है। यह विवाद समाप्त हो और अनुयायियों को सच्चा मार्ग दिखाई दे, इस हेतु से मुम्बई में हम कुछ युवा आचार्यवंशजों ने दि. 10 से 13 जनवरी (92) के बीच एक चर्चासभा का आयोजन किया था। चर्चासभा में मुख्य चर्चा गो. श्रीश्याममनोहरजी (किशनगढ़ - पार्ला) और गो. श्रीहरिरायजी (जामनगर) के बीच हुई किन्तु विचार्य विषयों की जटिलता के कारण समयाभाववश चर्चा अधूरी ही छूट गई। अधूरी चर्चा को पुनः एक दूसरी चर्चासभा में पूर्ण करने के संकल्प के साथ सभा समाप्त हुई थी।

चर्चा अधूरी ही है, ऐसी हमारी घोषणा होने के बावजूद सम्प्रदाय के पदवृद्ध प्रधान पीठाधीश्वर तिलकायत श्रीगोविन्दलालजी (नाथद्वारा –

मुम्बई) और विद्यावयोवृद्ध गो. श्रीव्रजरत्नलालजीमहाराज (सूरत), जो कि सिद्धान्त निर्णय की सभा में, मुम्बई में होते हुये भी, क्षणांश के लिए भी उपस्थित नहीं हुये थे और न उनको सभा की रिकार्डिंग ही देने में आयी थी, उन्होंने गोहरिरायजी को दिः 15-1-92 के दिन शुभाभिनन्दन पत्र दिया। यह शुभाभिनन्दन पत्र – उन्होंने हमारे द्वारा आयोजित चर्चासभा में, श्रीहरिरायजी द्वारा तथाकथित विहित सिद्धान्त पक्ष के प्रतिष्ठापन के सन्दर्भ में दिया। परन्तु हकीकत में तो चर्चा अधूरी ही रही होने से उनके द्वारा दिया गया अभिनन्दन – पत्र कुटिलता पूर्ण और अनैतिकता भरा होने से अप्रामाणिक ही कहा जायेगा। इस हकीकत को ध्यान में रखते हुए हमारे अनुरोध से एक स्पष्टीकरण लिखा गया जिसमें लिखा गया कि "किसी भी प्रकार के निष्कर्ष तक चर्चा पहुँच नहीं थी। ऐसी स्थिति में समादरणीय – गो.तिलकायत श्रीगोविन्दलालजी तथा समादरणीय गो.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज द्वारा दिया गया शुभाभिनन्दन किसी भी बाबत निर्णायकता का प्रमाण नहीं बन सकता।" इस स्पष्टीकरण के समर्थन में जिनको उपरोक्त शुभाभिनन्दन दिया गया, उन श्रीहरिरायजी ने खुद हस्ताक्षर किये हैं। (यह मूल स्पष्टीकरण समाचार पत्रों में हिन्दी में प्रकाशित हो चुका है।) इसके अतिरिक्त गो. श्याममनोहरजी और चर्चासभा के आयोजन में उपस्थित छः सदस्यों ने भी साक्षी के रूप में अपने हस्ताक्षर किये हैं। इस स्पष्टीकरण से और चर्चा अधूरी रहने के कारण किसी की भी हार या जीत की कल्पना निराधार साबित होती है। यह तथ्य सत्य होने पर भी बाद में अनेक सार्वजनिक कार्यक्रमों में तथा समाचार – पत्रों के माध्यम से एक की हार और दूसरे की जीत के गर्भित संकेत इस प्रमाण – पत्र के आदान – प्रदान द्वारा हो रहे हैं।

इस चर्चा सभा के चारों दिन की कार्यवाही की ओडियो – वीडियो रिकार्डिंग कराई गई है। और उन केसटों को आम जनता को

सुलभ कराने के लिए हम कृत संकल्प थे। पर कुटिल षड़यन्त्रों को देखते हुए इन केसटों का कोई दुरूपयोग करेंगे, इस भय से जब तक केसटों के आधार पर चर्चा सभा का शब्दश: विस्तृत विवरण प्रकाशित न हो जाए तब तक किसी को भी कैसेट दी नहीं जायेगी, ऐसी सूचना व्यक्तिगत रूप से दे दी गई है। इस वास्तविकता से वाफिक होने के उपरांत भी हमारी प्रामाणिकता पर संदेह करके गो.श्रीहरिरायजी (जामनगर) ने हमारे साथ किसी भी तरह से आधिकारिक सम्पर्क किये बिना सीधे ही समाचार पत्रों में निवेदन विज्ञापित किये, जिसमें हम पर केसटों में काट - छांट (सेंसर) करने का आक्षेप लगा दिया - साढ़े तीन सौ पेज के साहित्य को प्रकाशित करने में होती मेहनत और समय का विचार किये बिना ही। वास्तविकता से वाकिफ होने के उपरांत भी हम पर असंबद्ध और हल्के आक्षेप भी सरेआम किये गये। इतना ही नहीं, परन्तु जाहिर सभा में अपने प्रवचनों के द्वारा भी, सत्य से अनभिज्ञ - जनता को हमारे विरुद्ध गलत तरीके से भड़का रहे हैं। धर्माचार्य के लिए अशोभित ऐसे कृत्यों से मार्ग के और हमारे सम्मान को भारी धक्का पहुँचा है। अत: हमने ओडियो - विडियो केसटों को नहीं देने का निर्णय किया है। उसके एवज में चर्चासभा का शब्दश: विस्तृत विवरण नि:शुल्क सर्वजन सुलभ करा रहे हैं। जिनको हमारी प्रामाणिकता पर संदेह हो वे चर्चासभा के विस्तृत विवरण में किस जगह काट - छांट है वह साबित कर बताएं वरना हवन में हड्डियों की आहुतियां देना बंद करें। साथ ही साथ हम चर्चा सभा के आयोजक तिलकायत श्रीगोविन्दलालजी महाराज और श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज द्वारा गो.हरिरायजी को दिये गये शुभाभिनन्दन के विषय में उनसे खुले तौर पर स्पष्टीकरण की मांग उनके नैतिक कर्तव्य के आधार पर कर रहे हैं।

संवादस्थापक मंडल गो.शरद ग्राउंड फ्लोर, न्यू मनु भवन,
भगत सिंह रोड़ विले पार्ले (पश्चिम), मुम्बई-56

(पिछले परिशिष्ट में वर्णित तथ्यों का जवाब श्रीहरिरायजी ने इस तरह दिया)

समस्त पुष्टिमार्गीय वैष्णवों के लिए
एक खुलासा

दिनांक 7-5-92 के सौराष्ट्र भूमि में संवाद स्थापक मंडल - मुम्बई द्वारा प्रकाशित किये गये सार्वजनिक निवेदन में मेरे ऊपर किये गए सभी मिथ्या आक्षेपों का मैं खंडन करता हूँ।

(1) चर्चासभा मुम्बई में निर्णय हुआ है और मैं जीता हूँ ऐसा कोई भी प्रचार-प्रसार आज तक मैंने किया ही नहीं है। मैंने मात्र इतना की कहा है कि इस चर्चासभा में जो कुछ भी हुआ है वह सब कुछ ओडियो - विडियो केसटों में रिकार्ड है और केसटें संवाद संस्थापक मंडल के कब्जे में हैं। तीन - तीन महीने हो जाने पर भी अभी तक मुझे कैसेट दी नहीं गयी है, अत: सहज शंका होती है फिर भी मुझे सम्पूर्ण विश्वास है कि अभी तक कैसेट सेंसर नहीं हुई होगी और सुरक्षित होगी। अर्थात् सेन्सर होने का आक्षेप मैंने संवाद स्थापक मंडल पर लगाया है यह बात एकदम गलत है।

(2) संवाद स्थापक मंडल लिखता है कि मैं आम सभाओं में प्रवचनों के द्वारा सत्य से अनभिज्ञ जनता को भड़का रहा हूँ, यह बात एकदम गलत है। फिर भी सं.स्था. मण्डल को ऐसी शंका है तो केसट बाहर क्यों नहीं निकालते? जिससे सत्य से अनजान जनता सत्य को जाने और मेरी जनता को भड़काने की कथित प्रवृत्ति बंद हो।

(3) मैंने जाहिर निवेदन द्वारा ओडियो - विडियो केसट की ज़नता को जानकारी दी और केसट जब तक प्रकाशित न हो तब तक उक्त सभा में व्यक्त हुए मेरे मंतव्य के विषय में कोई भी कुछ भी कहे वह प्रामाणिक नहीं है, मात्र इतना ही जाहिर किया है, परोक्ष रूप से केसट की

मांग की, इसमें धर्माचार्यों को अशोभनीय कौन सा कृत्य किया और मार्ग के और संवाद स्थापक मंडल के सम्मान को कौनसा भारी धक्का पहुँचाया वह समझ में नहीं आता? फिर भी उनको ऐसा लगता हो तो केसट बाहर नहीं निकालने से उल्टा भ्रम बढ़ेगा।

(4) चर्चा सभा के नियमों के अनुसार लिखित अथवा मौखिक रूप में स्वमत प्रस्तुत करना था। मैंने मौखिक रूप से अपना पक्ष प्रस्तुत कर दिया है, अतः ओडियो - विडियो केसट प्राप्त करना मेरा नियमानुसार हक है।

मैंने सात खाली कैसेट सं स्था. मंडल को दी हैं। अब जब सं.स्था. मंडल ने ये केसट बाहर नहीं प्रकाशित करने का निर्णय लिया है तो मुझे मेरे खाली केसट वापस तो मिलेगी न?

(5) सं.स्था मण्डल द्वारा प्रकाशित चर्चासभा के विवरण में किस जगह काट - छांट है वह साबित करने की मुझे चुनौती दी गई है। जरा सामान्य बुद्धि से विचार करने की बात है कि जब तक आदि से अंत तक की केसट बाहर नहीं आती तब तक काट - छांट का कैसे पता चले? अतः मैं उल्टी चुनौती देता हूँ कि यदि तुम सच्चे हो तो केसट सि (सं!) ग्रह लोगों के समक्ष प्रस्तुत करो। जनता जनार्दन स्वयं ही निर्णय कर लेगी कि इसमें कौनसे हवन में कहाँ हड्डियाँ डाली, यह सं. स्था. मण्डल मुझे समझाए मेरी रिकार्डेड केसट मुझे देने का सं.स्था. मण्डल का मुझे वचन है और उनकी नैतिक जिम्मेदारी भी है और मैंने जो अपनी केसट मांगी है इसमें कौनसा अपराध किया?

(6) मेरी जानकारी के अनुसार पू.तिलकायत श्रीगोविन्दलालजी महाराज अपनी अस्वस्थता के कारण घर से बाहर पधारते ही नहीं और

(3) चर्चासभा में सिद्धान्तवचनावली का लिखित भावानुवाद प्रस्तुत करने के बजाय चर्चासभा में मौखिक प्रस्तुति का बहाना बनाकर निरर्थक वाणीविस्तार का संपुट लगाने की जालसाजी करके मौखिक भावानुवाद प्रस्तुत करने की नैतिकजवाबदारी से भी भाग गये। तत्पश्चात मेरे भावानुवाद में त्रुटिनिर्देशन की मांग मैंने की थी, तब त्रुटिनिर्देशन में भी मेरे हिन्दी – गुजराती में प्रस्तुत भावानुवाद का आशय भी स्वयं नहीं समझ सके, ऐसा कहकर अण्डरलाइनें करवाते गये। इसके अतिरिक्त पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों की चर्चा में छंद – व्याकरण की अशुद्धियाँ ढूँढ़ने का शौर्य दिखाने लगे, चर्चासभा की नियमावली संख्या 10-11 के अनुसार जो पक्षग्रहण अनिवार्य था उसको अपने ऊपर करने में आते बलात्कार (!) या अत्याचार के कारण ऐसे वक्तव्य दिये जैसे खुद का बलिदान देने जा रहे हैं । जाहिरसभा में स्वयं ने ग्रहण किये पक्षों को स्वयं ही छोड़ भी दिया। अनिर्णीत चर्चासभा में अनुपस्थित महानुभावों से निर्णायक सम्मानपत्र भी ले लिया। यह सम्मानपत्र निर्णायक नहीं है इस आशय के समाधान पत्र पर हस्ताक्षर करके भी सम्मानपत्र मिलने के लिए सम्मान पत्र लेने वाले हरिरायजी, यदि नैतिक जिम्मेदारी की दुहाई देते हैं तो इससे बढ़कर अनीतिभरी बात दूसरी क्या हो सकती है !

(4) चर्चासभा के 13 नियमों में कहीं भी ऐसी स्वीकारोक्ति नहीं थी कि सं. स्थापक मंडल सभा में भाग लेने वालों को केसट उपलब्ध कराएगा। चर्चासभा के सभी नियमों को कुटिलतापूर्वक जान बूझकर – तोड़ने वाले हरिरायजी को केसटे देने के लिए दिये गये मौखिक वचन को पालने का नियमानुसार हक खुद हरिराय जी किस मुंह से मांग सकते हैं? चर्चा सभा के आयोजन का हेतु संवाद स्थापित करने का था, उसमें गैरहाजिर महानुभावों से अभिनन्दनपत्र लेने और फिर उनके लिए अन्य

के रूप में प्रकाशित कर, गलत तरीके से दुरूपयोग किया गया है। उपरांत मुझ पर आधारहीन खोटे आक्षेपों के साथ आपत्तिजनक शब्दों का प्रयोग करके मेरा मान भंग करने की असभ्य चेष्टा की गई है। मैं इस अप्रामाणिक और एकपक्षीय विवरण की सख्त शब्दों में निंदा करता हूँ।

नोट :- सिद्धान्त वचनावली के एक पक्षीय भावानुवाद की तरह इस पुस्तिका में भी अनेक त्रुटियाँ हैं, अतः यदि मध्यस्थ निर्णायक के समक्ष शास्त्रचर्चा हो तो इस पुस्तिका में उठाये गये बचकाने प्रश्नों के सटीक उत्तर मेरे पास हैं। पर असभ्यता या अपशब्दों का मेरे पास कोई जवाब नहीं है। मात्र दुःख ही व्यक्त कर सकता हूँ।

दि: 16-6-92 गो.श्रीहरिरायजी महाराज

श्रीवल्लभाचार्य मार्ग, मोटी हवेली, जामनगर।

......

(इसके अनुसंधान में जो सवाल अथवा मुद्दे सभा में उपस्थित वैष्णवों ने प्रस्तुत किए वे निम्नानुसार हैं :-)

मुम्बई समाचार दि: 21-6-92

॥ श्रीमान वल्लभः प्रभुः विजयते ॥

समस्त वैष्णवों के लिए अति महत्वपूर्ण खुलासा

खुद को भी अमान्य ''पुष्टिसिद्धान्त संरक्षण शिरोमणि'' - की उपाधि मिलने की सम्मान सभायें आयोजित करने के शौकीन स्वयं श्रीहरिरायजी का खुलासा (मुम्बई समाचार दि. 14-6-92) महत्वपूर्ण होने के बजाए भक्ति के व्यावसायिक भद्देपन को छिपाने का प्रयास अधिक लगता है।

गोस्वामी श्रीश्याममनोहरजी द्वारा प्रकाशित कराए गए तथा-ा कथित एक पक्षीय विवरण में श्रीहरिरायजी के पूज्य पिताश्री के हस्ताक्षरों

सहित छपे दो पत्रों में से पहले पत्र (दि: 26-10-86) में नि. ली. श्रीब्रजभूषणलालजी लिखते हैं - ''दिल्ली में दाऊजी के मंदिर के अधिकारी - ने आपके परिश्रम की बात कही है। खूब - खूब धन्यवाद है कि आपने इतनी मेहनत करके सम्प्रदाय के सिद्धान्त कोर्ट में समझाये।'' दूसरे पत्र (दि: 7-11-86) में आपश्री लिखते हैं कि ''गोस्वामी वंशज संयुक्त घोषणापत्र भी प्राप्त हुआ। दि: 26 - 10 को मैंने आपको पत्र लिखा था, वह आपको मिला होगा। हमारा पूर्ण सहयोग रहेगा तन धन मन से। जो भी आपका कार्य हो प्रसन्नता से लिखेंगे।''

अब श्रीहरिरायजी से मात्र दो-चार प्रश्ने पूछते हैं। क्योंकि आपके पिताश्री के हस्ताक्षर सहित दिये गये पत्रानुसार जो कुछ भी सिद्धान्त श्रीश्याममनोहरजी ने सुप्रीम कोर्ट में प्रस्तुत किये थे वे अपने घर में अपने तन-मन-धन से सेवा करते अपने परिवारजनों को दर्शन कराने बाबत ही थे। वे ही सिद्धान्त गोस्वामी वंशजों के संयुक्त घोषण पत्र में भी सहमति प्राप्त करने हेतु उन-उन गोस्वामी बालकों को भेजे गये थे। इसीलिए जब श्रीहरिरायजी के पिताश्री ने अपनी सहमति पत्र द्वारा भेजी हुई है, उसमें यदि वे सिद्धान्त पिताश्री को 'खूब खूब धन्यवाद' देने लायक और 'तन मन धन से पूर्ण सहयोग' देने लायक लगे थे, तो आज श्री हरिराय जी को उसमें कौन सी बाधा आ गयी है?

प्रश्न - (1) क्या हरिरायजी अपने पिताश्री को स्वयं के समकक्ष विद्वान नहीं मानते? या ऐसी प्राणोपम महत्व की बात के बाबत उनके पिताश्री बिना पढ़े ही प्रतिभाव प्रकट कर देने की बेपरवाही रखने वाले धर्माचार्य थे? जवाब दें।

प्रश्न - (2) कोर्ट में प्रस्तुत करने के अलग और वैष्णवों को समझाने के अलग और ग्रन्थों के अन्दर अलग इस तरह क्या पुष्टिमार्ग में तीन तरह के सिद्धान्त हैं? तो इसमें से कौन सी श्रेणी के पुष्टिमार्गीय

सिद्धान्तों की वकालत स्वयं श्रीहरिरायजी अभी कर रहे हैं? जवाब दें?

श्रीहरिरायजी द्वारा प्रकट किये गये महत्वपूर्ण खुलासे में श्रीश्याममनोहरजी द्वारा लगाए गए तथाकथित आधारहीन आपत्ति जनक खोटे आक्षेपों की सख्त शब्दों में भर्त्सना की गई है।

श्रीहरिरायजी, श्रीश्याममनोहरजी और संवाद स्थापक मंडल के महानुभावों के संयुक्त हस्ताक्षर के साथ छपे पत्रों में की गई स्वीकारोक्ति कि "गो. तिलकायत महाराज द्वारा दी गई पदवी किसी भी तरह की निर्णायकता का प्रमाण नहीं बन सकती" फिर भी गाँव-गाँव में पदवी मिलने के उपलक्ष्य में सम्मान समारोह आयोजित होने के विवरण समाचार पत्रों में आ रहे हैं।

प्रश्न - (3) तो उक्त अप्रामाणिक पदवियों का सम्मान प्राप्त करना श्रीहरिरायजी का शौक ही है या किन्हीं स्थापित हितों द्वारा खेले जाते राजनीतिक दाव-पेच में वे मात्र एक कठपुतली ही हैं? जवाब दें!

नोट :- सिद्धान्त वचनावली का श्रीश्याममनोहरजी द्वारा प्रस्तुत भावानुवाद एकपक्षीय हो सकता है इसमें दो राय नहीं हैं परन्तु उसको एकपक्षीय बनाने वाले खुद श्रीहरिरायजी ही हैं यह अब स्पष्ट होता जा रहा है! क्योंकि श्रीश्याममनोहरजी की तरह स्वयं द्वारा लिखित भावानुवाद वे पार्ला की सिद्धान्तचर्चा में लाने का साहस दिखा नहीं सके। चर्चासभा में उसकी मौखिक प्रस्तुति करने के बजाय गोल - मोल बातें बना-बनाकर समय व्यतीत करते रहे। इसके साक्षी हम सब वहाँ उपस्थित रहने वाले हैं। संवाद स्थापक मंडल ने 350 पृष्ठों का विस्तृत विवरण छपा दिया है। उसी तरह श्रीश्याममनोहरजी ने 'संक्षिप्त विवरण' छपवाकर चर्चा को आगे बढ़ाने का स्वयं का अभिप्राय भी प्रस्तुत कर दिया है। फिर भी छः महीनों का लम्बा समय बीतने के बाद भी श्रीहरिरायजी अभी तक अपना

भावानुवाद प्रस्तुत नहीं कर सके। अतः श्रीश्याममोहरजी का भावानुवाद कम से कम हमारे लिए तो एकपक्षीय रहने वाला ही है।

प्रश्न - (4) पक्षग्रहण की चर्चा के दरमियान श्रीहरिरायजी दयनीय तरीके से फंस गये हैं। इस संबंध में जनता सुनी-अनसुनी कर ले इस हेतु से तो कहीं अब श्रीहरिरायजी ललकार नहीं रहे हैं कि "मध्यस्थ निर्णायक के समक्ष शास्त्र-चर्चा हो तब खुलासा करूगाँ" अर्थात् जो बातें श्रीहरिरायजी ने पक्षग्रहण में की गई चर्चा के दौरान स्वीकारी थीं वे बातें इनके नाम पर मिथ्या आरोपित हो जाएं तो श्रीश्याममनोहरजी और संवाद स्थापक मंडल पर नैतिक जवाबदारी आती है कि वे सिद्ध कर बतायें कि प्रकट किये गये विवरण कितने प्रामाणिक हैं! अथवा तो प्रकाशित विवरण यदि प्रामाणिक हों तो फिर मध्यस्थ निर्णायक को बीच में रखकर शास्त्रार्थ करने का अवकाश ही अब कहाँ रह गया है? जवाब दें!

प्रश्न - (5) क्योंकि तनुजा सेवा करने वाले को स्पष्ट किये गये विवरण के अनुसार श्रीहरिरायजी जघन्य अधिकारी मानते हैं तो जामनगर हवेली में अपने माथे बिराजते श्रीठाकुरजी की तनुजा सेवा करने के लिए आपश्री जनता से भेंट सामग्री लेते हैं कि नहीं? जवाब दें!

प्रश्न - (6) यदि स्वयं को जघन्य अधिकारी मानने को तैयार हों तो अपने लिए अपशब्द वे स्वयं ही प्रयोग कर रहे हैं या श्री श्याम मनोहर जी? जवाब दें!

प्रश्नकर्ता :-

(1)	केतन डी. गाँधी।	(2)	अंशु जी.शाह।
(3)	मथुरा दास एस.भाटिया।	(4)	किरण जे.ठक्कर।
(5)	वसंत पी.आशर।	(6)	विपुल एन.शाह।
(7)	मनीष बाराई।	(8)	महेन्द्र कुमार धरमथी।

(9) असित जे.शाह। (10) बच्चु भाई मेहता।
(11) तिलक पारीख। (12) रमण लाल एम.पारीख।
(13) नंद किशोर मित्तल। (14) रसिक र. शाह।
(15) जीतेन्द्र जीवाणी। (16) कृष्णकांत वोरा।

(सभा में उपस्थित वैष्णवों द्वारा गो. श्रीहरिरायजी से पूछे गए प्रश्न इतने सटीक थे कि कोई छुटकारा न मिलने पर श्रीहरिरायजी एण्ड कम्पनी को चर्चा को उल्टी दिशा में मोड़ने के लिए विवश होना पड़ा।)
मुम्बई समाचार दि: 26-6-92

॥ श्री वल्लभः ॥

'समस्त पुष्टिमार्गीय वैष्णवों के लिए महत्वपूर्ण निवेदन'

''श्री नाथ जी हमारे सर्वस्व हैं''

एतद्द्वारा समस्त पुष्टिमार्गीय वैष्णवों को सूचित करना है कि पू. गो. श्रीश्याममनोहरजी (पार्ला, किशनगढ़) अपनी पुस्तक, 'पुष्टिसिद्धान्त चर्चा सभा संक्षिप्त - विवरण' (दि: 10, 11, 12 जनवरी, 1992) में स्पष्ट विधान करते हैं कि श्रीनाथजी का सेवा - प्रकार पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों से विपरीत (विरुद्ध) है। इस बात को हम सब सर्वथा अस्वीकार करते हैं और सख्त विरोध दर्ज कराते हैं। इस अति महत्वपूर्ण मुद्दे पर गो. श्रीश्याममनोहरजी के साथ तटस्थ मध्यस्थ निर्णायक के समक्ष भगवत्शास्त्रानुसार व्यवस्थित शास्त्रार्थ करने को हम तैयार हैं। इसको समग्र विद्वत्समाज तथा पुष्टिमार्गीय वैष्णव नोट करें :

गो. श्री हरिराय जी महाराजश्री (जामनगर वाले)
गो. व्रजरमण लाल जी महाराजश्री (मथुरा)
गो. श्री वल्लभराय जी (सूरत)
गो.श्री श्याम मनोहर जी महाराजश्री (जामनगर - काशी)

पराभव स्वीकार ही कर लिया लगता है। यह तथ्य सार्वजनिक करने के लिए अब हम विवश हो रहे हैं।

(4) इस संबंध में अब जिसको जो कहना हो वह कहे। संवाद स्थापक मंडल की हैसियत से हमारे लिए कुछ भी कहना शेष नहीं रहा है। अत: किसी भी खुलासे की अपेक्षा आगे से हम से कोई भी न रखे।

वास्ते - संवाद स्थापक मंडल

गोस्वामी योगेशकुमार मनु भवन, भगतसिंह रोड़, विले पार्ले, (वेस्ट) मुम्बई - 400056

(सिद्धान्तवचनावली का भावानुवाद प्रकाशित करने की हिम्मत तो श्रीहरिरायजी के हृदय में आज दि: 15-3-94 तक पैदा हुई नहीं। इसके उपरान्त पक्षग्रहण में स्वयं के द्वारा की गई स्वीकारोक्ति कि - 'प्रकट किये गये विवरण गलत हैं' - वह भी साबित नहीं कर सके।)

मुम्बई समाचार - दि: 30-6-92

॥श्री वल्लभ॥

समस्त पुष्टिमार्गीयों को निवेदन

देवलक किसे कहा जाता है?।

एक आह्वान -

जो अपने लाभ-पूजा के लिए यत्न करके द्रव्य लेकर भगवत्सेवा करे तो 'देवलक' कहलाता है। पर भगवदर्थ सर्व लाभ प्रभु को समर्पण कर वैष्णवों का देवद्रव्य प्रभु को विनियोग कराए - वह देवलक नहीं, और नहीं ही है। अत: हम सभी गोस्वामी आचार्य प. पू. गो. श्रीश्याममनोहरजी द्वारा हम पर चांडालतुल्य देवलकता के बहुत हल्के आक्षेप को, जो आपश्री के मुख में ही शोभा पाता है, सर्वथा अस्वीकार करते हुए जोरदार विरोध के साथ इस आक्षेप की सख्त शब्दों में निंदा

करते हैं। मंदिर में नन्दालय के भाव से परंपरानुसार सेवा करने वाले गो. आचार्य देवलक तो सर्वथा नहीं ही हैं। उपरांत, वैष्णवों की वित्तजा सेवा भगवदर्थ स्वीकारने के बावजूद गो.आचार्य जघन्य कोटि के अधिकारी नहीं, अपितु उत्तम कोटि के गो. आचार्य हैं। यह सिद्धान्त हम सटीक शास्त्रोक्त प्रमाण और प्रबल युक्ति से सिद्ध कर स्थापित करने को तैयार हैं। इसीलिए हम प. पू. गो. श्रीश्याममनोहरजी को तटस्थ मध्यस्थ निर्णायक के समक्ष शास्त्रार्थ के लिए पुन: खुला आह्वान करते हैं।

नोट : हम सब हृदयपूर्वक प्रभु को प्रार्थना करते हैं कि गो. श्रीश्याममनोहरजी को प्रभु सद्बुद्धि दें और वे फिर बहाना न करके शास्त्रार्थ करने का हमारा आह्वान स्वीकार लें। जिससे इस विवाद का अंत आये और वैष्णव समाज को राहत मिले।

गो.हरिरायजी महाराजश्री (जामनगर)

गो.रमणलालजी महाराजश्री (मथुरा) तथा सहयोगी गो.आचार्य।

(हकीकत में तो मैं कोई आक्षेप कर रहा हूँ कि नहीं, परन्तु खुद हरिरायजी द्वारा सिद्धान्त - चर्चासभा में स्वीकार किये गये पक्षानुसार यदि वे 'देवलक' सिद्ध हो रहे हों तो इसमें मेरा क्या गुनाह? फिर से स्वयं भावानुवाद प्रस्तुत क्यों नहीं करते, उसके बारे में हिफाजत से रखी सर्वथा नीतिविहीन शिलामूर्ति सम मौन परन्तु वीडियो केसट में जो व्याकरण की क्षुद्र अशुद्धियाँ मैंने कान पकड़ कर स्वीकारीं उन्हें बतौर सिद्धांत प्रकट करने की गंदी आकांक्षा को व्यक्त करता यह निवेदन गिने चुने वैष्णवों के नाम से प्रकाशित किया गया। इसमें ऊपर प्रकाशित वैष्णवों के वक्तव्य का असंगत जवाब जो स्वयं श्री हरिराय जी ने अपने भक्त वैष्णवों के नाम से दिया वह इस प्रकार है :---)

मुम्बई समाचार दि: 23-6-92

॥श्री वल्लभ॥

समस्त पुष्टिमार्गीयों के लिए अति महत्वपूर्ण खुलासे का तीखा उत्तर

दि: 26-6-92 को मुम्बई समाचार में 'अति महत्व का खुलासा' किसी खुलासे के बजाय व्यक्तिगत आक्षेप और आक्रोश की ही अभिव्यक्ति है।

पू. पा. गो श्रीतिलकायतजी महाराजश्री तथा पू. पा. गो. श्रीब्रजरत्नलाल जी महाराजश्री (सूरत) द्वारा प्रदान किये गए अभिनन्दन सम्मान को पू.पा. गो. श्रीहरिरायजी (जामनगर) ने सहर्ष स्वीकार किया है। कारण कि वह सम्मानपत्र चर्चा-सभा के निर्णय के लिए नहीं है। यह स्वयं श्रीहरिरायजी ने स्वीकारा ही है। निवेदन में उठाये गये अमुक अव्यक्तिगत प्रश्नों का खुलासा विश्वकर्मा बाग में हुई चर्चासभा की वीडियो केसट में ही है। पर पू.पा. गोस्वामीश्याममनोहरजी की इच्छा बिना वे केसिटें संवाद स्थापक मंडल की स्वयं की इच्छा होने पर भी प्रकाशित नहीं कर सकते! कारण कि चर्चासभा में चर्चा के दौरान गो. श्रीहरिरायजी के समक्ष अपने दोनों कान पकड़कर अपनी भूल कबूल करते गो. श्याममनोहरजी की अतिदयनीय स्थिति को चर्चा सभा में उपस्थित गो. बालकों, विद्वान शास्त्रियों, वैष्णव समाज तथा हमने भी प्रत्यक्ष देखा है जो इस चर्चा सभा की केसटों में चित्रित है। इसीलिए ये वीडियो - ओडियो केसट गो.श्याममनोहरजी ने दबा रखी है। उन केसटों को सेंसर किये बिना प्रकाशित करने नहीं देते। ऐसी है बेचारे संवाद स्थापक मंडल की दयनीय स्थिति (कठपुतली जैसी)! वरना सार्वजनिक सभा की, आम वैष्णव समाज के लिए यह वीडियो - ओडियो केसट चार - चार माह तक प्रकाशित नहीं करने का प्रयोजन क्या है? ये केसटें सेन्सर

किये बिना वैष्णव समाज को खुले तौर पर बताने का उनका नैतिक कर्तव्य है। सौराष्ट्र में आयोजित सिद्धान्तशिविर की विडियो केसटें यदि मुम्बई में बताने में आती हैं तो मुम्बई में आयोजित विश्वकर्मा बाग की चर्चासभा की वीडियो केसटें सेन्सर हुए बिना क्यों नहीं?

वास्तव में तो इस चर्चासभा की वीडियो केसट सेन्सर हुए बिना जब तक बाहर नहीं आती तब तक इस विषय में किसी को कुछ भी कहने का या पूछने का नैतिक अधिकार नहीं है। फिर भी अनेक पत्रिकाओं और निवेदनों द्वारा वैष्णव समाज को गुमराह करने का अनैतिक कृत्य अमुक गिने-चुने वैष्णव करते हैं, वह अशोभनीय है।

नोट :- अब मुख्य मुद्दा एक ही है कि गो. श्रीश्याममनोहरजी सेन्सर किये बिना केसटों को बाहर प्रकट करते हैं कि नहीं? यदि वे बाहर प्रकट करें तो सच्चे नहीं तो -- जय श्री कृष्ण।

गोकुलदास पटेल।	उषाबेन शाह।
रवजी भाई पटेल।	कोकिला मकवाणा।
बाल कृष्ण भाई मकवाणा।	प्रवीण ठक्कर।
रणजीत कापड़िया।	वसंत भाई पटेल।
प्रभूदास ठक्कर।	हीरेन पारीख।
नरेन्द्र शाह।	नीता पटेलिया।
परेश भाई पटेल।	अतुल तन्ना।
बाबु भाई पटेल।	नवनीत सोनी।
धनजी भाई पटेल।	भरत सोनी।
जीवन भाई पटेल।	गोरधन त्रिवेदी।
मनहर पटेल।	

॥श्रीहरि: ॥

गोस्वामी श्याममनोहर

63, स्वास्तिक सोसायटी, जुहु स्कीम, मुम्बई - 400056

दि: 24-6-92

सार्वजनिक क्षमायाचना

चिरंजीवी हरिरायजी के समर्थक वैष्णवों के खुलासे (मुम्बई समाचार दि: 23-6-92) में पढ़ा कि भरी सभा में अपने दोनों कान पकड़ कर जो मेरी त्रुटियाँ मैंने स्वीकारी थीं, उनको छुपाने के लिए संवाद स्थापक मंडल को मैं वीडियो बाहर प्रकाशित नहीं करने देता।

इस सार्वजनिक निवेदन से मैं नि:संकोच स्वीकार करता हूँ कि उस वक्त भरी सभा में मैंने - अपने दोनों कान पकड़कर अपनी त्रुटियों को स्वीकार किया था। (देखें विस्तृत विवरण पेज - 104 से 107)। हालांकि इन पन्नों में कान पकड़ने का फोटो छपा नहीं है पर वह केसट में तो है, है और अभी भी है। इसमें छुपाने जैसी कोई हकीकत नहीं है। चर्चासभा के आयोजन से पहले या उस दरमियान अथवा तो आज भी छंदशास्त्र या व्याकरण शास्त्र के निष्णात होने का मेरा दावा कभी भी नहीं था - न आज है। अत: अपनी त्रुटि स्वीकारने में संकोच किस बात का होना चाहिए! (देखें सिद्धान्तवचनावली का शुद्धिपत्र) मेरी इन त्रुटियों या उनकी स्वीकृति का पुष्टिमार्ग के इस ज्वलंत प्रश्न का कि भक्ति की व्यावसायिक खुली फजीहत सिद्धान्तानुमोदित है या नहीं, इसके साथ कोई संबंध ही नहीं है।

तदुपरांत पुष्टि सिद्धान्तों की चर्चा सभा में ''वने पुष्पे समाकीर्णे पूरीषमिव'' न्याय से, छंद - व्याकरण की क्षुद्र त्रुटियाँ ढूंढ़ने के शौकीन श्रीहरिरायजी के साथ पुष्टिसिद्धान्तों की चर्चा करने के मेरे अक्षम्य अपराध के लिये महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजी और समग्र पुष्टिमार्गीयों से पुन: दूसरी

बार क्षमा याचना करता हूँ कि मेरे इस जघन्य अपराध को वे क्षमा करें।

क्षमाप्रार्थी : गोस्वामी श्याम मनोहर

(हरिरायजी के सेवक गोकुलदासभाई के 23-6-92 के 'अति महत्वपूर्ण खुलासे' का जवाब वैष्णवों ने मालापहरामणी के लहजे में, उनको दिया था जो चर्चासभा में उपस्थित रहने वालों में से अपने को ''गो. बालक या विद्वान शास्त्रीजी अथवा तो वैष्णव समाज'' में से कुछ भी नहीं मान रहे थे, वह जवाब:-

मुम्बई समाचार दि: 30-6-92

जय श्री कृष्ण! जय श्री कृष्ण!! जय श्री कृष्ण!!!

हमारे द्वारा पूछे गये छ: सवालों में से एक भी सवाल का जवाब न देकर असंगत गोल - मोल बातें करने वाले पू.पा. गो. श्रीहरिरायजी और उनके समर्थक वैष्णवों का एवं सभी पुष्टिमार्गीयों का सार्वजनिक जय श्री कृष्ण हम सभी-प्रश्नकर्ता स्वीकारते हैं और हमारे भी (जय श्री कृष्ण) उनको प्रेषित करते हैं। (यह चर्चा हमारे द्वारा अब यहीं समाप्त की जाती है)।

1	केतन डी. गाँधी।	2	अंशु जी शाह।
3	मथुरादास च. भाटिया।	4	किरण जे ठक्कर।
5	वसंत पी आशर।	6	विपुल एन शाह।
7	मनीष बाराई।	8	महेन्द्र कुमार धरमशी।
9	असित जे. शाह।	10	बचु भाई मेहता।
11	तिलक पारीख।	12	रमण लाल एम पारीख।
13	नन्दकिशोर मित्तल।	14	रसिक भाई शाह।
15	जितेन्द्र पी जीवाणी।	16	कृष्णकांत वोरा।

(सिद्धान्त चर्चा को उल्टी दिशा में मोड़ने के षड्यन्त्र से पर्दा उठाने के लिए अंत में जो वक्तव्य मैंने प्रकाशित किया, वह :-)

मुम्बई समाचार दि: 5-7-92

॥ श्री हरि ॥

श्री श्रीनाथजी आदि पुष्टिस्वरूप पुष्टिजीवों की भक्तिमय आराधना के लिए फलरूप स्वरूप या बुद्धि पौरुषहीन देवलकों की आजीविका के लिए साधनरूप स्वरूप?

मुम्बई समाचार दि: 26-6-92 और दि: 30-6-92 के अंकों में, चि.हरिरायजी – वल्लभरायजी एण्ड कं द्वारा मुझे दी गई खुली चुनौती की विगत मालूम हुई।

पुष्टिसिद्धान्त-चर्चासभा (पार्ला) में चि. हरिरायजी ने स्वीकार किया था कि लाभ – पूजार्थ भगवत्सेवा करने वाला जघन्य में भी जघन्य कोटि का देवलक होता है (देखें चर्चा सभा – विस्तृत विवरण पेज 163-168)। अत: जिन – जिन गोस्वामियों ने मेरे साथ शास्त्रार्थ करने की तैयारी दिखाई है, उनको शास्त्रार्थ करना ही हो तो पहले वे यह स्पष्टीकरण दें कि अपने – अपने माथे बिराजते श्रीठाकुरजी के लिए वे जनता से – भेंट सामग्री लेते हैं कि नहीं? और अगर लेते हैं तो जघन्य में जघन्य कोटिके 'देवलक' हैं कि नहीं?

यदि जघन्य में जघन्य कोटि के देवलक हों तो वे जब तक अपनी जघन्य पापमयी आजीविका छोड़कर गुरुपदोचित आजीविका नहीं अपनाते तब तक शास्त्रचर्चा के लिये मैं उनको योग्य नहीं मानता। जिस दिन भक्ति की व्यावसायिक सार्वजनिक फजीहत करने की जघन्य आजीविका छोड़ देंगे उस दिन वे जहाँ कहेंगे वहाँ शास्त्रार्थ करने के लिये मैं हाजिर हो जाऊँगा। पार्ला में जो चर्चा की थी वह इस विश्वास के साथ की थी कि उनको आधुनिक कानून और सिद्धान्तबोधरहित जनता के दबाव के कारण लाचारी से देवलकवृत्ति करनी पड़ती होगी।

अत: ''सर्वान् बलकृतान् अर्थान् अकृतान् मनुः अब्रवीत्'' न्याय से वे देवलक नहीं होंगे, ऐसा मैं मानता था। अब किन्तु बात खुले गई है

कि पुष्टिभक्ति की सार्वजनिक फजीहत को ये देवलक स्वधर्म मानते है, अधर्म नहीं। अत: इनके साथ शास्त्र चर्चा नहीं हो सकती। मरे हुए जानवर की खाल खींचकर आजीविका चलाने वाले के साथ शास्त्र चर्चा हो तो ही देवलकों के साथ शास्त्र चर्चा हो सकती है। ''चितिं च चितिकाष्ठं च पूयं चंडालमेव च स्पृष्ट्वा देवलकं चैव सवासा जलमाविशेद्'' – मुर्दे को जलाने के लिए प्रयुक्त लकड़ी को, मांस चरबी आदि को, जानवरों की खाल खींचकर बेचने वाले को और देवलक को स्पर्श करने पर पहने हुए कपड़ों सहित स्नान के बाद ही घर में प्रवेश करना चाहिए। अत: शास्त्र चर्चा के लायक 'देवलक' होते ही नहीं हैं। जब इस जघन्य वृत्ति को छोड़कर श्रीमहाप्रभुजी से सार्वजनिक माफी मांग लेंगे तब नि:संकोच शास्त्रार्थ करने के लिये मैं तैयार हो जाऊँगा।

साथ ही साथ मध्यस्थ को बीच में रखकर शास्त्रार्थ करने की चुनौती को नहीं स्वीकारने का प्रश्न ही नहीं है। अलबत्ता मैंने तो जो मेरा पक्ष था वह भावानुवाद के द्वारा तो प्रस्तुत कर ही दिया है, परंतु चर्चासभा को हुए छ: माह हो गये हैं, फिर भी चि.हरिरायजी – वल्लभरायजी एण्ड कं.स्वयं को अभिप्रेत भावानुवाद प्रकाशित करने का साहस अभी तक कर न सकी। इसके अलावा अपनी पलायन-मनोवृत्ति को छुपाने के लिए भावानुवाद द्वारा कोई भी पक्ष प्रस्तुत हो ही नहीं सकता और भावानुवाद हर स्थिति में त्रुटिपूर्ण ही होता है, ऐसे आशय के चित्र – विचित्र विधान कर रहे हैं। (ऐसा कर्णोपकर्ण – मैंने उस वक्त सुना था इसीलिए)। हास्यास्पद बात परन्तु यह है कि शाखा – चंक्रमण जिनका मूल स्वभाव है, ऐसे चि.हरिरायजी ने स्वयं पार्ला की चर्चा सभा में भावानुवाद प्रस्तुत कर अपने मत की प्रस्तुति करना स्वीकार किया था। फंस जाने के भय से खुद ने भावानुवाद प्रस्तुत नहीं किया – यह पुन: शाखाचंक्रमण ही है।

पार्ला की चर्चासभा (देखें विस्तृत विवरण पेज नं. 160-167 और 226-228) में पैसों के लिए (वित्तार्थ नहीं) बल्कि आजीविकार्थ (वृत्त्यर्थ) - भगवत्सेवा की वकालत की थी। उसके बाद बालासिनोर सभा में (जिसकी मेरे पास केसट है) शाखाचंक्रमण करके वित्तार्थी अर्थार्थी को भी उदार भक्त मान्य करके उसकी वकालत की थी। तत्पश्चात् ऐसे जघन्य कोटि के अधिकारी आप खुद हैं कि नहीं यह प्रश्न पूछने पर फिर से शाखाचंक्रमण करके अब स्वयं को उत्तम कोटि के आचार्य गिनवाने वाले चि. हरिरायजी उत्तम कोटि की तनुवित्तजा सेवा यदि स्वयं कर रहे हों तो, भगवत्सेवार्थ पराया पैसा नहीं लेते, यह जब तक साबित करके नहीं बतायें, तब तक मैं उनको और उनके सहयोगियों को जघन्य कोटि के देवलक ही गिनता हूँ। अतः आमने - सामने बैठकर शास्त्रार्थ करने का तो अब प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। इसके बावजूद भी शास्त्रार्थ की असह्य खुजलाहट को मिटाने हेतु एक सरल उपाय यह हो सकता है कि जैसे मैंने अपना पक्ष लिखित में प्रकाशित करा दिया है वैसे चिं.हरिरायजी, वल्लभरायजी (सूरत) एण्ड कं.में भी यदि साहस हो तो अपने अभिप्राय के अनुसार सिद्धान्तवचनावली का भावानुवाद और संक्षिप्त विवरण में दिये गये ''शाखा चंक्रमण निरसन'' का लिखित जवाब प्रकाशित करा दें। जिससे पार्ला की चर्चासभा में (देखें विस्तृत विवरण पेज नं 291 से 293) शास्त्रार्थ के लिए चि.वल्लभरायजी (सूरत) के दृढ़ आग्रह के अनुसार सर्वलक्षणसम्पन्न मध्यस्थ ढूढ़ने की जहमत न पड़े, क्योंकि ऐसे मध्यस्थ बिना शास्त्रार्थ हो नहीं सकता, यह आग्रह पूर्वक बताया गया था। अतः ऐसे मध्यस्थ के अभाव में हकीकत में शास्त्रार्थ टालना न हो तो लिखित भावानुवाद और जवाब प्रकाशित करवाने की मेरी खुली चुनौती को स्वीकार करें जिससे शाखा चंक्रमण

कर जाने की मानसिक अस्थिरता की बिमारी भी चर्चा सभा में आड़े न आए।

''हारा हुआ जुआरी दुगना दाव खेलता है'' इस न्याय से अब सिद्धान्त चर्चा के मुद्दे को बेतुकी दिशा में मोड़कर जनता को गलत तरीके से उकसाने का घटिया खेल खेला जा रहा है।

इसमें मेरा खुलासा यह है कि श्रीनाथजी के दर्शन और उनका प्रसाद भी पुष्टिमार्ग में श्लाघ्यतम प्राणोपम सौभाग्य है। क्योंकि श्रीनाथजी का स्वरूप श्रीमहाप्रभुजी - श्री गुसांई जी का सर्वस्व था, है, और रहेगा ही। अतः :-

(क) जब श्रीमहाप्रभुजी की सैद्धान्तिक इच्छा के विपरीत श्रीनाथजी किसी पुष्टिभक्त के घर तनुवित्तजा सेंवा स्वीकार करने के बजाय सार्वजनिक देवालय में बिराजने की इच्छा दर्शाकर ब्रह्मसंबंधविहीन चैतन्यसम्प्रदाय के बंगालियों से सेवा कराते थे (देखें 84 वै.वार्ता) तब भी प्रत्येक पुष्टिमार्गीय के लिए सर्वस्व थे ही।

(ख) जब श्रीनाथजी श्रीगुसांईजी के श्रीमस्तक पर बिराजे तब भी प्रत्येक पुष्टिमार्गीय के लिए उतने ही अपितु उससे भी अधिक सर्वस्व रहे ही थे।

(ग) उसके बाद श्रीगुसांईजी के सात बालकों के साथ अविभक्त परिवार के सेव्य तरीके बिराजे तब भी उतने ही पुष्टिमार्गीय सर्वस्व रहे।

(घ) उसके बाद तत्कालीन केंद्रीय गृहमंत्री गोविन्दवल्लभ पंत के आफिस में वर्तमान पू.पा. गो.तिलकायत महाराजश्री के ऊपर दबाव लाकर रु.3000/मासिक के एवज में श्रीनाथजी को सरकार को सौंप देने का निर्णय लेने में आया तब भी श्रीनाथजी प्रत्येक पुष्टिमार्गीय के साथ मेरे भी सर्वस्व थे ही। मेरे पितृचरण नि.ली. श्रीदीक्षितजी महाराज ने पू.पा.

श्रीतिलकायत महाराज और सरकार के विरोध में हलचल शुरू की थी उसमें मैंने भी सक्रिय भाग लिया था क्योंकि श्रीनाथजी मेरे सर्वस्व थे।

(ड.) उसके बाद सरकार और पू.पा.तिलकायत महाराज के बीच मतभेद उत्पन्न होने पर राष्ट्रपति के आदेश और राजस्थान विधानसभा में टेम्पल - बोर्ड एक्ट लागू हुआ तब भी अनेकानेक विरोध सभाओं में मैंने भाग लिया था क्योंकि प्रत्येक पुष्टिमार्गीय के साथ मेरे भी श्रीनाथजी सर्वस्व थे और हैं।

(च) तत्पश्चात पू.पा. गोस्वामी तिलकायत महाराजश्री सुप्रीम कोर्ट तक केस लड़कर हार गये। क्योंकि उस वक्त कोर्ट में मार्ग के सिद्धान्त प्रस्तुत ही नहीं किये गये। ('देखें - तिलकायत विरुद्ध राजस्थान सरकार, निर्णय सुप्रीमकोर्ट फकरा 61)। वकीलों की गलत सलाह के कारण आर्थिक नुकसान के लिए जब न्याय मांगा गया था, तब सुप्रीमकोर्ट ने जो प्रसाद बेचा जाता है उसका बीस या पच्चीस प्रतिशत कमीशन का नफा पू.पा.तिलकायत महाराजश्री को मिले ऐसा निर्णय कर श्रीनाथजी के मंदिर को सार्वजनिक मंदिर घोषित कर दिया। परंतु इसके बावजूद भी मैं तो आज की तारीख में भी श्रीनाथजी को आम जनता के न मानकर वल्लभवंशज गोस्वामियों की अविभक्त पारिवारिक निधि अर्थात् सर्वस्व ही मानता हूँ।

(छ) इसके बाद 'शेबाइट कम हेरिडिटरी ट्रस्टी' (सेवायत सह वंशागत न्यासी) के रूप में जो पू. पा. श्रीतिलकायत महाराजश्री को सुप्रीमकोर्ट द्वारा मान्य किया गया था फिर भी अनवसर के समय मंदिर के चाबीजी (चाबी का गुच्छा) पू.पा. गो. श्रीतिलकायत महाराजश्री के पास न रखकर एक्जीक्यूटिव आफिसर के पास रखे जाने पर उसके विरोध में और दूधघर अथवा बालभोग में कोई पक्षी गिरकर मर गया उसमें पू.पा.

गो.तिलकायत महाराजश्री की आज्ञानुसार अपरस नहीं पाला गया जिसके विरोध में पू.पा. गो.तिलकायत महाराजश्री पुनः सेवा का बहिष्कार कर नाथद्वारा छोड़ अन्यत्र बिराजे थे। तब पू.पा. गो.तिलकायत महाराजश्री के समर्थन में, श्रीमद्वल्लभवंशज गोस्वामी परिषद् ने श्रीनाथजी के दर्शन - प्रसाद के बहिष्कार करने का आदेश दिया था। उस वक्त हमारे नि.ली. गो. गोविन्दरायजी (सूरत) और नि.ली. गो.श्रीब्रजभूषणलालजी महाराज (जामनगर) आदि अनेक गोस्वामी महानुभाव 'श्रीनाथजी पुष्टि पुरुषोत्तम नहीं रहे, पाषाण मूर्ति ही रह गये ऐसा ऐलान करने जा रहे थे तब मेरे पितृचरण नि.ली. गो.श्रीदीक्षितजी महाराज के रोष को झेलकर भी अकेले गो.श्याम मनोहर ने ही उस समय विरोध किया था और संशोधन प्रस्ताव प्रस्तुत किया था कि "श्रीनाथजी ने पुष्टिसंबंध त्यागा है, अतः दर्शन-प्रसाद नहीं लेना" तदनुसार सार्वजनिक आदेश गोस्वामी परिषद् द्वारा दिया गया था। इसका विवरण उस समय की पुष्टिमार्गीय लघु-पुस्तिकाओं में प्रसिद्ध हुआ था, जो आज भी उपलब्ध है। हाँ, यह संशोधन मैंने उस समय जारी किया था पर किसलिए? क्योंकि श्रीनाथजी पुष्टिमार्ग के सर्वस्व थे, हैं और रहेंगे।

(ज) आज, सुनने में आता है कि पू. पा. गो. तिलकायत महाराजश्री ने हमारे लिए निषेध आज्ञा की है कि हमें श्रीनाथजी की सेवा में नहाने नहीं देना। यह बात अगर सही हो तो श्री महाप्रभु जी सबको सन्मति प्रदान करें। हमें तो इतना ही कहना है कि तब भी श्रीजी पुष्टिमार्ग के सर्वस्व ही थे तो आज जो हमारे लिए निषेध आज्ञा की जाती हो तो भी हर एक पुष्टिमार्गीय के और हमारे भी सर्वस्व हैं और रहेंगे भी।

(झ) हमारा विरोध श्रीनाथजी या उनके प्रसाद के साथ न होकर पुष्टिमार्ग के सर्वस्व श्रीनाथजी के व्यावसायिक दिखावे के साथ है।

(ञ) 'तिलकायत' उपाधि देवद्रव्य या प्रसाद के कमीशन पर निर्भर पुजारी का पद है, ऐसा हम कभी नहीं मानते। क्योंकि यह पद श्रीमहाप्रभुजी की गादी है, और ऐसे ही रहेगी।

(ट) हम स्वार्थावश सिद्धान्त गढ़ने के हिमायती नहीं। परंतु सिद्धान्त के अनुसार स्वार्थ पर अंकुश रखने के हिमायती हैं।

(ठ) इसीलिए पुष्टिमार्गीय जनता, सरकार और न्यायालय के समक्ष पुष्टिसिद्धान्त क्या हैं, मात्र उन्हीं को प्रस्तुत करना चाहते हैं। किसी की निंदा या स्तुति नहीं। इसके बावजूद यदि सिद्धान्तचर्चा को व्यक्तिगत सन्दर्भ बिना चर्चा करने का शौक कोई रखता हो तो वे अपनी ऐसी जवाबदारी के साथ हमारे साथ चर्चा कर देखें।

(ड.) हमारा स्पष्ट अभिप्राय है कि आज कितने ही आचार्यवंशज सिंद्धान्त के बजाय स्वार्थ पर अधिक जोर देते हैं। वह उनका दुर्भाग्य नहीं बल्कि हम इसे हमारा दुर्भाग्य मानते हैं। क्योंकि ऐसा करने से हमारा ही कोई भाई जघन्य देवलक बन जाता है।

श्री महाप्रभु जी सबको सन्मति दें। गो.श्याम मनोहर

प्रकाशक :

डॉ.गिरीश शाह (आणंद), धनेश गांधी, मनीश बाराई, गोविन्द कीकाणी। (इन खुलासों का फिर से गोल - मोल जवाब जो हरिरायजी ने दिया - वह :-)

मुम्बई समाचार, 24-7-92 ॥ श्री वल्लभ ॥

वैष्णवजन सावधान

श्रीनाथजी के विरोधी बातों को घुमा रहे हैं। अब मोहरे बदल कर मैदान में!!!! भयंकर शाखाचंक्रमण!!!!

अब वे कह रहे हैं कि "हम श्रीनाथजी के विरोधी नहीं पर वहाँ की व्यवस्था का विरोध करते हैं"। प.पू. गो. श्रीश्याममनोहरजी (पार्ला,

किशनगढ़) अपनी पुस्तक, 'पुष्टिसिद्धान्त चर्चा सभा संक्षिप्त विवरण' के पेज न. 36पर स्पष्ट विधान करते हैं कि श्रीनाथजीजी की प्रतिष्ठा पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों से विपरीत परार्थ प्रतिष्ठा थी। अर्थात् गोवर्धन पर्वत के ऊपर मंदिर में श्रीमहाप्रभुजी द्वारा श्रीनाथजी को पाट बैठाया वह पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों से विपरीत पाट बिराजे थे। इस तरह मूलत: ही श्रीनाथजी की सेवा को श्रीश्याममनोहरजी सिद्धान्त विरुद्ध कहते हैं तो फिर अब इसमें व्यवस्था के विरोध की बात ही कहाँ रही? इस आधार पर जो व्यक्ति स्वयं श्रीनाथजी की प्रतिष्ठा को खुले आम अपुष्टिमार्गीय कहने का दु:साहस कर सकता है वह हम सब गोस्वामी आचार्यों को चांडाल तुल्य देवलक कहकर गाली दे तो उसमें नया कुछ भी नहीं है! (देखें मुम्बई समाचार दि: 5-7-92)। फिर भी शास्त्रार्थ में जब तक वे हमको देवलक सिद्ध न कर दें तब तक हमको देवलक कहने का उनको कोई नैतिक अधिकार नहीं है। नाचने वाली को आंगन टेढ़ा कब लगता है? यह बात अब स्पष्ट हो गई है। फिर भी हम तीसरी बार श्रीश्याममनोहरजी को शास्त्रार्थ के लिए खुला आह्वान करते हैं कि यदि वे सच्चे हैं तो फिर कोई बहाना न लें और तटस्थ मध्यस्थ निर्णायक के समक्ष हमारे साथ शास्त्रार्थ करें वरना - वैष्णवों को गलत तरीके से अन्यमार्ग पर चलाना बंद करें तथा अपनी असभ्य वाणी को विराम दें।

नोट :- यह हमारा आखिरी खुला आह्वान है फिर भी यदि वे अब भी स्वीकार न करके हमें सरेआम गाली देते रहेंगे तो श्व - कुंजर न्याय से उनकी उपेक्षा के अलावा हमारे पास अन्य कोई उपाय नहीं है। कारण कि अकारण चांडाल देवलक जैसी असभ्य गाली सभ्य समाज कब तक सुने?

गो. श्रीहरिरायजी महाराज (जामनगर)

गो.ब्रजरमणलालजी (मथुरा) तथा सहयोगी गो.आचार्य

(अब आगे इसके जवाब में एक पूरे पेज का विरोध पत्र 'मुम्बई समाचार' के दि 11-7-92 के अंक में पू.पा.तिलकायत महाराजश्री के भक्तवैष्णवों ने छपवाया था। जिसका विस्तृत खुलासा ''सच्चा क्या? .. सच्चा क्या?..'' शीर्षकान्तर्गत 'मुम्बई समाचार' में ही दिनांक 19-7-92 को पेज नं.8-9 पर सिद्धान्तचर्चासभा में उपस्थित रहने वाले वैष्णवों ने छपवाया था। उसमें किये गये बहुत से खुलासों को आड़े-तिरछे रूप में स्वीकार कर वे उस चर्चासभा से खिसक गये थे। इसके अनुसंधान में मैंने एक वक्तव्य छपवाया था जिसमें हरिरायजी के आह्वान का भी जवाब मैंने दिया था जो इस तरह है:-)

मुम्बई समाचार, दि: 9-8-92

॥ विजयते श्री वल्लभो महाप्रभुः ॥

सच्चा तो सच्चा ही और गलत वह तो .. पर झूठी माथापच्ची में हमको भी आनन्द नहीं। (पैरा 1 और 7) :-

(1) क्योंकि हम तो श्रीमहाप्रभुजी के वे ही सिद्धान्त कह रहे थे जिन सिद्धान्तों की पुष्टि और प्रशंसा अपने सम्प्रदाय के प्रमुख पीठाधीश ने भी आर. के.भट्ट की पुस्तिका की स्तुति के व्याज से अत्युत्तम कह कर की थी। आज भी हम तो वही सिद्धान्त कहना चाह रहे हैं। भविष्य में भी वे ही 'अत्युत्तम' सिद्धान्त कहते रहेंगे। क्योंकि श्रीनाथजी आदि सभी पुष्टिस्वरूपों की सेवा 'अत्युत्तम' सिद्धान्तानुसार खुद के घर में खुद के तन-धन-परिजन से और सार्वजनिक प्रदर्शन के भोंडेपन से रहित होनी चाहिए। ऐसा हमारा अस्खलित भाव है और रहेगा। प्रत्येक वल्लभवंशज गोस्वामी को गुरुपदोचित अपनी चरण भेंट से ही भगवत्सेवा को स्वधर्मरूप से निभाना चाहिए! कभी भी सार्वजनिक मंदिर में पुजारी

बनकर तो नहीं ही --- अलबत्ता किसी भी परिस्थिति में सार्वजनिक प्रदर्शन रहित, अपने घर में और अपने तन-धन परिजनों से की जाती भगवत्सेवा का सिद्धान्तघोष यदि श्रीनाथजी या तिलकायत महाराजश्री के ऊपर आक्रमण या कीचड़ उछालने जैसी हल्की बात हो तो वह 'अत्युत्तम' आक्रमण या कीचड़ उछालने का कृत्य हमारे पहले आर. के.भट्ट ने किया है और पू.पा. गो.तिलकायत महाराजश्री ने उसको बढ़ाया है, इसमें दो मत नहीं हैं।

(7) अब मात्र बाकी रहती है तिलकायत महाराजश्री से 'पुष्टिसिद्धान्त - संरक्षण - शिरोमणि' पदवी प्राप्त हरिरायजी के मुम्बई समाचार (दि: 24-7-92) के अंक में प्रकाशित 'वैष्णवों सावधान' शीर्षक से प्रकाशित विज्ञप्ति की बात।

वास्तव में उनको जो सिद्धान्तचर्चा का 'सैद्धान्तिक निर्णय' करना ही हो तो सिद्धान्तवचनावली का भावानुवाद और संक्षिप्त विवरण में लिखे हुए 'शाखा चंक्रमण निरसन' का जवाब प्रकाशित करा दें। किसी भी तटस्थ मध्यस्थ की गरज बिना इससे शास्त्रार्थ भी सम्पन्न हो ही जायेगा। यदि आमने - सामने बैठकर ही शास्त्रार्थ की कोई असह्य बेताबी हो तो वे अपने माथे बिराजते ठाकुरजी की सेवा के लिए गाम के पैसे उगाहना बंद कर दिखाएं, कम से कम तीन वर्ष तक, फिर आमने - समाने बैठकर अवश्य शास्त्रार्थ कर लेंगे।

इन दोनों बातों में से एक भी बात पूरी कर दिखाने की इनकी सामर्थ्य न हो तो अपने प्रकाशित वक्तव्यों में कहे अनुसार श्व-कुंजर न्याय से अपने को देवलकता में मदमत्त कुंजर अर्थात् हाथी समझें और मुझे पुष्टिसिद्धान्त भौंकता श्वान समझें। उसमें भी मुझे कोई बाधा नहीं है। क्योंकि मैं तो इनको अपना छोटा भाई ही मानता हूँ। अतः आज छोटे भाई

को यदि पुष्टिसिद्धान्त समझ में न आते हों तो उनके चिरंजीवी वल्लभ बाबा की समझ में कल तो आ ही जाएंगे .. ऐसे शुभाशय से पुष्टि के 'अत्युत्तम' सिद्धान्त भौंकता ही रहूँगा।

श्रीनाथजी आदि सभी पुष्टिस्वरूप प्रत्येक पुष्टिजीव के लिए सर्वस्व होने ही चाहिए। पुष्टिमार्गप्रवर्तक श्रीमहाप्रभुजी के वंशज सार्वजनिक मंदिर में देवलक पुजारी नहीं बल्कि गृहस्थ धर्माचार्य हैं। ऐसा दृढ़ाग्रह प्रत्येक पुष्टिजीव को होना ही चाहिए। मैं भी पुष्टिमार्गीय हूँ अत: 'अत्युत्तम' पुष्टिसिद्धान्त भौंकते रहने की अखण्डनिष्ठा रखने वाला

गो. श्याम मनोहर

पुनश्च : अब कोई भी खुलासा हम समाचार पत्रों में नहीं देंगे। जिसको जो कुछ पूछना - जानना हो वह पत्र द्वारा अथवा रूबरू जान सकता है। यह विचार कर जो कहना हो, वह कहे।

सौजन्य :

1	गोस्वामी श्रीकिशोरचन्द्रजी	2	गोस्वामी श्रीरघुनाथलालजी
3	गोस्वामी श्रीदेवकीनन्दनजी	4	गोस्वामी श्रीनीरजकुमारजी
5	गोस्वामी श्रीमथुरेशजी	6	गोस्वामी श्रीव्रजेशजी
7	गोस्वामी श्रीकन्हैयालालजी	8	गोस्वामी श्रीशरदकुमारजी
9	गोस्वामी श्रीयोगेशकुमारजी	10	गोस्वामी श्रीपीयूषकुमारजी

(इसके बाद श्रीहरिरायजी ने मुम्बई समाचार में एक वक्तव्य छपवाया है :-)

मुम्बई समाचार दि: 26-8-92

समस्त पुष्टिमार्गीयों के लिए महत्वपूर्ण खुलासा

(1) भानविहीन भाणजी भाई, यदि भावनगर को भान वगर किए रखें उससे क्या भावनगर भान वगर हो जाता है। उसी तरह

श्याममनोहरजी (पार्ला) मुझे चांडालतुल्य देवलक कहते रहें उससे मैं देवलक सिद्ध नहीं हो जाता। यदि श्याममनोहरजी में चतुराई हो तो शास्त्रार्थ में मुझे देवलक सिद्ध कर बतायें। यह मेरा उनको खुला चेलेंज (चुनौती) है और यदि मध्यस्थी निर्णायक के समक्ष शास्त्रार्थ में मेरे सामने आने की श्याममनोहरजी में हिम्मत न हो तो देवलकता की गालियाँ देकर - तीन वर्ष की मुद्दत रखकर झूठे बहाने बनाकर लोगों को गैरमार्ग पर चलाने की कुचेष्टा नहीं करनी चाहिए और सीधे - सीधे पराजय स्वीकार कर शास्त्रार्थ के मैदान में से उल्लांगूल पलायन कर जाना चाहिए (लगभग तो कर ही गये हैं)।

(2) ''सरकारी नियमों को मान्यता देकर जनता से भगवत्सेवार्थ द्रव्य लेनेवाला, जघन्य कोटि का देवलक होता है।'' यह पक्ष (मैंने चर्चा सभा में कबूल किया था, ऐसी श्याममनोहरजी की विज्ञप्ति -- (देखें - मुम्बई समाचार दि 9-8-92) आधारहीन पैदा की गई बात है और लोगों को गैरमार्ग पर चलाने वाली है। कारण कि चर्चासभा की ओडियो वीडियो केसटों को जोरजबरदस्ती से दबा कर सच्ची हकीकत को छुपाने के शौकीन श्याममनोहरजी के मन माफिक रीति से तोड़े - मरोड़े गए, वाहियात विधानों का अस्वीकार तो मैं आज से पांच माह पूर्व ही ऐसे ही एक सार्वजनिक निवेदन द्वारा कर चुका हूँ।

(देखें मुम्बई समाचार दि 19-4-92, जन्मभूमि दि 20-4-92 और प्रवासी दि 20-4-92 तथा संदेश दि 18-4-92 के साथ फूलछाब, जयहिन्द आदि)। फिर भी श्याममनोहरजी ने केसटें दबा रखी हैं और उनमें से ही मेरे मन्तव्यों को मन माफिक तरीके से तोड़ - मरोड़ कर जनता के सामने प्रस्तुत करते हैं और लोगों को गलत मार्ग पर ले जाते हैं। यदि ये केसटें सेन्सर हुए बिना प्रकाशित हो जायें तो लोग सच्ची

वास्तविकता को जान लेंगे और तब मेरे मन्तव्यों को तोड़ - मरोड़ कर, विकृत कर प्रकाशित करने का उल्टा धंधा बंद हो जायेगा। यही कारण है कि ये केसटें वे प्रकाशित नहीं करते। वरना ऐसा क्या है इन केसटों में जो लोगों के सामने जारी नहीं करते? हाँ इतना जरूर है कि चर्चासभा के दौरान श्याममनोहरजी ने जोरजबरदस्ती से दुर्व्यवहार करके मुझसे बलात् पक्ष ग्रहण करवाया और मेरे ऊपर झूठे आक्षेप लगाये, फिर भी महाप्रभुजी की कृपा से (नियम विरुद्ध होने पर भी) मैंने हिम्मतपूर्वक पक्षग्रहण किया और चर्चा बंद न हो जाये - इसलिए इच्छा न होते हुए भी सहयोग किया इसका वहाँ उपस्थित विशाल जन समुदाय साक्षी है। हकीकत में तो इस चर्चा के अंत में श्याममनोहरजी किस तरह निरुत्तर हुए और चतुर उद्घोषक गो.शरदबाबाने अपने विशेषाधिकार का प्रयोग (या दुरुपयोग--?) कर अचानक इस चर्चा को समाप्त और अनिर्णीत घोषित कर कितनी चालाकी और सावधानी से श्याममनोहरजी को बचा लिया है। वह तो लोग विडियो केसटों में जब प्रत्यक्षतया देखें तब ही सच्चा आनन्द आ सकता है। हालांकि श्याममनोहरजी की इस दयनीय स्थिति का पूरा नजारा संवाद स्थापक मंडल द्वारा प्रकाशित ''पुष्टिसिद्धान्त - चर्चासभा विस्तृत विवरण'' के पेज नं.224 से 228 में देखने में आता है। यद्यपि जब तक केसटें सेन्सर हुए बगैर प्रकाशित न हो जाय तब तक यह उपरोक्त विस्तृत विवरण पूर्णतः विश्वसनीय नहीं माना सकता।

(3) हकीकत में तो मेरे मान - अपमान की परवाह किये बगैर, मानो गालियाँ खाने के लिए ही मैं श्याममनोहरजी के सामने उतरा हूँ क़ारण कि श्याममनोहरजी की भाषा और व्यवहार में असभ्यता और ओछापन इस हद तक है कि कोई भी सभ्य गो.आचार्य 'पंकप्रक्षालन' न्याय से इसमें पड़ना ही नहीं चाहता और वास्तव में मेरे साथ भी यही

हुआ है (हालांकि इस सबके लिए मैं मानसिक रूप से पहले ही तैयार था)। और आज मुझे सार्वजनिक अखबारों में चांडालतुल्य देवलक की गाली सुननी पड़ती है श्याममनोहरजी में शास्त्रार्थ करने की चतुराई न होने पर भी। इसको भाग्य की विडंबना ही कह सकते हैं। फिर भी भगवत्कृपा से मेरा निश्चय तो दृढ़ है।

(4) श्याममनोहरजी को न्याय व्याकरण जैसे महत्वपूर्ण शास्त्रों का अभ्यास नहीं है (ऐसा वे स्वयं कहते हैं) अतः उनके द्वारा लिखा गया - 'शाखा चंक्रमणी निरसन' अप्रामाणिक प्रयोग हो, यह स्वाभाविक है। फिर भी शास्त्रार्थ के समय इसका मैं मुंहतोड़ जवाब दूंगा पर मध्यस्थी निर्णायक के समक्ष ही - कारण कि जिसका कोई धणी धोरी न हो ऐसी चर्चा में मुझे रस नहीं है।

(5) जनवरी, 1992 में श्याममनोहरजी को शास्त्रचर्चा की (इनकी ही भाषा में) असह्य चटपटी लगी थी तब गो. शरद बाबा जामनगर आकर आग्रह कर मुझे चर्चा सभा में ले गये थे। अतः तब, श्याममनोहरजी की चर्चा की चटपटी मिटाने की अपनी ओर से सम्पूर्ण कोशिश की थी पर कमनसीबी कि यह चटपटी मिटी नहीं और जलन के रूप में परिवर्तित हो गई जिसका परिणाम मेरे ऊपर पलट जाने के गलत आक्षेप और गालियों के रूप में आया।

(6) मेरा भावानुवाद चर्चासभा में, मैं (मौखिक) प्रस्तुत कर चुका हूँ (चर्चा बाकी है) जो ओडियो - वीडियो केसटों में है और केसटें सेन्सर किये बिना प्रकाशित करने की सम्पूर्ण जवाबदारी श्याममनोहरजी की है, मेरी नहीं।

(7) श्याममनोहरजी एक ओर श्रीनाथजी के मंदिर - प्रतिष्ठा, सेवा - दर्शन महाप्रसाद का विरोध करते हैं और दूसरी ओर कहते हैं कि

श्रीनाथजी हमारे सर्वस्व हैं। इस तरह एक मुँह से दोहरी बातें कर लोगों को गैरमार्ग पर धकेलते हैं और श्रीनाथजी की सेवा को भी अपुष्टिमार्गीय कहते हैं।

विशेष :- यदि वे मुझे केसटें देंगे तो मैं जरूर प्रकाशित कराऊँगा।

गो. हरिरायजी जामनगर।

(जवाब के रूप में मैंने जो पेम्फलेट छपवाकर जामनगर में वितरित कराया, वह इस प्रकार ---)

॥ विजयते श्री वल्लभो महाप्रभुः ॥

शास्त्रार्थ की खुली चुनौती चौपट

मुम्बई समाचार के दि: 26-8-92 के अंक में चि. हरिरायजी का निवेदन पढ़ा। स्वयं के बाबत में व्याकरण - न्याय - साहित्य - वेदांत शास्त्रों के अरण्य में विहार करने वाले 'हरि' अर्थात् केसरी होने की अहम्मन्यता रखने वाले आखिर तो वे उस अरण्य के वृक्षों की शाखाओं पर निरन्तर उल्लांगूल चंक्रमण करने वाले शाखा मृग ही सिद्ध हुए हैं।

शास्त्रों के पन्नों पर दृष्टि फेर लेने से या चालूखाते की रट्टामार परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो जाने से विद्वान हो जाते होते तो भेड़ों की तरह जहाँ-तहाँ विद्वानों के टोले के टोले दुनिया में भटकते मिलते।

व्याकरण शास्त्रानुसार, 'इच्छित' शब्द का प्रयोग शुद्ध नहीं है, 'इष्ट' प्रयोग ही शुद्ध मानने में आया है, परन्तु व्याकरण-निष्णात होने का दावा करनेवाले चि. हरिरायजी (देखें भाषा लक्षण पेज 7) ने ऐसे अशुद्ध प्रयोग चला दिये हैं तो उनकी विद्वत्ता को मापने का अब दूसरा कोई पैमाना ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती।

इसके अतिरिक्त न्याय शास्त्र के वैदुष्य की डींग हांकने को प्रकट किया गया 'भाषालक्षणम्' तो बुद्धि के दिव्य-वैभव (!) का ही प्रदर्शन

भगवत्सेवा का सिद्धांत शुद्ध प्रकार

कहा जायेगा। खुद लक्षण बताना चाहते हैं, भागवत की समाधिभाषा का और वह लागू होता है घड़ा-घोड़ा-गधे के ऊपर भी (अतिव्याप्ति)!

कहा जाता है कि "शास्त्रेषु भ्रष्टाः कवयो भवन्ति।" अर्थात् महाकवि की शास्त्रच्युति खोजनी हो तो 'मग्नश्चेत् पाताल प्रविशेद्' न्याय से सागर की गहराई में ही कहीं मिले तो मिले! पुनश्चः इसीलिए तो केसटों में रिकार्ड प्रवचन में यदा-कदा "जब उत्तम अधिकारी न हो तो, उसे क्या दरिया में पड़ जाना --- मर जाना?" इस तरह जघन्य अधिकारियों की ही चिन्ता स्वाधिकारानुरूप चि. हरिरायजी को बहुत सताती रहती है!

पार्ला में आयोजित सिद्धान्तचर्चासभा में खुले आम सिद्ध हो गया था कि पुष्टिमार्ग की मूलभूत बातों या निवेदन, समर्पण और दान में जो अन्तर है उसका तनिक भी भान चि. हरिरायजी को नहीं था। उस पर आये थे डींग हांकने कि भरी सभा में मेरा चीर हरण कर लेंगे। मुझे उस वक्त भी यह बात सुनकर क्रोध नहीं आया, अपितु करुणा ही उपजी थी।

इसमें भी मेरे दो चार पूर्वानुभवों में हर चर्चा प्रसंग में चि. हरिरायजी किसी भी प्रकार के तात्त्विक निष्कर्ष पर पहुँचने के बजाय स्वयं के विद्वान होने की छाप छोड़ने के लिए लालायित अधिक लगे। हकीकत में तो यह एक लघुताग्रन्थि का मानसिक रोग है। अतः (इस हकीकत से) वाकिफ होने के कारण चि. हरिरायजी के साथ चर्चा करने की मेरी लेशमात्र भी इच्छा नहीं थी। फिर भी चि. शरदबाबा ने और श्रीव्रजप्रियजी के कहने से कि चि. हरिरायजी वास्तव में सुनने योग्य विरोध (विप्रतिपत्ति) रखते हैं और शुद्ध गंभीर भाव से शास्त्रचर्चा करना चाहते हैं। तदुपरांत कितने ही अपढ़ और कई अन्य 'गोपीभाव से बिराजते' और सिद्धान्त निष्ठा - विहीन महानुभावों ने सिद्धान्त चर्चा के

लिए उनको अपने प्रतिनिधि के रुप में चुना है, यह जानकर न चाहते हुए भी मुझे तैयार होना पड़ा। मैंने अपनी ओर से तो अर्थात् एक बड़े भाई की हैसियत से चर्चा के दौरान चि.हरिरायजी का उत्साह बढ़ाने के सभी प्रयास किये थे। उनके पांडित्य की झूठी प्रशंसा करके भी और मेरी क्षुद्र गलतियों को सम्पूर्ण क्रीड़ाभाव से स्वीकार कर, अर्थात् भरी सभा में कान पकड़ने का नाटक करके भी! इसमें मेरा एक ही हेतु इस शुभाशयता का था कि लघुता ग्रन्थि से पीड़ित चि.हरिरायजी अपनी आन्तरिक कमजोरी पर काबू पाकर निखालिस रीति से चर्चा कर सकें। परन्तु "स्वभावो दुरितक्रम:" न्यायानुसार चि.हरिराय जी अपनी आन्तरिक लघुता ग्रन्थि खोलकर चर्चा में भाग लेने का सामर्थ्य नहीं जुटा सके - तो नहीं ही जुटा सके।

चर्चा सभा के एक दिन पूर्व देर रात तक और हकीकत में तो संवाद स्थापक मंडल ने परिपत्र द्वारा एक मास पूर्व ही सभा संचालन के नियमों की सम्पूर्ण स्पष्टता कर ही दी थी। वे की वे ही बातें बिगड़ी हुई पुरानी रिकार्ड पर जैसे सुई अटकी हुई रह जाती है और "दिल के टुकड़े दिल के टुकड़े" - दिल के टुकड़े बजता ही रहता है, ऐसे अपनी बिगड़ी हुई रिकार्ड बजाते ही रहे। हकीकत में तो आज भी उस बिगड़ी रिकार्ड पर सभी खुलासे कर देने पर भी "वीडियो केसट -वीडियो केसट" बज ही रहा है।

खैर चर्चा सभा, उस वक्त बमुश्किल आगे बढ़ने में आयी तो भी शुद्ध भावानुवाद के बजाय - अर्थहीन बातों के आगे पीछे बुद्धिहीन संपुट लगाकर - अर्थात् विस्तारपूर्वक भावानुवाद प्रस्तुत करने का नाट्य शुरू किया। उसमें टोका-टोकी करने पर और त्रुटिनिर्देश बताने के लिए कहने पर छन्द - व्याकरण, एक-एक शब्द के पर्याय जैसी अत्यन्त क्षुद्र त्रुटियाँ ढूँढ़-ढूँढ़ कर सम्पूर्ण चर्चासभा का समय कैसे बर्बाद करना, ऐसी सोची-

समझी कुटिलता प्रकट करने लगे। अत: ऊब कर मुझे पक्षग्रहण का आग्रह करना पड़ा। शास्त्रार्थ करने की खाज से पीड़ित, पक्षग्रहण और शास्त्रार्थ के बीच रहे अन्तर से पूर्णत: अनभिज्ञ चि.हरिरायजी उसके बाद मध्यस्थ निर्णायक का रोना रोने लगे। अत: थक कर मुझे घोषणा करनी पड़ी कि यदि चि.हरिरायजी पक्षग्रहण नहीं करेंगे तो मैं चर्चा में भाग नहीं लूंगा। अर्थात् शास्त्रार्थ की चटपटी या पीड़ा मुझे थी या चि.हरिरायजी को, यह बात तो तभी स्पष्ट हो गयी थी जब पक्षग्रहण करने के मेरे आग्रह को 'बलात्कार', 'अन्याय', 'दुर्भावना' आदि अनेक गालियाँ देने के उपरांत चि.हरिराय जी ने स्वयं कहा कि - "मंजूर है। अब वो इस बात को छोड़ो - श्यामुदादा, अभी जो भी कुछ हुआ उसको छोड़ो। भगवदिच्छा, मैं सब बात को भूल रहा हूँ - आप भी भूल जायें और मेरी कोई गलती हो तो माफ करें, आप जैसे कहो मैं तैयार हूँ" (देखें वि.वि.पेज नं.139-151)। क्यों कि चि.हरिरायजी अच्छी तरह से जानते थे कि ऐसा सुनहरा मौका इनके जीवन में फिर नहीं आयेगा! चर्चा सभा के तीसरे दिन की रात्रि को पक्षग्रहण का यकायक पटाक्षेप और अपने पिताश्री के विधानों के साथ खुद को कोई मतलब नहीं ऐसा शाखा चंक्रमण करना पड़ा था, अत: घबराकर रात को, खुद गुलाटी खाने को तैयार हैं, कहकर चर्चा रोक दी। यदि यह बात गलत होती तो चौथे दिवस चि.हरिरायजी ने सभा में जिज्ञासा या घोषणा क्यों नहीं की कि "आज सारे दिन सिद्धान्त चर्चा की जगह भाषण क्यों हो रहे हैं"? उस दिन रात्रि को चि.हरिरायजी ने ऐसा भी कहा था कि इतना तो सिद्ध हो ही गया है कि श्याममनोहरजी के सामने शास्त्रार्थ में चि.हरिराय जी के सिवाय अन्य कोई खड़ा न हो सका। इससे सिद्ध होता है कि उत्कण्ठा तत्त्व निर्णय की नहीं थी बल्कि व्यक्तिगत ख्याति की

ज्यादा तीव्र थी। मैं तो वहाँ से जाने के लिए तैयार था। क्योंकि उल्लांगूल शाखा चंक्रमणकारी शाखामृग जो तेंदुए (यह उपमा चि. हरिराय जी ने जूनागढ़ केप्रवचन में मेरे लिए प्रयुक्त की है) के समक्ष शास्त्रार्थ की खोंऽ खोंऽऽ करे तो उसको पकड़ने के लिए शाखाओं पर चढ़ने की जरूरत कम से कम इस तेंदुए को तो पड़ी नहीं। इसने तो अपनी पक्षग्रहण की एक घोर गर्जना ही ऐसी की कि शाखामृग शाखा पर से सिद्धान्तभूमि पर टपाटप आकर टपक गये थे !

पुष्टिसिद्धान्त चर्चासभा (पार्ला) की केसटें संवाद स्थापक मंडल ने सभा के यथावत् विवरण को प्रकाशित करने हेतु बनाई थी, वितरण करने के लिए नहीं। उस विवरण में से कौन सी बात गलत है उसे जब तक चि. हरिरायजी कहकर बता नहीं देते तब तक केसटें माँगने का कोई औचित्य नहीं है। हालांकि हमारी घोषणा हो जाने के बाद केसटों में उतारे गए सौ प्रतिशत सच्चे विवरण को अब शाखाचंक्रमण करके चि. हरिरायजी ने गलत घोषित करने का उपक्रम किया है।

वे फिर से इसमें गच्चा खा गये हैं। संवाद स्थापक मंडल ने वितरण की मनाही की है - प्रदर्शन की नहीं। अत: धर्म स्थान पर बिराजमान होने पर भी कौन सी जघन्य कक्षा का वह भाषण चि. हरिरायजी कर रहे हैं वह जिनको देखना सुनना हो, वे हमारे पास देख और सुन सकते हैं।

इसीलिए कहा गया है --

मर्कटस्य सुरापानं तत्र वृश्चिकदंशनम्।
तन्मध्ये भूतसंचारे यद्व तद्वा भविष्यति॥

अपढ़ - भयग्रस्त - निष्ठाविहीन महानुभावों ने चि.हरिरायजी का वरण प्रतिनिधि तरीके किया वह उनके लिए वारुणी की तरह साबित हुआ

है ! इसी तरह पक्षग्रहण में की गई स्वीकारोक्ति वृश्चिकदंश सम साबित हुई है !!''तनुजा सेवा करने वाला जघन्य कोटि का सेवा करने वाला होता है, और सरकारी नियमों को मान्य रखकर जनता से भगवत्सेवार्थ द्रव्य लेने वाला जघन्य कोटि का देवलक होता है।'' इन पक्षों को स्वीकार किया था, परन्तु बुद्धिमंदता के कारण यह स्वीकारोक्ति अन्त में स्वयं पर लागू हो जाएगी, इसका भान नहीं रखने से ऐसा बिगाड़ हो गया ! अत: इन अंशों को केसट में से निकाल कर बाकी की केसटें गाँव को दिखाने के लिए चि. हरिरायजी आग्रह पूर्वक केसटों की माँग कर रहे हैं ! परन्तु तनुवित्तजा उत्तम प्रकार की मानसीसेवा की साधिका होती है और तनुजा तो जघन्य प्रकार की होती है, ऐसी स्वीकारोक्ति के कारण या तो अब उन्हें अपना प्रतिष्ठामोह छोड़ना पड़ेगा या वैष्णवों से धन उगाह कर, व्यावसायिक भक्ति के ढ़ोंग अर्थात् देवलकतादौर्बल्य = परधन लोभ पर काबू करना पड़ेगा। दोनों का एक साथ अब चि.हरिरायजी निर्वाह नहीं कर सकते। शास्त्रार्थ की खाज की मिथ्या वृत्ति का यही परिणाम ! वृश्चिकदंश समा असह्य !!

चर्चा सभा के उपरांत बालासिनोर आदि की केसटों में भी खुद ने कबूल रखा है :--- ''तनुजा सेवा करने वाले का चित्त यद्यपि भगवान में प्रवण नहीं होता वृत्त्यर्थी या लोकार्थी होने के कारण, तदपि उसकी भक्ति निष्फल नहीं जाती''। इस सन्दर्भ में - मैं खुली चुनौती चि.हरिरायजी को देता हूँ कि वे सार्वजनिक निवेदन द्वारा बतायें कि :--

(1) स्वयं उत्तम तनुवित्तजा सेवा कर रहे हैं कि जघन्य? (मेरे पास नगद पावती की रसीद संख्या 003171-72-73-74-75-78-79-80 है, इनमें अपने माथे बिराजते प्रभु के लिए सन्मुख भेंट 'सामग्री भेंट' मंगलभेंट आदि का उल्लेख है। तदुपरांत गुरुदेवभेंट की हरे रंग की

अलग पावती काटने में आती है। अतः श्रीहरिरायजी कह नहीं सकते कि 171-180 की रसीदों की रकम उन्होंने अपनी भेंट के रूप में ली है या देने के लिए दी है। अतः सिद्ध हो जाता है कि वे जघन्य कोटि की सेवा करने वाले देवलक हैं)

(2) यह जघन्य कोटि की सेवा वे किसलिए करते हैं? क्या चित्त भगवान में प्रवण हो यह चि.हरिरायजी को अभीष्ट नहीं है? क्या परद्रव्य में खुद का चित्त प्रवण रहे, ऐसी प्रभु ने उनकी जघन्याधिकारिता सृष्टि के प्रारम्भ में ही निर्धारित कर दी है? अन्यथा खुद की चरणभेंट से अपने माथे बिराजते प्रभु की उत्तम तनुवित्तजा सेवा चि.हरिरायजी क्यों नहीं करते?

(जो भाई ये रसीदें मुझे दे गये हैं उन्होंने चि. हरिरायजी के अधिकारी देवरामभाई से श्रीमदनमोहनजी के चित्रजी भी मांगे थे। इसके जवाब में देवराम भाई बोले कि " श्री मदन मोहन जी के चित्रजी दे देंगे तो फिर तुम अपने घर में ही सेवा करने लगे जाओगे। फिर यहाँ कौन आयेगा? अतः चित्रजी महाराजश्री के चाहिये तो ले जाओ"। इसकी केसेट भी उन भाई ने मुझे सौंपी है।) अतः भक्तिवर्धिनी के 'गृहे स्थित्वा' का एक ही अर्थ 'गृहस्थाश्रम में रहकर' सच मान लें तो मुझे यह रसीद देने वाले भाई स्वयं एक गृहस्थाश्रमी ही हैं फिर भी चित्रजी नहीं देने में भय तो यही है कि घर में ही कहीं चित्रजी की सेवा न करने लग जाएं। क्योंकि ऐसा करने से चि.हरिरायजी को आर्थिक नुकसान के सिवा अन्य कोई नुकसान हो सके ऐसा तो है नहीं? तो आप वित्तार्थी बनकर ही भगवत्सेवा का धंधा कर रहे हैं कि अन्य कुछ? और वित्तार्थी बनकर भगवत्सेवा करते हों तो - देवलक हैं या नहीं? (यह बात मैं गाली के रूप में नहीं, खुलासे के रूप में पूछ रहा हूँ। हिम्मत हो तो पहले इसका खुलासा करें)।

जिन्हें पक्षग्रहण और शास्त्रार्थ के प्रभेद का भी ज्ञान न होने से मध्यस्थ निर्णायक को बीच में रखने का रुदन करना पड़ता हैं 'भावनगर' या 'भानवगर' में से सच्चा शब्द कौन सा उसकी मीमांसा करने बैठें तो लाचारी से कहना पड़ता है कि न तो इन्हें अपने माथे बिराजते श्रीमदनमोहनप्रभु में भाव, क्योंकि होता तो उनकी उत्तम प्रकार की तनुवित्तजा सेवा किसलिए नहीं करते? और न ही चि. हरिरायजी को स्वामार्गीय ग्रन्थों या सिद्धान्त का भान, क्योंकि होता तो चर्चासभा में ऐसा घोटाला नहीं किया होता।

अत: अब फिर एक बार वे मध्यस्थ निर्णायक रखकर पार्ला की सभा में हुए घोटालों को सुधारने के लिए बेचैन हो रहे हैं जिससे लोगों का ध्यान उस सभा में किये गये पक्षग्रहण से हटकर दूसरी सभा में जो शाखाचंक्रमण करना चाहते हैं उस पर खिंच जाये वरना तो शास्त्रार्थ की आवश्यकता ही अब क्या रही है? उन्होंने जो पक्ष कबूल किए हैं – उसमें आठ में से पांच पर हम सहमत ही हैं।

(1) पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों के अनुसार भगवत्सेवास्थल सेवाकर्ता के स्वामित्व वाले घर में होना चाहिए (अत: या तो वैष्णवों की मालिकी, खुद की हवेली पर कबूल करें अथवा जामनगर की वैष्णव जनता को अपने – अपने मालिकी के घर में ही सेवा करनी चाहिए। चि.हरिरायजी की हवेली में चलती व्यावसायिक सेवा में भाग लेने की कोई आवश्यकता नहीं। वीडियो केसट या ओडियो केसट जिनको – सुनने हों कि चि. हरिरायजी ने ऐसी कबूलात की हैं या नहीं, उन्हें दिखाने – सुनाने के लिए हम तैयार हैं)।

(2) सेव्य स्वरूप के बारे में गोस्वामी बालकों के माथे बिराजते प्राचीन निधिस्वरूप या वैष्णवों के माथे बिराजते अर्वाचीन सेव्यस्वरूपों

के पुरुषोत्तमत्व में कोई तारतम्य नहीं है .. इस संबंध में – मैं और चि. हरिराय जी एकमत ही हैं, तो शास्त्रार्थ की गरज कहाँ रह गई? अलबत्ता गोस्वामी बालकों के माथे बिराजते सेव्यस्वरूप उनके खुद के लिए और वैष्णवी जनता – दोनों के लिए होते हैं। जबकि वैष्णवों के माथे बिराजते सेव्यस्वरूप मात्र सेवाकर्ता और उसके परिवारजनों के लिए ही होते हैं। ऐसा ऊटपटांग पक्ष चि. हरिरायजी ने कबूल किया था। वे वचन सिद्धान्तवचनावली या इसके अतिरिक्त भी कहीं उल्लिखित किस वचन के आधार पर वे कह रहे हैं, वह बात कहीं भी न दिखाई देने के कारण मुझे मान्य नहीं। हकीकत में तो उसमें कारण देवाराम भाई ने जो कहा वही लगता है (यह कबूलात भी वीडियो – ओडियो में जिसे देखना – सुनना हो वे हमारे पास आकर देख – सुन सकते हैं)।

(3) सेवार्थ आजीविका के मुद्दे पर भगवत्सेवा को आजीविका का साधन बनाने वाला निषिद्धकोटि का जघन्य देवलक होता है, इसमें भी मैं और चि. हरिरायजी एकमत होने से शास्त्रार्थ की आवश्यकता मुझे लगती नहीं है (वीडियो – ओडियो केसट में यह कबूलात भी जिसको देखना – सुनना हो उसे दिखाने – सुनाने के लिए हम तैयार हैं)।

(4) सेव्यस्वरूप का प्रसाद कहाँ लिया जा सकता है और कहाँ नहीं लिया जा सकता है, इस संबंध में चि.हरिरायजी ने कबूल किया था कि सरकारी कानून को मान्य रखकर जहाँ जनता से भगवत्सेवार्थ भेंट – सामग्री स्वीकारने में आती हो, वह दान होने से देव द्रव्य बन जाता है; अत: उस प्रसाद को लेने पर देव द्रव्योपभोग के पाप से महापतित होना पड़ता है। वह मुझे भी मान्य है। हालांकि मेरे मतानुसार यहाँ सरकारी नियम-कायदों को बीच में लाने की कोई आवश्यकता नहीं है। स्पष्टतया अपने माथे बिराजते प्रभु के लिए जब भी पराया द्रव्य रोकड़ या सामग्री के

रूप में स्वीकारेंगे (जैसे जामनगर की हवेली में स्वीकारने में आ रहा है) तो वह पातित्यकारी ही है (हालांकि अब चि.हरिरायजी, इन रसीदों की बात जब मैंने प्रकट कर दी तो शाखाचंक्रमण करना चाहते हैं, परन्तु पार्ला की चर्चासभा में स्वीकार की थी या नहीं वह देखना - सुनना जिन्हें अभिलषित हो, वे हमारे पास आ सकते हैं)

(5) आचार्य वचनों का तात्पर्य मूलक्रम से चली आती व्याख्या से विरुद्ध जाकर न निकालना यह चि.हरिराय जी और मुझे हम दोनों को ही मान्य है। अत: शास्त्रार्थ की आवश्यकता ही नहीं है तो मध्यस्थ निर्णायक का प्रश्न ही कहाँ खड़ा होता है? (अलबत्ता बुद्धिमंदता के कारण चि.हरिरायजी इस मुद्दे पर श्रीमहाप्रभुजी के आश्रय के मुद्दे को विवादास्पद बनाना चाहते थे पर इस संबंध में कोई विवाद था ही नहीं। सभी टीकाकार या तो एक तनुवित्तजा सेवा की बात करते हैं या फिर एककर्तृका तनुजा - वित्तजा, ऐसे दो तरह की सेवा की बात करते हैं। कोई भी पराये वित्त से तनुजा सेवा की बात नहीं करते। यह बात श्रीनृसिंहलालजी, श्री विट्ठलेशराय जी आदि भाषा ग्रन्थों में भी टीका लिखने वाले गोस्वामी पूर्वज ही नहीं बल्कि खुद हरिरायजी के पितृचरण नि. ली. श्रीब्रजभूषणलालजी काकाजी को भी मान्य है, ऐसा संयुक्त-घोषणा - पत्र के लिए सहमति - पत्र जब मैंने चर्चासभा में पढ़ा तब चि. हरिरायजी बोल पड़े कि अपने पिताजी के ऐसे विधानों से उनको कोई मतलब नहीं है। अत: यह सार्वजनिक शाखाचंक्रमण हो जाने से मैं चर्चा में से निवृत्त हो गया। यदि उस वक्त कोई मध्यस्थ निर्णायक होता तो तुरन्त चि.हरिरायजी को अयोग्य - पराजित घोषित कर दिया जाता। परन्तु. संवाद स्थापक मंडल के उद्घोषक बेचारे मात्र इतना कहकर रह गये कि कल चि. हरिरायजी इसका खुलासा करेंगे और चि. हरिरायजी ने पलट

जाने की मंशा मेरे सामने प्रकट कर आने वाले कल की चर्चा पर ही विराम लगा दिया! फिर भी घर में कही गई बात की केसट हो या न हो यह तो आगे भविष्य में खुलासा होगा परन्तु चर्चासभा की केसट जिन्हें देखनी - सुननी हो वे हमारे पास देख - सुन सकते हैं)।

बाकी रही सेव्यस्वरूप और सेवाप्रयोजन के लिए चि.हरिराय जी द्वारा देवलक - जनोचित कबूल किये गये पक्ष की, कि उत्तमाधिकारी तनुवित्तजा (सेवा) भक्ति के अलावा किसी प्रयोजन से नहीं करता पर जघन्याधिकारी तो करते ही हैं। तो इसका खुलासा चि.हरिराय जी को देना पड़ेगा कि वे क्यों उत्तम उत्तराधिकारी बनना नहीं चाहते और किसलिए जघन्याधिकारी ही रहना चाहते हैं? यदि भूखे मर जाने या 'मुफलिसी' (सुनें चि.हरिरायजी की केसट) का भय लगता हो तो एकांततया बोलकर अपनी हालार और सोरठ की सृष्टि के वैष्णवों को एकबार पूछ क्यों नहीं लेते कि "यदि मैं उत्तम कोटि का अधिकारी बन सेवा करने जाऊंतो तुम लोग मुझे गुरु भेंट धरना बंद तो नहीं कर दोगे न"? यदि वैष्णव बंद करने की कहते हों तो - 'बुभुक्षित: किं न करोति पापम्' न्याय से - मैं चि. हरिरायजी को शायद निर्दोष मान लूं! अन्यथा तो उनका चित्र मेरे मानस-पटल पर आज स्वमार्ग - स्वाचार्य - स्वसिद्धान्त - स्वगौरवद्वेषी एक जघन्य क्षुद्रस्वार्थैकपरायण देवलक होने का अंकित हो रहा है। ऐसे में कौन शास्त्रार्थ करना चाहेगा? ऐसे क्षुद्र स्वार्थप्रेरित व्यक्ति के टमटम की कीमत कौन करेगा? कम से कम मैं तो कदापि नहीं!

सेवाप्रदर्शन के मुद्दे पर कबूल किये गये बेठिकाने के पक्ष के पीछे का इतिहास भी जान लेना जरुरी है। यदि सार्वजनिक मंदिर सिद्धान्त विपरीत न हो तो किसलिए नडियाद - नाथद्वारा के केसों में दोनों सेवास्थल पुष्टिमार्ग में निजी होने के दावे किये गये? सरकारी कानून या न्यायालय के

निर्णय उन्हें कोई मस्जिद में तो बदल नहीं रहे थे। दोनों जगहों पर गोस्वामियों को वंशागत ट्रस्टी तो मान्य किया ही है। और यही स्थिति आज भी चालू है ही। इसमें कोई सैद्धान्तिक आपत्ति यदि नहीं थी तो स्वार्थहानि का प्रश्न था क्या? सिद्धान्त की व्यवस्थित प्रस्तुति के अभाव के कारण तथा सिद्धान्त और व्यवहार में रहे विरोधाभास के कारण ये दोनों केस पुष्टिमार्ग को हारने पड़े थे। राजस्थान में तिलकायत महाराजश्री का प्रार्थना पत्र कि श्रीनाथजी - नवनीतप्रियाजी निजी सेव्यस्वरूप हैं, के अमान्य होने में नडियाद के केस का निर्णय भी कारणभूत बना ही है। नडियाद के कारण भी नाथद्वारा हारा है - यह कहने में कोई आपत्ति नहीं है। अत: चि.हरिरायजी अब नाथद्वारा की आड़ में अपनी भी सभी निजी हवेलियों, जो जाहिर मंदिर ट्रस्ट बनी हैं, का सैद्धान्तिक बचाव करना चाहते हैं। यह तो निजीस्वार्थ के संरक्षणार्थ स्वमार्गीय सिद्धान्तों को अस्वीकृत करने जैसी कुटिल युक्ति है। एक तरफ कह रहे हैं कि ''अत्र शास्त्रं प्रमाणं नो नैवांबेडकरस्मृति:'' दूसरी ओर उन्हीं सरकारी कानून - कायदे या न्यायालय के निर्णयों के कारण श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धान्तों को सूली पर चढ़ाना चाहते हैं! कानून की दृष्टि से सार्वजनिक देवालय घोषित होने में आपत्तिजनक कोई बात नहीं होती तो किस कारण नड़ियाद का केस सुप्रीम कोर्ट तक लड़ा गया? यदि सुप्रीम कोर्ट में स्वयं हार गये, इसलिए निजी हवेली के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता तो जो निर्णय आया तदनुसार क्यों पक्षग्रहण करते हैं? क्यों सिद्धान्त के अनुसार नहीं? अत: अन्दर - अन्दर चि.हरिरायजी, श्रीनाथजी को ढाल बनाकर अपने यहाँ चलते अपसिद्धान्तों को बचाने की, उनके संरक्षण की और उन्हीं को चालू रखकर स्वमार्गीय सिद्धान्तों को एकदम खतम करने की ही घृणित स्वार्थ भरी कुटिलता नहीं कर रहे हैं तो और क्या कर रहे हैं? अत: मैं एक खुली घोषणा सखेद इसके द्वारा करना चाहता हूँ कि चि.हरिराय जी में समाई हुई:-

(1) देवलकतादुर्वृत्तिजन्य भगवद्भावहीनता
(2) स्वमार्गीय - ग्रन्थानभ्यासजन्य सिद्धान्तबोधहीनता
(3) लघुताग्रन्थिपीड़ाजन्य मन:स्वाथ्यहीनता
(4) नैसर्गिक बुद्धिमंदता।

इन चार प्रकार की अयोग्यता के कारण वे चर्चा करने लायक हैं ही नहीं। अत: शास्त्रार्थ की खुली चुनौती की टम-टम करते इस नाकुछ शाखामृग की मुझे परवाह ही नहीं है। इसके बावजूद भी श्रीमहाप्रभुजी के दिव्य सिद्धान्त, ये मेरे भाई नहीं तो भतीजे चि.वल्लभबाबा कल सुनकर सुधर जायेंगे, ऐसे शुभाशय से कहता तो रहूँगा ही। क्योंकि श्रीमहाप्रभुजी ''भुवि भक्ति प्रचारैककृते स्वान्वयकृत्'' हैं, न कि ''भुविभवाड़ैककृते स्वान्वयकृत्''। फिर भी ऊपर वर्णित चतुर्विध अयोग्यता में से प्रथम तीन अयोग्यताओं पर काबू करके अपनी आचार - विचार रीति सुधार लें तो निश्चित ही तत्व निर्णयार्थ मध्यस्थ निर्णायक को बीच में रखकर चर्चा करने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

अथवा दूसरा उपाय शास्त्रार्थ की खाज को मिटाने का जो मैं पहले भी बता चुका हूँ, वही है कि सिद्धान्त वचनावली का भावानुवाद प्रकाशित कराएं और शाखाचंक्रमण-निरसन का लिखित जवाब भी प्रकाशित कराएं। इस तरह जो कुछ लिखित चर्चा हो उसको हम दोनों मध्यस्थ निर्णायक के सामने निर्णयार्थ प्रस्तुत कर देंगे। 'भाषालक्षणम्' जैसे ऊटपटाँग ग्रन्थ लिखने के बजाय कोई ऐसा ठोस काम क्यों नहीं करते? किस बात का भय सता रहा है? शाखाचंक्रमण नहीं कर सकते उसका या अपनी अयोग्यता प्रमाणित हो जाएगी उसका?

यह तो चि.हरिरायजी के निवेदन, प्रवचनों की भाव - भाषा को लक्ष्य में रखकर एक परिहासकल्पित प्रति निवेदन का दर्पण है। पारमार्थिकतया तो मैं उनके लिए हृदय से मात्र शुभकामना ही रखता हूँ कि

वे गुरुपदोचित अपनी चरणभेंट से मिले द्रव्य से उत्तम प्रकार की तनुवित्तजा सेवा द्वारा अपने माथे बिराजते श्रीमदनमोहनप्रभु के लिए, किसी भी प्रकार का व्यावसायिक सार्वजनिक भोंडापन किये बगैर, उनको खूब-खूब लाड़-लड़ाते ही रहें- जुग-जुग राज करो-जामनगर, जुग - जुग राज करो, यह सुख भजन प्रताप तेज ते छिन इत - उत न टरो!

निर्वैयक्तिक विवादास्पद मुद्दों की निष्पक्ष छानबीन करने के आग्रही सुज्ञ जनों को भी कुछ बताने की छूट मैं यहाँ लेना चाहता हूँ।

हाल ही में बाहर आयी प्रवचनों की केसट में चि.हरिरायजी और चि.नवनीतलालजी भक्तिवर्धिनी के 'गृहे स्थित्वा' का अर्थ 'गृहस्थाश्रम' लेने पर अनपेक्षित जोर दे रहे हैं। इसमें जानने योग्य यह है कि हर एक व्याखाकार - जैसे कि....

(1) श्रीबालकृष्णलालजी 'गृहे' का अर्थ 'अपने घर में' करते हैं।

(2) श्रीगोकुललाथजी : 'गृहे' का अर्थ 'भगवद् भजनानुकूल घर में' करके उस के सिवाय दूसरे सभी प्रकारों को अवांछनीय बताते हैं। श्रीमहाप्रभुजी - श्रीप्रभुचरण के प्राचीन निधिस्वरूपों के या उनके सिद्धान्तभाव से पुष्ट किए गए आधुनिक सेव्यस्वरूपों का आनुकूल्य श्रीमहाप्रभूक्त सेवा के स्वरूपघटक लक्षण से विपरीत रीति से सेवा करना संभाला ही नहीं जा सकता। चि.हरिरायजी, नवनीतलालजी ने भी त्रिविध सेवा का देवलकी पक्ष कबूल किया होने पर भी, मानसीसाधिका तो तनुवित्तजा को ही माना है। अत: या तो दोनों भ्राताओं को मानसी सेवोपयोगिनी चित्त की भगवत्प्रवणता पसंद ही नहीं यह स्वीकारें अथवा जघन्याधिकारी जैसे करते हैं वैसे करें परंतु कम से कम तनुवित्तजा सेवा स्वयं तुरन्त शुरू कर दें। जिससे अपने माथे बिराजते प्रभु को अनुकूलता हो। इनको 'पु. सि. सं. शि. पदवीं' प्रदानकर्ता श्रीतिलकायत महाराज, श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्री भी सांताक्रूज और सूरत की हवेलियों में

अपने-अपने ठाकुर जी के लिये वैष्णव जनता को सामग्रीभेंट आदि की रसीदें नहीं देते, जिस तरह चि.हरिरायजी के यहाँ जामनगर में दी जा रही है। इससे कानूनी चंगुल में तो कम से कम खुद न आएं!

(3) श्री रघुनाथ जी : 'गृहे' का अन्वय 'गृहे स्थित्वा कृष्णं भजेत्' दिखाते हैं।

(4) श्री कल्याण राय जी : 'गृहे' का अर्थ करते हुए कहते हैं कि घर में रहना भगवद्भजन के लिए अनुकूल होने से -- घर में रहकर भजन करना चाहिए। (गृहस्थितेः भजनानुकूलत्वात् -- गृहे स्थित्वा कृष्णं भजेत्।)

(5) श्री हरिराय जी : 'गृहे स्थितिः --- सेवार्थमधर्मेण कथंचन' कहकर तनुजा सेवा द्वारा अधर्म (देवलकता जैसी) वृत्ति का निषेध करते हैं। इतना ही नहीं - अपितु अधर्म (देवलकता जैसे) से बुद्धिनाश होने कें कारण दुष्कर्म (व्यावसायिक भक्ति के ढोंग जैसे) करनेवाले का चित्त कभी भी भगवत्प्रवण नहीं होता - ऐसा सूचन करते हैं।

अत: ''लोकवेदफलाद्यर्थं व्यावृत्तिरहितो जनः भजेत्सेवेत तन्वाद्यैः'' कहकर, 'गृहस्थिति +तनुवित्तजा+वृत्यर्थ अप्रदर्शन = पुष्टिमार्गीय भजन प्रकार'' इस समीकरण को भी मान्यता प्रदान करते हैं।

(6) श्री गोपेश्वर जी : गृहे का अर्थ घर करके 'तु' शब्द से घर में रहकर सेवा करने के सिवा अन्य किसी भी प्रकार को अमान्य करते हैं।

(7) श्री पुरुषोत्तम जी : यद्यपि 'गृहे' का अर्थ गृहस्थाश्रम करते हैं। पर उसके ऊपर गलत जोर इसलिए कि 'गृह' का त्रिविध दोषरहित लक्षण मानने पर अविवाहित या विधुर भगवत्सेवा का अनधिकारी सिद्ध होगा। किराये का घर भी जैसे घर होता है वैसे सार्वजनिक ट्रस्ट में भी निवास करने पर, उसको घर क्यों नहीं मानना ऐसी युक्ति चि. नवनीतलालजी देते हैं - तो इस प्रश्न का उत्तर चि.हरिरायजी को स्वगृहीत

पक्ष या सेवाकर्ता की मालिकी के घर में सेवा करने का सिद्धान्त है, उसको लक्ष्य में रखकर देना चाहिए। शाखा चंक्रमण से यहाँ काम नहीं चलेगा। 'हरिस्थाने' का अर्थ श्रीपुरुषोत्तमजी ने देवमंदिर किया है, पर वहाँ भिक्षा मिल जाने का भी प्रकार समझाया है। उस जामनगर की हवेली में जनता से जैसे भगवद्भोगार्थ द्रव्य वसूली होती है वैसे कितने अकिंचन वैष्णवों को भिक्षा के रूप में प्रसाद लिवाने की व्यवस्था है? इसके अतिरिक्त, इसको अनुकल्प कहकर श्री पुरुषोत्तम जी स्वयं के घर में सेवा नहीं निभे तब ऐसा करने को कहते हैं तो चि.हरिरायजी यह बात कितने वैष्णवों को वहाँ समझाते हैं? इसके अतिरिक्त ऐसे भगवन्मंदिरों में दु:संग (देवलकों जैसे दुष्ट जनों का संग) का भय लगता हो तो अपने घर में अष्टाक्षरमंत्र के अनुसंधान की भी बात कहते हैं। यह चि.हरिरायजी समझाते हैं कि नहीं?

(8) श्री वल्लभात्मज बाल कृष्ण जी : स्पष्ट आज्ञा करते हैं- अपने घर में बिराजते स्वरूप की सेवा को छोड़कर अन्य किसी भी जगह पर सेवार्थ जाने से भक्ति सिद्ध ही नहीं हो सकती।

(9) श्री गिरधर जी : 'गृहे' का अर्थ 'स्वगृहे' करते हैं। 'स्वधर्म' का अर्थ वर्णाश्रमधर्म जिसमें देवलकवृत्ति अतिनिंदनीय गिनने में आई है और 'पूजा' का अर्थ 'तनुवित्तजा' करते हैं न कि मात्र 'तनुजा अथवा वित्तजा'।

अंत में चि.हरिराय जी को कहता हूँ कि पु.सि.सं.शि.पदवी के प्रदाता तिलकायत महाराजश्री ने आर. के. भट्ट की पुस्तक में जिन सिद्धान्तों को 'अत्युत्तम' कहकर बखान किया हैं उस पुस्तक को वे स्वयं को प्राप्त पदवी की तरह शिरोधार्य करते हैं कि नहीं? यदि करते हैं तो उसमें सार्वजनिक मंदिर त्रिविध सेवा, सेवा प्रदर्शन की सख्त शब्दों में भर्त्सना की गई है, उसका क्या जवाब? और यदि नही तो पु.सि.सं.शि. पदवी को फाड़कर फेंक क्यों नहीं देते?

गोस्वामी श्याम मनोहर,
63, स्वास्तिक सोसायटी, 4 था रास्ता,
जुहू स्कीम, मुम्बई - 400056

(हम देख चुके हैं कि स्मगलर या जुआरी भी अपनी वाणी की कोई कीमत गिनते ही हैं परंतु वाक्पति के वंशज होने के कारण पूजित व्यक्ति चि.हरिरायजी के लिए श्रीमहाप्रभुजी या खुद के द्वारा उच्चारित वाणी की भी कोई कीमत नहीं हैं। हम ने यह भी देखा कि उनको 'देवलक' मैंने नहीं कहा - परंतु चि.हरिरायजी स्वयं स्वीकार किए गए (देखें वि.वि.पेज 115, 168) पक्ष के आधार पर देवलक सिद्ध होते हैं यह उनके अपने स्वीकृत पक्ष का ही अर्थघटन है जिसे मैं केवल दिखाना चाहता हूँ। इस कारण से ऊपर उद्धृत वक्तव्य में मेरे लिए 'श्वान' की गाली का प्रयोग करने वाले चि.हरिरायजी को सभ्य भाषा की भूख अब लगी है:)।

दि: 22-9-92 संदेश ----- राजकोट आवृत्ति।

श्री वल्लभः

वैष्णवो! नाटकबाजों से सावधान!!

हाल ही श्याममनोहरजी (पार्ला) ने एक पत्रिका प्रकाशित कर निकाली है। जिसमें 'पल्वलोत्तीर्णवराहयूथ' न्यायानुसार श्याममनोहरजी के मुख-विवर में से असंख्य गालियों का प्रपात मुझ पर बहा है; पर मुझे उसकी कोई परवाह नहीं है। मेरा तो कर्तव्य वैष्णवों को चेताना है। कारण कि इस पत्रिका में श्याममनोहरजी ने स्पष्ट विधान किया है कि पार्ला की चर्चा सभा में उन्होंने सरेआम अपने कान पकड़कर अपनी भूल कबूल करने का नाटक ही किया था (वास्तविकता नहीं थी) तो फिर बाकी सब भी नाटक तो नहीं? उसी तरह यह पूरी चर्चासभा ही नाटक ही न हो इसकी गारंटी क्या? कारण

कि इस सार्वजनिक नाटक के आयोजक 12 गोस्वामी बालक तो मात्र दिखाने के ही नट थे। परदे के पीछे (मि.) नटवर (लाल) तो - !

अत: वर्तमान में चल निकले ऐसे नाटक बाजों की बातों, सिद्धान्तों और कृत्यों से लोगों को सावचेत रहना चाहिए और असभ्य भाषा तथा गालियों की सभ्यजनों को भर्त्सना करनी चाहिए। कारण मुझे एक नहीं एक हजार गालियां श्याममनोहरजी दें, उससे कुछ भी बिगड़ना नहीं है। सिद्धान्तनिर्णय तो शास्त्रार्थ द्वारा ही हो सकता है और शास्त्रार्थ के लिए मैं तैयार हूँ। तो फिर निरर्थकता मेरी या शास्त्रार्थ न करने के झूठे बहाने शोधने वाले श्याम मनोहर जी की? लोग विचार करें।

मैं तो मेरे मान-अपमान की परवाह किये बगैर मानो गालियाँ खाने के लिए ही श्याम मनोहर जी के समक्ष उतरा हूँ। कारण कि श्याममनोहरजी की भाषा और व्यवहार में ओछापन इस हद तक है कि कोई भी गोस्वामी आचार्य 'पंकप्रक्षालन' न्याय से इसमें पड़ना ही नहीं चाहता ...! मुम्बई समाचार दि: 26/8/92 के मेरे इस विधान का जैसे यह प्रत्यक्ष प्रमाण हो, ऐसी यह श्याममनोहरजी की सार्वजनिक पत्रिका है।

विशेष: रावण ने सीताजी का हरण किया तो श्रीराम ने सीता-सीता की रट लगाई, उसी तरह श्रीश्याममनोहरजी ने मेरी केसट का हरण किया है, अत: मैं कैसेट-कैसेट रटता हूँ। कारण कि रावण की लंका में रहने के कारण सीता जैसी सती के ऊपर भी लोगों ने शंका की थी तो आठ/आठ महीने श्याममनोहरजी के कब्जे में रहने के बाद मेरी केसट बेदाग होगी, ऐसा मैं मान लूं तो भी लोग तो शंका करेंगे ही। अत: अब श्याम मनोहर जी की केसटों के प्रदर्शन की चुनौती तो खोखली ही साबित होगी। अत: अब तटस्थ मध्यस्थ निर्णायक के समक्ष शास्त्रार्थ ही कर लेना सिद्धान्तनिर्णय का सच्चा उपाय है।

पुनश्च मेरी इच्छा न होने के बावजूद 'विषं विषेण' न्याय से मेरे इस निवेदन में थोड़ी हल्की भाषा भी वापरनी पड़ी है उसके लिए मुझे अफसोस है।

गोस्वामी श्रीहरिरायजी, श्रीवल्लभाचार्य मार्ग, मोटी हवेली, जामनगर - 361001 ता: 22-9-92, मंगलवार।

(पी.पी. बगड़ाई के सौजन्य से)

पाठक स्वयं निर्णय लें कि श्रीहरिरायजी ने सार्वजनिक पत्रों में मात्र चर्चा ही नहीं अपितु तुच्छता शुरू कर दी कि मैं गुजराती में गाली न देकर संस्कृत भाषा में 'श्वान = कुत्ता या वराह = सूकर' गाली देता हूँ वह सभ्यता है और गुजराती में कुछ भी कहते ही वह असभ्यता बन जाती है। भूल कबूल करने का नाटक क्यों किया उसका हेतु मैंने पत्रिका में स्पष्ट कर दिया है कि हरिरायजी को लघुताग्रन्थि की जो मानसिक पीड़ा है वह कम हो। ताकि सिद्धान्त चर्चा करते समय खुद की विद्वान होने की छाप खड़ी करने के बजाय जो कुछ भी सैद्धान्तिक हकीकत हो, उसे निखालिस रूप में खुले तौर पर स्वीकारने में कुछ बिगड़ता नहीं है। बस यही समझाने लिए मैंने कान पकड़े थे। हकीकत में तो व्याकरण की जैसी क्षुद्र अशुद्धि कोई सैद्धान्तिक विवाद का मुद्दा थी ही नहीं। इसके अतिरिक्त सभा की नियमावली की किसी भी धारा के अनुसार चर्चाकार को अपने कान पकड़कर त्रुटि स्वीकार करनी पड़ेगी ऐसी अनिवार्यता भी नहीं थी। अत: लघुताग्रन्थि से पीड़ित हरिरायजी की मानसिक चिकित्सा का शुभाशय मेरे हृदय में नहीं होता तो मैं भी हरिरायजी की तरह यों कह कर छटक सकता था कि "यह व्याकरणशास्त्रीय मुद्दा है जिसका मुँहतोड़ सटीक खुलासा शास्त्रीय प्रमाण और दृष्टांत - दलील के साथ, किसी भी मध्यस्थ की उपस्थिति में, देने के लिये मैं सब तरह से समर्थ हूँ। फिलहाल तो

हरिराय जी को मात्र सैद्धान्तिक मुद्दों की ही चर्चा करने की मेरी खुली चुनौती स्वीकार करनी है – वरना उल्लांगूल शाखा चंक्रमण करने का मैं आरोप लगा दूँगा।'' क्योंकि स्वयं द्वारा कबूल किये गये पक्षों के आधार पर स्वयं ही देवलक सिद्ध हो गए हैं (देवलकों के साथ संभाषण और स्पर्श शास्त्र अशुचिकर ठहराता है)। अत: यदि मैं मौखिक शास्त्रचर्चा की स्वीकृति दिखाऊँ तो मेरे द्वारा शास्त्र की आज्ञाओं का उल्लंघन करना ही कहा जायेगा। ऐसे जाल में मुझे फंसाने के लिए लिखित शास्त्रार्थ की चुनौती हरिरायजी स्वीकारने को तैयार नहीं वरना शास्त्रार्थ लिखित हो या मौखिक हो इसमें फर्क क्या पड़ रहा है? क्या भाष्यों में और अवतारवादावली जैसे वाद ग्रन्थों में तटस्थ – मध्यस्थ निर्णायकों को बीच में रखे बिना शास्त्रार्थ नहीं हुए? मुझे ही यदि भय लगता हो तो लिखित शास्त्रार्थ भी मैं किसलिए करूँ? पोल किसकी खुल रही है? बाकी चर्चासभा को ही यदि नाटक मानना हो तो हरिरायजी को समझना पड़ेगा कि कितने ही गोस्वामी ऐसा भी मानते हैं कि ''चर्चा सभा तो हकीकत में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से ग्रन्थस्थ सिद्धान्तों को पू. पा. तिलकायतजी महाराजश्री और पू.पा.व्रजरत्नलालजी महाराजश्री से कबूल करा लेने का श्याममनोहरजी – हरिरायजी का आपसी कलह का एक साजिशपूर्ण नाटक था।'' अत: नाटक में भाग लेने के बाद हरिराय जी खूब ही दयनीय तरीके से फंस गये हैं!! ऐसे सुस्पष्ट हेतुओं के कारण केसट की सीता जी, जिसके जनक संवादस्थापक मंडल के नवयुवक गोस्वामी थे, उन्होंने खुद ही 'राम' कहो या 'श्याम', के कंठ में वरमाला पहनाई है। अत: रावण का हृदय विदीर्ण हो जाए और वंह केसटों की रट लगाए तो वह स्वाभाविक दौर्बल्य है। हकीकत में तो केसटों में से 'विस्तृत – विवरण' में अक्षर – अक्षर प्रकाशित हुए भी बहुत समय बीत चुका है। फिर भी उसमें कोई

काट – पीट दिखाने में यदि वे समर्थ न हों तो केसेट देखकर भी कैसे जान सकेंगे? और मैं जो कुछ कह रहा हूँ वह उसी 'विस्तृत विवरण' के आधार पर ही तो कह रहा हूँ। उसको यदि हरिरायजी ने स्वीकार न किया हो और मैं उनके वचन के रूप में प्रस्तुत कर रहा हूँ तो ''वैसी कबूलातें कैसेट में कहाँ करने में आई हैं दिखाओ'' ऐसी मांग क्यों नहीं करते? समझो कि केसटों में काट – छांट मैंने की या करायी हो परंतु हरिरायजी के अमुक – अमुक विधान करती कंठध्वनि और दृश्य तो मिटाये नहीं जा सकते ना ? अत: काट – छांट की भी हो तो भी बात में कोई फर्क नहीं पड़ता क्योंकि चर्चासभा के बाद उभरे इस विवाद में मेरे समग्र प्रकाशनों का आधार तो सभा में स्वयं हरिरायजी द्वारा ग्रहण किया गया पक्ष ही है। अत: केसटों के प्रदर्शन की मेरी चुनौती खोखली या हरिरायजी का खुद के खोखले पांडित्य का प्रदर्शन खोखला! फिर भी छोटे भाई हैं, अत: देवलकता के 'पल्वल' में से शीघ्र हरिरायजी बाहर आएं ऐसी शुभेच्छा तो मेरे हृदय में से मैं निकाल ही नहीं सकता।

मुम्बई समाचार 24-10-92

॥ श्री वल्लभोजयति ॥

सोरठ – हालार के पुष्टिमार्गीयों को शुभ दीपावली तथा नूतनवर्षाभिनन्दन!

चि. गो. हरिरायजी का दि 23-9-92 को 'संदेश' में प्रकाशित निवेदन पढ़ा। श्री महाप्रभुवल्लभाचार्यचरण ने सोने की कटोरी के प्रसंग में ''देवद्रव्य को खाने वाला महापतित बनता है, उसमें कहने लायक कुछ भी नहीं रह जाता'' ऐसी आज्ञा की है। अत: पुष्टिमार्गीय वैष्णवी सृष्टि के गुरुजन देवद्रव्य खाने वाले न होकर सन्मार्गगामी बने ऐसे सिद्धान्तदीपों के प्रकाश से अपने सब के हृदय आलोकित हों! यही शुभेच्छा!

ऊपर वर्णित निवेदन में चि. गो. हरिरायजी ने मेरे लिए 'पल्वलोत्तीर्णवराह' शब्द का प्रयोग किया है – गुजराती में उसका अनुवाद ''कीचड़ के गड्ढे में से बाहर निकला हुआ सूकर'' होता है। भूतकाल में जाने – अनजाने चलती पद्धति के अनुसार जो देवद्रव्य मेरे उदर में गया है, उसका विचार करने पर मुझे इस गाली का बुरा नहीं लगा!

हाँ यह एक हकीकत है जिसको चि.हरिरायजी स्वयं सुस्पष्ट कर रहें हैं कि मैं गड्ढे में से बाहर आया हुआ वराह हूँ। अत: देवद्रव्य के उपभोग के कीचड के गड्ढे में से श्रीमहाप्रभुजी की कृपा से हमने बाहर आने का शुभ संकल्प लिया और उनकी कृपा से उस पर अमल भी सुचारू रूप से चल रहा है। बावजूद इसके, देवलकता के पल्वल में वाराहोपम (सूकर जैसे) क्रीड़ासंलिप्त, मेरे छोटे भाई चि. गो. हरिरायजी उसी कीचड़ के गंदे गड्ढ़े में पड़े रहना चाहते हैं? अत: एक हितैषी और बड़े भाई के अधिकार के रूप में – मैं जो भी कुछ उनको कहता हूँ, वह अगर हलकी बात लगती हो तो, श्रीमहाप्रभुजी मुझे क्षमा करें – और चि. गो. हरिरायजी को स्वयं के गुरुदेव की तरह स्वीकारने वाले भी! ऐसी क्षमा याचना करते हुये भी मेरे छोटे भाई देवलकता के गंदे गड्ढे में पड़े रहना बंद करें वैसी शुभेच्छा तो मैं रखता ही रहूँगा।

पुनश्च: चि.हरिरायजी को पु.सि.सं.शि.पदवी प्रदान कर्ताओं के लिए सूरत वाले महाराजश्री ने हाल ही में एक ग्रन्थ प्रकाशित किया है। इस ग्रन्थ में जिन पक्षों के कारण चि.हरिरायजी को पदवी प्रदान की गई थी उन पक्षों का त्याग कर नया पक्ष स्थापित किया है; जिसका जवाब मैं तुरन्त ही प्रकाशित करने जा रहा हूँ, जिस पर सभी पुष्टिमार्गीय विशेष ध्यान देंगे। साथ ही साथ तटस्थ मध्यस्थ का झूठा बहाना किए बिना जो कुछ कहना हो तो इस तरह की हिम्मत से और शुद्ध तरीके से लिख कर प्रकट करने

का धर्माचार्योचित साहस तुम्हारे गुरुदेव में भी विकसित हो ऐसी शुभेच्छा रखने वाला --

गोस्वामी श्याम मनोहर, 63, स्वास्तिक सोसायटी,
4 था रास्ता, जुही स्कीम मुम्बई – 400056,
संदेश (राजकोट) दि: 17-11-92

॥श्रीहरि॥

पू. गो. श्रीश्याममनोहरजी महाराज द्वारा सोरठ – हालार के वैष्णवों को प्रेषित नूतन वर्षाभिनन्दन दि 24-10-92 के गुजरात – समाचार में पढ़ने को मिला। इस सन्दर्भ में हम सब निम्न हस्ताक्षरकर्ता प. पू. श्याममनोहरजी को इतना ही कहना चाहते हैं कि वर्षाभिनन्दन के बहाने आपश्री ने हमारे गुरुदेव के लिए जो चांडालतुल्य देवलक वराहोपम (सूकर) आदि अति हलके और वाहियात विशेषणों का प्रयोग किया है, इससे हमें अर्थात् समग्र सोरठ – हालार की जनता को भारी दु:ख पहुँचा है और गहरा आघात लगा है। कारण कि वर्तमान में हमारे गुरुदेव पू. पा. गो. श्रीविट्ठलनाथजी (जूनागढ़) तथा पू. पा. श्रीहरिरायजी (जामनगर) दोनों ही परम्परागत रीति से भगवत्सेवा तथा पुष्टिधर्म का प्रचार अपना कर्तव्य मानकर जिस प्रकार कर रहे हैं, उस प्रकार को हम सिद्धान्त विरुद्ध तथा देवलक मानते ही नहीं हैं। नहीं मानने का कारण एक ही है कि हमारे समस्त सोरठ हालार की वैष्णव जनता में परम वंदनीय, पूजनीय और महान गुरुदेव पू. पा. नि. ली. श्रीब्रजभूषणलालजी महाराज (जामनगर) ने वर्षों तक कृपा कर भगवत्सेवादर्शन विविध मनोरथों द्वारा हमें अलौकिक सुख का दान किया है। उपरांत, वैष्णवों के यहाँ मालापहेरामणी, मनोरथ आदि प्रसंग में कीर्तन – प्रवचन आदि से हृदय में पुष्टिभावों का दृढ़ स्थापन किया है। यदि भगवत्सेवा, मनोरथ, दर्शन,

महाप्रसाद आदि सिद्धान्त विरुद्ध चांडालतुल्य देवलक हों तो ऐसी महान विभूतियाँ, जिन्होंने वर्षों तक और आज भी समस्त सोरठ - हालार के वैष्णवजनों के हृदयसिंहासन पर राज्य किया है वे ऐसा आचरण कदापि नहीं करेंगे और गो. विट्ठलनाथजी (जूनागढ़) तथा गो. हरिरायजी (जामनगर) भी अपने पितृचरण के चरण चिह्न पर ही चल कर भगवत्सेवा तथा सिद्धान्तप्रचार कर रहे हैं। यह सर्वविदित है। अतः चांडाल - देवलक जैसे अति हल्के विशेषणों द्वारा हमारे हृदयसम्राट सम पू. पा. नि. ली. गो. पुरुषोत्तमलालजी महाराज (जूनागढ़) तथा पू. पा. गो. ब्रजभूषणलाल जी महाराज जामनगर) जैसे गुरुचरणों पर कटाक्ष कर समस्त सोरठ - हालार की वैष्णव जनता को आपश्री (श्याममनोहरजी) ने इस शुभ नये वर्ष में जो अशुभ अभिनन्दन भेजा है उसको हम हार्दिक ग्लानिसहित आपश्री को पुनः पार्ला भेजते हैं। कृपा करके आज के बाद ऐसे गुरुद्रोही अशुभ अभिनन्दन हमें भेजकर हमारे शुभ नये वर्ष को कदापि अशुभ नहीं बनाएंगे।

विशेष : - ऐसा कोई भी आक्षेप कि जिसका कटाक्ष हमारे पू.पा. नि.ली. महान गुरुचरणों तक पहुँचे उसको हालार - सोरठ की धर्मनिष्ठ और संस्कारी वैष्णव जनता कदापि सहन नहीं करेगी। इस पर श्याममनोहरजी और उनके अनुयायी खास ध्यान दें।

जामनगर	जूनागढ
1. जयंति लाल दामजी सोनी	1. अमृत लाल सुंदर जी
2. कान्तीलाल हरिदास	2. अनसुखलाल जीवराज
3. मगन भाई लोटरी वाला	3. रतिभाई
4. प्रताप भाई पोपट लाल	4. मनजी थोभण
5. करनदास लाजी	5. श्यामजी भाई

॥श्रीहरि:॥

'वैष्णवो धन्यवाद'

श्रीनाथजी विरोधी देवलकवादियों के जाने -माने अग्रणी नेता श्याममनोहरजी (पार्ला) को शिविर अल्प उपस्थिति के भय से मोटी हवेली तक मर्यादित रखना पड़ा। और उसके प्रति लोगों की उपेक्षा वृत्ति ने प्रमाणित कर दिया कि श्रीनाथजी विरोधी देवलकवादियों की टोली की सोरठ की संस्कारी वैष्णव जनता ने पूर्णत: अनदेखी की है। सिद्धान्त के नाम पर प्राचीन मंदिरों का विरोध कर भारतीय संस्कृति को नष्ट - भ्रष्ट करने वालों की विदाई का समय आ चुका है। वैसे भी झूठा कहाँ तक टिकेगा? कारण कि श्रीनाथजी ही अपने सर्वस्व हैं।

प्रश्नार्थ :- गो.श्याममनोहरजी (पार्ला) स्वयं वल्लभवंशज होते हुए भी श्रीनाथजी की प्रतिष्ठा को अपुष्टिमार्गीय कहने का महासाहसिक काम कैसे कर सकते हैं? क्या स्वयं श्रीनाथजी ने श्याममनोहरजी को आज्ञा दी होगी कि पुष्टिमार्ग के पांच सौ (500) वर्ष पूरे हो चुके हैं, अत: अब तू मेरा विरोध कर।

स्वयं की असलियत प्रकाशित कर और मेरा प्रकाश (दर्शन) बंद कर।

त्वं च रुद्र (श्याम!) महाबाहो मोहशास्त्राणी कारय ---!

प्रकाशं कुरू चात्मानम् अप्रकाशं च मां कुरु।

विशेष टिप्पणी :- महासाहसिक, महाबाहु श्याममनोहरजी (पार्ला) इस भूतल पर लगभग पचास वर्ष पूर्व प्रकट हो चुके हैं। पर इन्होंने श्रीनाथजी का विरोध श्रीनाथजी के प्राकट्य के पांचसौ वें वर्ष में प्रारम्भ किया है यह संयोग है या गिनती करके किया गया है? (देखें पुस्तक पुष्टिसिद्धान्त चर्चा सभा संक्षिप्त-विवरण मार्च, 92 पृष्ठ 35-36)

गो.श्रीहरिरायजी महाराजश्री मोटी हवेली (जामनगर)

संदेश (राजकोट) दि: 2-5-93

तटस्थ मध्यस्थ निर्णायक के समक्ष ही बताऊंगा वरना तो श्याममनोहरजी फिर मुझे "वने पुष्पे समाकीर्णे" कह कर गाली देंगे। फिर भी जानना हो तो ..पृष्ठ संख्या 18 से 21 विशोधनिका नं.2 में ढूंढ लें।

विशेष ध्यानार्थ :- श्रीनाथजी विरोधी देवलकवादियों के जाने पहचाने नेता श्रीश्याममनोहरजी (पार्ला) ने अपनी पुस्तक विशोधनिकानं. - 2 में पुन: सात - आठ वर्ष पहले जूनागढ़केस (सुप्रीम कोर्ट) में किए गये सहयोग के विषय में हमारे नि.ली.पूज्य पिताश्री के द्वारा उनको लिखे गये पत्रों का स्वयं के मंदिरविरोधी समर्थनार्थ खुले आम अनुचित उपयोग कर अपनी पुस्तक का जो षड्यंत्रकारी और पाखंडी समर्पण हमारे नि.ली. पूज्य पिताश्री को किया है, इस कुचेष्टा की हम सख्त शब्दों में निंदा करते हैं। जो गोस्वामी आचार्य वर्तमान में विराजमान न हों उनके पत्रों का गलत तरीके से दुरुपयोग करने की हीन हरकत कोई भी सभ्य मानव तो करेगा ही नहीं। इस पर समग्र जनता विशेष ध्यान दें।

गो. श्रीहरिरायजी महाराजश्री
मोटी हवेली --- जामनगर।

(इसका मैंने जो जवाब दिया वह इस प्रकार है :)

संदेश (राजकोट) दि: 19-7-93

॥श्रीहरि:॥

भान बिना ट्रैक बदलते रहने वालों की रपटती गाड़ी!

जामनगर के काजीचकला के अंतर्गत मोटी हवेली के महाराज चि. हरिरायजी का निवेदन संदेश (2-5-93, राजकोट संस्करण) के अंक में पढ़ने को मिला।

स्वयं का पेट भरने के लिए भगवान के नाम पर किया जाता भिखमंगापन और व्यावसायिक दिखावे द्वारा लड्डू - पूरी - मठड़ी बेचने

का धंधा देवलकता की अत्यंत पापपूर्ण वृत्ति है। पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा (पार्ला - मुम्बई) में चि. हरिराय जी ने ऐसा स्वीकार भी किया था (जिसकी विडियो कैसेट का काउंट नंबर इस प्रकार है - सेवा आजीविका 1333-2525 और स्वसेव्य प्रसाद 3890-4126)। खुद की हवेली में चल रहे भगवत्सेवा के प्रकार से स्वयं द्वारा कबूल किए गए श्रीमहाप्रभुजी के सिद्धान्त, कितने अलग एवं विपरीत हैं, इसका जरा भी होश शायद चर्चा की असह्य पिपासा में चि.हरिरायजी को नहीं रहा। अत: अब तटस्थ - मध्यस्थ का बहाना निकालकर कोई नया प्रपंची शाखाचंक्रमण करने के लिए बहाना ढूंढ रहे हैं। हकीकत में जो सिद्धान्त मुझे कबूल हैं उनमें से प्रमुख बातें तो पक्षग्रहण करते समय चि.हरिराय जी ने स्वयं ही स्वीकारी थी। तो अब शास्त्रार्थ तो मात्र अपने पल्लवग्राही (अधूरे) पांडित्य की व्यर्थता को छुपाने की किसी अंतहीन छटपटाहट का एक पाखंडी छल-छद्म ही है, अन्य कुछ नहीं! सुज्ञजन स्वयं ही इसे विचार कर समझ सकते हैं। देवलकों की गाड़ी को (सि.च.सभा में) व्यापारिक लाभ तक सकुशल पहुंचाने का बीड़ा झपटकर चि.हरिरायजी ने स्टेशन के पास पटरी से नीचे धकेल दिया था :- "लेने गई पूत - खो आई खसम"। सैद्धान्तिक भान के बिना सिद्धान्त चर्चा चलाने की भूख में सिद्धान्त के स्टेशन के पास ही हास्यास्पद घटना बनाकर, वहाँ पहले से पहुंची हुई गाड़ी को अब तीन घण्टे में स्टेशन पहुंचाने की डींग हाँक रहे हैं। फिर भी चि. हरिरायजी लड्डू - मठड़ी बेचने के धन्धे की जगह 'कीमा' बनाने के बदतर निकृष्ट धन्धे में न उतर जाएँ इसलिए चर्चा सभा की पक्षग्रहण की केसट अब बाहर प्रकाशित होने वाली है। जिस किसी को आवश्यकता हो वह अपनी कैसेट देकर 'कापी' ले जा सकता है और प्रत्यक्ष देख सकता है; देवलकिया फजीहत करने वालों की विकृत-विषम स्थिति का प्रत्यक्ष प्रमाण! कोई बड़ी बात नहीं है कि चि.हरिरायजी

को विवश होकर यह सार्वजनिक सूचना प्रकाशित करवानी पड़े कि 'इस केसट को कोई भी नहीं ले और देखे भी नहीं क्योंकि इसमें काट - छांट की संभावना लगती है''।

मेरी तरफ से इसका इतना ही खुलासा है कि केसट लेकर स्वयं देखने वालों को अपने आप पता चल जायेगा कि किसी भी प्रकार का संशोधन-संवर्धन किये बगैर इन केसटों में महाकवि ने बेतुकी कल्पनाओं की बे - लगाम गाड़ी हाँक कर, इनको खुद को प्रतिनिधि बनाने वालों को भी करुण दुर्घटना का शिकार किस तरह बना दिया था! और इसीलिए सूरत के महाराजश्री को ' सि.चर्चा सभा' में चि.हरिरायजी द्वारा की गई स्वीकृतियों के चंगुल में से निकालने की धांधल में 'विमर्श' ग्रन्थ प्रकाशित करना पड़ा।

मेरे छोटे भाई चि. हरिरायजी और उनके व्यापारिक बन्धु या अपसिद्धान्ती धर्म के नाम पर चलाये जाते ऐसे भद्दे ढोंग से शीघ्र छुटकारा पाएं और धनलालसा पर धर्माचार्योचित संयम रखकर गौरवपूर्ण आचार्य जीवन जी सकें! ऐसी हार्दिक शुभेच्छा रखने वाला -

गोस्वामी श्याम मनोहर (पार्ला किशनगढ़)

(सौजन्य एम. के ठक्कर)।

(इसका कैसा बेतुका जवाब; और आड़े-तिरछे रूप से केसटों में काट - छांट के गर्भित संकेत भी, हरिराय जी को देने ही पड़े! पुन: याद दिलाना आवश्यक है कि मैं जो कुछ भी कह रहा हूँ, उसको चि.हरिरायजी ने चर्चासभा में स्वीकारा या नहीं, उसका प्रमाण इसलिये देना पड़ा कि स्वयं के धर्म गुरु के पद की गरिमा को भूलकर हरिरायजी स्मगलर या जुआरी भी जैसी झूठ नहीं बोल सकते, वैसी झूठ फैला रहे हैं। अत: किस निम्न स्तर की उनकी नैतिक प्रवृत्ति हो गयी है, वह सब लोग जान लें। हेतु

इसमें भी मेरा अंतिम यही है कि कैसे भी करके पुष्टिमार्गीय समझ सकें कि व्यावसायिक भगती के भोंडेपन ने अपने दिव्य मार्ग के अनुयायी और उपदेशकों की स्वधर्मनिष्ठा, नीतिनिष्ठा और बुद्धिमत्ता को किस निम्न स्तरीय धरातल पर पटक कर कैसी दुर्गति कर दी है! अत: अब जब भी आवश्यकता होगी तब मात्र पक्षग्रहण की ही नहीं अपितु सम्पूर्ण केसटों को प्रकाशित करने में क्या आपत्ति हो सकती है? ऐसी कौनसी बात कार्यवाही की है जो अक्षर - अक्षर सं.संस्थापक मंडल ने छपा नहीं दी हो! हमें तो मात्र यही देखना और दिखाना बाकी रहा है कि देवलकवृत्ति के कारण होते अध:पतन के गड्ढे कितने गहरे और नीचे हैं! इसके बावजूद इसका जवाब तो चि.हरिरायजी को देना ही चाहिए!)

संदेश (राजकोट) दि: 2-8-93

॥श्रीहरि:॥

''सद्-बुद्धि या पाखंड ....''

श्रीनाथजीविरोधी देवलकतावादियों के जाने पहचाने अग्रणी नेता श्याममनोहरजी, पार्ला अब चर्चासभा के डेढ़ वर्ष पश्चात् मानो अचानक अक्ल आयी हो वैसे, वह भी डरते-डरते बिचारे! मात्र पक्षग्रहण की एक कैसेट बाहर प्रकाशित करने को तैयार हुए हैं (देखें संदेश दि: 19-7-93)। इसको गुजराती में 'रांड्या पछीनो डहापण' (विधवा होने के बाद सयानापन दिखाना) कहते हैं। फिर भी वैष्णवों! यह कैसेट जरूर लें, भले सेन्सर हुई है! बावजूद इसके लेना ..... चूकना नहीं। कुछ तो हाथ में आया है ऐसा समझकर भी लेना ...... ! अरे भागते भूत की चोटी समझ कर ही लेना, पर लेना जरूर। मैं कोई श्याममनोहरजी की तरह डरपोक नहीं हूँ कि केसट लेने की ना कहूँ? एक बार ले तो लो, फिर इसमें जो कुछ काट - छांट होगी, वह कमी हम पूरा कर लेंगे - बस।

विशेष :- अब लोग विचार करें कि यदि श्याममनोहरजी सच्चे हैं तो डेढ़ वर्ष पश्चात भी एक ही केसट क्यों? सारी केसटें क्यों नहीं? मतलब साफ है कि अभी भी कुछ पक रहा है। इससे स्पष्ट है कि यदि सभी केसटें बाहर निकालेंगे तो उनको अपनी पोल खुल जाने का भय है! ''लेने गई पूत'' अर्थात कि बड़े परिश्रम से चर्चासभा (आयोजित) की अपने झंडे फहराने के लिए लेकिन ''खो आई खसम'' अर्थात उल्टे झंडे सिमट गये। ..... बेचारे भयभीत श्याममनोहरजी .....

गोस्वामी श्री हरिराय जी महाराजश्री

श्री वल्लभाचार्य मार्ग, मोटी हवेली, जामनगर।

जोईशर पब्लिसिटी

इस प्रकार समझा जा सकता है कि ऐसी वाहियात चर्चा तो तटस्थ मध्यस्थ के बिना खुद ही निरंतर कर करके - ''तटस्थ मध्यस्थ के बिना चर्चा न करवाना'' स्वयं हरिरायजी के द्वारा प्रस्तुत किए गए इस नियम को वे स्वयं ही तोड़ रहे हैं! इसके बावजूद स्वमार्गीय वैष्णवों को संदेह रहित सिद्धान्त जानने को मिले ऐसा शास्त्रार्थ नहीं करना!! इस प्रकाशन के बाद धुतारपुर के एक वैष्णव का मुम्बई आगमन होने पर उन्होंने मुझे बताया कि स्वयं हरिराय जी ने अपने मुँह से मुझे कहा कि श्याम मनोहर जी कैसट देने की झूठी विज्ञप्तियां करते हैं, पर हकीकत में पक्ष ग्रहण की कैसेट नहीं देते हैं अत: उस भाई के हाथों मैंने पक्षग्रहण की कैसेट हरिरायजी के लिए भी भेजी। अब भी यदि उनको नहीं मिली हो तो पक्षग्रहण कैसेट की दूसरी कापी उनको या जिस किसी को चाहिए, मैं भेजने के लिए तैयार हूँ। इसके बावजूद भी अभी तक हरिरायजी यह खुलासा क्यों नहीं करते कि स्वयं उन्होंने पक्षग्रहण में जो - जो बातें कबूल की थीं उनमें से किस बात को मैं तोड़-मरोड़ कर या काट-छांट करके

बता रहा हूँ ? अत: सम्प्रदाय के धर्म गुरु और अनुयायियों का सच्चा श्रेय जिस सत्य को स्वीकारने में रहा हुआ है उसको नि:स्वार्थ - निर्भीकता से प्रकट करने के लिए स्वयं ही समर्थ बनें उसके लिए, शाखामृग तो नहीं परंतु, सच्चे मृगेन्द्र जैसा कलेजा विकसित करने के लिए स्वयं हरिराय जी व उनके जैसे अन्य महाप्रभु वल्लभाचार्यजी के वंशज कभी सक्षम बनें ऐसी शुभेच्छा के सिवाय अन्य कौनसी मंगलकामना पुष्टिमार्गीयों को अपने हृदय में रखनी चाहिए।)

स्वीयाचार्योपदेशानां सर्वे सन्त्वनुगामिन:।
मा भूद् देवलक: कोऽपि स्वाचार्यचरणान्वय:॥
अज्ञानाद्वा प्रमादाद्वा धनलोभादपि क्वचित्।
आजीविकायै किंमुत स्वप्रतिष्ठाप्रसिद्धये॥
अथापि यदि संदेहो हृदये कस्यचिद् भवेद्।
भयं नि:सार्य हृदयात् स मां पृच्छतु सर्वथा॥
भीतो वा संदिहानो वा स्वाचार्यवचने जन:।
निर्दुष्टस्यास्य मार्गस्थ स कुतो दुषको न वै॥

परिशिष्ट (2)

घास चारा समझकर सिद्धान्त को चरने लगे।
ग्रन्थ खुद समझे नहीं दूसरों को सिखाने लगे॥

अपने मार्ग में निष्ठा या अपने पुष्टिमार्गीय ग्रन्थोक्त सिद्धांतों की लेशमात्र भी जानकारी न रखने वाले कितने ही 'ले भागू दंभी लेखकों' ने अभी एक 'निवेदन प्रसार मण्डल' की स्थापना की है। सबसे पहले उसका एक मात्र हेतु इस मण्डल के उपाध्यक्ष और प्रचार व्यवस्थापक के शब्दों में देखिये :- ''वैष्णवों की भौतिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए श्रीठाकुरजी को माध्यम व साधन बनाकर धन कमाना गुरु का कर्तव्य नहीं

है, लेकिन अपनी वल्लभीय सृष्टि की सत्ता को प्रभु में विनियोग कराकर और जीव के अशेष दोषों को व भगवत्संबंध में आने वाले प्रतिबन्धों को दूर करके भगवत्संबंध फलित कराना तथा नित्यलीला में प्रवेश कराना ही गुरु का मुख्य ध्येय होना चाहिए -- गुरु का भी ब्रह्म संबंधकरण हुआ है। उसका भी स्व और सर्वस्व प्रभु का है एवं अहं और मम का समर्पण किया हुआ है। इस स्थिति को यदि गुरु स्वीकार नहीं करता तथा अपनी सत्ता अलग मानता है तो वह गुरु नहीं है और उसे गुरु रूप से ब्रह्मसंबंध कराने का अधिकार नहीं है। कारण कि जब तक स्वयं का अहं - मम समर्पित नहीं हुआ तब तक दूसरों का कैसे समर्पित करा सकेगा।' ('पुष्टिमार्गीय सेवा रीति :- कुछ उभरती विसंगतियों पर विचार' पेज नं.165)

हकीकत में अपने मार्ग का यह कैसा दुर्भाग्य है कि ऐसे अनपढ़ लोग ही मोटे तौर पर दूसरे किसी भी धंधे - नौकरी की योग्यता नहीं होने के कारण स्वयं को गुरु मान लेने की निम्न स्तरीय अहंकारग्रंथि से पीड़ित होते हैं!

स्वयं द्वारा स्वीकारी गई धारणानुसार --- ब्रह्म संबंध के बाद जैसे गुरु का अहं मम शेष न रहना चाहिये कि जिस अहं-मम के कारण गुरु अपनी अलग सत्ता मान सके; उसी तरह वल्लभीय सृष्टि का भी यदि ब्रह्मसंबंध नहीं हुआ हो तो उसकी सत्ता का प्रभु में विनियोग नहीं हो सकता और हुआ हो तो ऐसी वल्लभीय सृष्टि की भी अलग सत्ता बचनी ही नहीं चाहिए कि जिसका प्रभु में विनियोग कराने का ठेका गुरुओं को लेने की आवश्यकता पड़े। क्यों नहीं वल्लभीय सृष्टि के प्रत्येक जीव को खुद अपने घर में बिराजते ठाकुरजी की सेवा में विनियोग कर लेने को कहा जाता है? यदि कहो कि प्रत्येक के घर में भगवत्सेवा का निर्वाह संभव नहीं होने के कारण ऐसा कहना पड़ता है, तो स्वतंत्र नौकरी धंधा करने के

कारण खुद की भगवत्सेवा को खुद का पेट पालने का साधन बना लेने वाले पू.पा. गुरुओं जैसी जिनकी लाचारी न हो, ऐसे किसी दूसरे वैष्णव के माथे बिराजते ठाकुरजी की सेवा में खुद की सत्ता का विनियोग कर लेने को क्यों नहीं कहा जाता? वैष्णव गुरु नहीं बन सकते यदि ऐसा बहाना बनाने में आए तो, यह तो गोस्वामी बालकों में गुरुपने का अहंकार कायम न हो तब तक शक्य ही नहीं है, अत: बात घूम फिर कर वहां की वहां ही आ जाती है:- इस मार्ग में धर्म गुरुओं को देवलकता की जघन्य आजीविका ही मात्र माफिक आ गयी है, अत: उस जघन्य खड्ड में से वे बाहर निकलना ही नहीं चाहते। मुझ स्वयं को एक पू.पा. महाजश्री ने रूबरू कहा --''अब तो हम सभी देवलकता के गड्ढे में पड़े हुए ही हैं। इसमें बहुत आनन्द आ रहा है तो बाहर निकलकर क्या करना!''

निवेदन प्रसार मण्डल के उपाध्यक्ष अपनी अकल का दिवालियापन यह कहकर और दिखाते हैं कि ''गुरु की वस्तु लेना - यह अपराध है। गुरु आज्ञा से विवेक द्वारा विचार कर लेना -- यह जीव का कर्तव्य है। (वही पेज नं.162)

प्रभु को स्व-सर्वस्व का समर्पण करने के बाद गुरु की मालिकी बची कैसे रह गई कि जिसको लेने पर अपराध लग सकता?

अत: सिद्धान्त वचन प्रकट हो जाने के कारण व्यावसायिक भगती के भोंडेपन की जो पोल खुलने लग गयी है उसको किसी भी तरह से छुपाने के लिए घर बैठे सत्संग कराने वालों ने प्रश्नोत्तरी की योजना बनाई है। उसमें भी वापस देखने लायक मजेदार बात यह है कि किसी भोले वैष्णव परिवार के आर्थिक सहयोग से छपायी गई पुस्तिका के निशुल्क वितरण में कोई अड़चन आ भी सकती है - परंतु पुस्तिका को छपे अभी दो तीन वर्ष भी नहीं हुए और कीमत पच्चीस रुपये से बढ़ाकर पैंतीस का

रबड़ स्टाम्प लगा दिया गया है! अतः हर बात को पेट भरने का साधन कैसे बनाना यही सत्संग करवाने में एकमात्र हेतु लग रहा है!!

इस पुस्तिका में पूछे गये छह प्रश्नों के सिद्धान्ताभिमत समाधान क्या हो सकते हैं, वो हम देखेंगे :-- --

प्रश्न (1) ब्रह्म संबंध लेते समय अपना सर्वस्व श्रीठाकुरजी श्रीकृष्ण को समर्पित कर देते हैं। तो ब्रह्म संबंध लेने के बाद अपने पास अपने स्वामित्व का कुछ भी बचा रह सकता है क्या? यदि नहीं रहता है, अर्थात् सब चल-अचल सम्पत्ति की मिल्कियत श्रीठाकुरजी की हुई, तो ठाकुर जी की सम्पत्ति को उनकी सेवा के निमित्त जब हम उनको समर्पित करते हैं, तब वह 'देवद्रव्य' किस तरह कहलायेगी?

उत्तर (1) ब्रह्मसंबंध की दीक्षा लेने पर आत्मा - आत्मीय, सकल का भगवान को समर्पण होता है, भगवान को अपने अनन्य स्वामी की तरह स्वीकार कर स्वयं को तथा साथ ही अपने से संबंध रखने वाली सभी वस्तुओं को साक्षात या परम्परया भगवत्सेवार्थ उपयोग में लाने का अपना व्रतात्मक संकल्प लेने में आता है। इस संकल्प में जो ब्रह्मसंबंध लेना वाला है उसका दारा = पत्नी, आगार = घर, पुत्र = संतति, आप्त = सगे स्नेही और वित्त = धन आदि के ऊपर यदि स्वामित्व रह ही नहीं जाता तो, अर्थात् समर्पित वस्तु मात्र के ऊपर केवल भगवान का ही स्वामित्व उत्पन्न होता हो तो, गोस्वामी बालकों की घर - संपत्ति की तरह ही वैष्णवों की घर - सम्पत्ति के ऊपर भी उन हवेलियों में बिराजते ठाकुरजी का स्वामित्व स्वीकार कर, निजी हवेली या सार्वजनिक हवेली ट्रस्ट की प्रोपर्टी की लिस्ट में उसको भी शामिल कर देना चाहिए। कोई भी पुष्टिमार्गीय वैष्णव अपनी घर - सम्पत्ति को बेच नहीं सकता तथा अपने

उत्तराधिकारियों को भी अपनी इच्छानुसार दे नहीं सकता। उसी तरह यदि कोई पुष्टिमार्गीय मुफलिसी के कारण रहने - खाने की व्यवस्था न कर पा रहा हो तो, उसके लिए हवेली में लड्डू - पूरी के मजे लेते पू. पा. गो. बालकों और मुखिया - भीतरिया आदि के जैसी ही लॉजिंग - बोर्डिंग की पूर्ण व्यवस्था की जानी ही चाहिए। क्योंकि महाराज - मुखिया आदि की तरह कितने ही पुष्टिमार्गीय गरीबों ने भी आत्मसमर्पण तो किया ही होता है फिर उनके भी भरण - पोषण का अधिकार किस कारण स्वीकारने में नहीं आता? केवल चल-अचल संपत्ति के ऊपर ही भगवान की मालिकी मानकर, साथ ही साथ उसे देवद्रव्य माने बिना (!) उससे धरी जाती सामग्री का प्रसाद लेने को अधिकार मान लेना आधुनिक निष्ठाहीनों की लाक्षणिक विशिष्टता है। केवल प्रसाद लेने को आपत्तिजनक नहीं माना जाता! पर कोई बेचारा गरीब रहने - खाने या अपनी बच्ची के विवाह हेतु खर्चा मांगने का हक - दावा करे और उसे स्वीकारने में आए तो इन प्रस्तुतियों की सत्यता की परीक्षा हो सकती है!

किस कारण सिर्फ चल-अचल मात्र पर ही प्रभु के स्वामित्व के गीत गाये जाते हैं? क्यों नहीं पत्नी - पुत्र पर भी अपना हक छोड़कर प्रभु के प्रसाद के तरीके सबको उन्हें ग्रहण करने का अधिकार स्वीकारा नहीं जाता? पू. पा. गोस्वामियों के ही पुत्रों या पुत्रियों को किसलिए हवेली के वारिसदार या बेटीजी बनाने में आता है? इतनी अधिक अहंता - ममता किसलिए? प्रभु को समर्पित होते ही सभी पुत्र - पुत्रियाँ भी प्रभु की ही हो गई। अतः अपनी महाराजियत की अहंता - ममता रखे बिना प्रत्येक पुष्टिमार्गीय लड़के - लड़कियों को भी बाबा - बेटी जी का दर्जा क्यों नहीं देने में आता? क्या महाराज ब्रह्मसंबंध लेते नहीं या मात्र उनके ही पुत्र - पुत्रियों में ममता रखकर उनको ही बाबा - बेटीजी का दर्जा देने में आता

है ! ऐसी अहंता ममता रखने वाले को सर्वसमर्पण का उपदेश देने योग्य अधिकारी कैसे मान सकते हैं? भूलना नहीं चाहिए कि जो बात पुत्र - पुत्री की ममता के लिए कही जा सकती है वही पत्नी में रही ममता के लिए भी कही जा सकती है। फिर तो महाराज की बहुजीओं या वैष्णवों की पत्नियों में अमुक - अमुक पति ममता छोड़कर एक दूसरे को भगवत्प्रसाद के रूप में अपनी-अपनी पत्नियां को क्यों नहीं सौंप देते? बेचारे कितने ही भोले भावुक वैष्णवों ने तो उस ममता त्याग का शौर्य भी प्रकट करके 'महाराज लायबल केस' की बेइज्जती भी स्वीकार कर ली थी। इस मार्ग के गुरु, परंतु सर्वसमर्पण की वह पराकाष्ठा, कभी भी खुद के पुरुषोत्तम होने के दावे के उपरांत, जाहिर में दिखा या कबूल कर नहीं सके! यह कैसा पाखंड है!! इन सब बातों का गहराई से विचार किये बिना, केवल द्रव्यलालसा के वशीभूत होकर सर्वसमर्पण का अगड़ं - बगड़ं अर्थ घटन कर प्रश्न या उत्तर उछालने वाले इस मार्ग के कितनी हीनकक्षा के हितशत्रु हैं, इसमें अब कहने को कुछ नहीं रह जाता।

कितने ही मूर्ख टर्रतृष्ण कहते हैं कि नित्यसेवा में उपयोग में आनेवाली वस्तुएं ही देवद्रव्य होती हैं, इसलिए सोने की कटोरी देवद्रव्य होने से वह सामग्री भी देवद्रव्य थी। ऐसे मूर्खों को क्या कहना। संतदास और किशोरी बाई की वार्ताओं में नित्यसेवा में उपयोग में आनेवाली किसी भी वस्तु को बेचकर या गिरवी रखकर सामग्री भोग धराने में नहीं आई, फिर भी देवद्रव्य से धराई गई सामग्री प्रभु ने अंगीकार की लेकिन संतदास ने उसका प्रसाद नहीं लिया। परद्रव्य से धराई गई सामग्री तो स्वयं प्रभु ने भी अंगीकार नहीं की; इस विषय में किशोरी बाई की वार्ता प्रमाण है। इससे सिद्ध होता है कि ''असमर्पितवस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेद्'' आज्ञानुसार प्रसाद भी असमर्पित होने पर नहीं ले सकते और दैनिक

उपयोग की सभी वस्तुएं यदि ठाकुरजी की सेवा में उपयोग में नहीं लाई जा रही हों तो उन्हें 'प्रसाद' कह या मान नहीं सकते परंतु वे यदि समर्पित हैं तो उपभोगार्ह होती ही हैं। जिन पर अपना स्वामित्व होता है उनका समर्पण हो सकता है; यह बात किशोरीबाई की वार्ता के आधार पर प्रमाणित होती है। इसलिए क्षुद्र स्वार्थ की पूर्ति हेतु यह बात तो मूर्खों द्वारा किया जाने वाला पुष्टिमार्ग का निष्ठुर उपहास है! फिर भी ''महाराज! यह मारग (पेट भरने के लिए कथा भक्ति से आजीविका कमाने का) हांसी-खेल को नाहि (द्रव्य की अद्म्य लालसा के तापक्लेश का नहीं बल्कि पुष्टिप्रभु की प्राप्ति की अद्म्य लालसा का) तापक्लेश को है।''

ये बातें वृत्यर्थ भगवत्कथा करने वालों के भेजे में न उतरना स्वाभाविक ही है!

प्रश्न (2) यदि घर में ठाकुर जी की सेवा तथा दर्शन उपलब्ध हों तो फिर मंदिर में दर्शन करने जाने की आवश्यकता शेष रहती है क्या?

उत्तर (2) वैष्णवों के अपने घरों में बिराजते ठाकुरजी के वोल्टेज, जो देवलकों ने ही कम किए हैं, उससे मोहित होकर वैष्णव भी यदि अपने घर के ठाकुरजी के वोल्टेज कम न मान लेते हों तो कतई आवश्यकता नहीं रह जाती। इसके अलावा भी कितने ही ठोठम - ठोठ कहते रहते हैं कि गोपिकाएं - जैसे नन्दालय में कोई न कोई बहाना करके जाती ही रहती थीं, वैसे ही आधुनिक पुष्टिमार्गियों को भी उन (गोपियों) की गुरुवत मान्यता रखते हुए अर्थात गोपियों के भाव हृदय में रखकर मंदिरों में दर्शन करने भी जाना चाहिए एवं भेंट और सामग्री भी देनी चाहिए तथा मनोरथ भी करवाने चाहिए। पर इसमें भी पूछने - जानने लायक यह है कि :-

(1) नन्दालय में तो प्रभु स्वयं प्रकट हुए थे, अत: नन्द - यशोदा के यहाँ प्रभु का उनके आत्मज तरीके लालन - पालन होता था। तो जिन गोपिकाओं के यहाँ प्रभु इस प्रकार प्रकट न हुए हों उनका नन्दालय में भगवदासक्ति के कारण जाना स्वाभाविक बात थी। कोई भी गोपिका जब उसके घर प्रभु पधारे हों तब अपने यहाँ (प्रभु को) बैठाकर खुद नन्दालय के चक्कर मारने चली गई हो ऐसा वर्णन तो कहीं पर भी नहीं मिलता है। अत: जिस वैष्णव के माथे उसके अपने ठाकुरजी घर में बिराजते हों उसको मंदिर में जाने की जरूरत क्या है? यदि ठाकुरजी घर में बिराजते होने पर भी वैष्णवों का घर नन्दालय तरीके मान्य नहीं हो सकता; यदि कोई ऐसी दलील दे तो मंदिरों को क्या-

(क) गोस्वामी बालकों के घर होने के कारण नन्दालय माना जाता है?

(ख) श्रीमहाप्रभु/श्रीप्रभुचरण के निधि स्वरूप वहाँ बिराजते होने के कारण नन्दालय माना जाता है? अथवा

(ग) मंदिरों में पराये द्रव्य से व्यापारिक पद्धति से निभाने में आते वैभवी भभके के कारण नन्दालय माना जाता है?

(अ) कल्प में :- गोस्वामी बालक यदि अपना ऐसा माहात्म्य अपने मुँह से ही कहते हों तब तो सर्वसमर्पण के उपरांत भी उनकी अहंता ममता छूटी ही नहीं, इस तथ्य का यह प्रमाण बन जायेगा। अब अपने किसी टर्रतृष्ण एजेंट को रु.25,000/ देकर उसके मुँह से कहलाएं तो उसको 'नन्दालय का निश्छल भगवत्प्रेम' नहीं कहकर 'व्यावसायिक प्रपंच' कहना ही - अधिक उचित माना जायेगा। हाँ, व्यावसायिक प्रपंच से अछूता कोई निस्पृह मनुष्य ऐसा विधान करे और वह जब तक अपनी ऐसी धारणा के समर्थक ग्रंथस्थ वचन न दिखा सके तब तक ऐसी धारणा को भ्रम ही समझना चाहिए।

(ब) कल्प में :- मंदिरों में भटकने का प्रकार जहाँ श्रीमहाप्रभुजी - श्रीप्रभुचरण के निधि स्वरूप नहीं बिराजते हो, कम से कम, वहाँ तो बंद कर ही देना चाहिए।

(स) कल्प में :- श्रीनन्द - यशोदाजी ने नन्दालय में अपने लाल के लालन - पालन का आधुनिक महाराजों या मुखियाओं की माफिक कोई धंधा नहीं खोला था। इसलिए गोपिकाएँ वहाँ जाती भी थीं तो वह कोई आपत्तिजनक नहीं था। परन्तु जहाँ व्यापारिक प्रवृत्तिसे भगवत्सेवा का उपद्रव चलता हो उसमें सम्मिलित होने की भावना और चाहना तो सच्चे भक्त को कभी भी रखनी ही नहीं चाहिए।

(2) इसके अतिरिक्त कोई पेट पालने के हेतु से अप्रामाणिक बैठकों में मुखियागिरी का धंधा जमा के बैठा हो कि "गोपिकाएँ शरद ऋतु में भगवान के पास रास रचाने गई थी, तदनुसार कभी - कभी बैठक जी में भी आना चाहिए।" ऐसा विधान जो निर्लज्जतया करता हो उसका उद्देश्य तो क्षुद्र स्वार्थ की दुर्गन्ध फैलाना लक्षित होने से यह सुस्पष्ट है कि आत्म निवेदन के दिव्य आदर्श का प्रसार ऐसे व्यावसायिक ढोंगी कर ही नहीं सकते। ऐसे लोगों के ह्रदय में ब्रजजनों की रीति या प्रीति का तनिक भी भाव हो ही नहीं सकता। और यदि हो तो क्या ऐसे जघन्य अभिप्राय वाले विधान कभी वे कर सकते हैं?

अत: निष्कर्षतया :- जिसके घर में पुष्टिभावना और सिद्धान्त के अनुरूप ठाकुर जी बिराजते हों ऐसे किसी भी वैष्णव को मंदिरों में दर्शनार्थ भटकने की कोई आवश्यकता रह ही नहीं जाती; उसी तरह जहाँ धंधेदारी की प्रवृत्तिसे भगती के ढोंग करने में न आते हों तो ऐसे किसी भी भगवदीय के घर में आते-जाते उसके ठाकुर जी के सादर दर्शन कर लेने में कोई एतराज भी नहीं है।

प्रश्न (3) (क) अपने घर में ठाकुरजी को धराके - समर्पित करके प्रसाद हम ले सकते हैं, मंदिर में समर्पित करके क्यों नहीं ले सकते?

(ख) मंदिर का प्रसाद लेने का आजकल कई शीर्षस्थ महापरुषों द्वारा विरोध किया जा रहा है। आप इस विषय में क्या कहते हैं?

उत्तर (3) (क) अपने घर में भी यदि देवद्रव्य से संतदास जी की तरह भोग धरने में आता हो तो वह ठाकुरजी तो आरोग सकते हैं परन्तु हम उस देवद्रव्य से सिद्ध हुई सामग्री का प्रसाद नहीं ले सकते। क्यों? क्योंकि वह प्रसाद भी देवद्रव्य का ही है।

एक पुष्टिमार्गीय के माथे बिराजते ठाकुरजी को दूसरे किसी अपारिवारिक व्यक्ति के द्रव्य से, किशोरी बाई की तरह, भोग धरने में आया हो तो खुद ठाकुरजी भी नहीं आरोगते होने से वह प्रसाद ही नहीं बनता इसलिए ग्रहण भी नहीं किया जा सकता। ठाकुर जी के नाम से लिये ऐसे द्रव्य से सिद्ध हुई सामग्री या अन्न का भोजन करने पर देव द्रव्य भक्षण और असमर्पितभक्षण, ऐसे दोनों अपराध लग जाते हैं।

मंदिर में भी यदि मर्यादामार्गीय प्रणाली के अनुसार परार्थ - प्रतिष्ठा हुई हो तो प्रत्येक दर्शनार्थी भक्त को समर्पण का अधिकार मिल जाता होने से प्रसाद ले सकते हैं। उदाहरणतया :- पुरी में श्री जगदीशजी का, कांची में श्री वरदराजस्वामी का, द्वारका में श्रीद्वारकाधीशजी का, पंढरपुर में श्रीबिठोबाजी का, उसी तरह तिरूपति बालाजी का, श्रीरंगनाथजी - डाकोर आदि अनेक मर्यादामार्गीय मंदिरों में भी प्रसाद लिया जा सकता है; अपितु सभी पुष्टिमार्गीय लेते ही आये हैं। पुष्टिमार्ग में भगवत्स्वरूप की परार्थ - प्रतिष्ठा का प्रकार तो है ही नहीं अपितु निषेध

है। अत: किसी पुष्टिमार्गीय भगवत्स्वरूप की सेवा सार्वजनिक देवालय की तरह चलती हो तो ऊपर वर्णित दोंनों हेतुओं के कारण प्रसाद लिया नहीं जा सकता। स्वार्थ - प्रतिष्ठापित स्वरूप की सेवा में परद्रव्य के विनियोग को 'समर्पण' कहा ही नहीं जा सकता। अत: देवद्रव्य और परद्रव्य ऐसे दोनों तरह के द्रव्य का अथवा दो में से किसी एक तरह के द्रव्य का तो निश्चय ही भगवत्सेवा में विनियोग होने के कारण ऐसी जगह प्रसाद ले नहीं सकते।

अत: या तो अपने पुष्टिस्वरूपों को पुष्टिमार्गीय मानने की दिव्य निष्ठा को तोड़कर उनके प्रसाद में ही मात्र अनन्यासक्ति जाग्रत करनी चाहिए (!) अथवा तो ऐसा करना यदि स्वमार्ग के साथ गर्हित विश्वासघात हो तो देवद्रव्य या परद्रव्य से धरने में आती भोग - सामग्री का मोह छोडकर, अपने-अपने माथे बिराजते सेव्य स्वरूपों को स्वयं द्वारा समर्पित की हुई भोग - सामग्री का ही प्रसाद तरीके ग्रहण करने का शुद्ध - शुद्ध धर्माग्रह रखना चाहिए।

प्रश्न 3 (ख) में प्रश्नकर्ता ने आजकल कई शीर्षस्थ महापुरुष' संबोधन उपयोग में लिया है। इस संबंध में अच्छी तरह जान लेना जरूरी है कि मात्र आजकल ही नहीं अपितु शुरुआत से ही अनेकानेक महापुरुष इसका विरोध करते ही आये हैं। इस सन्दर्भ में इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में दी गई अभिप्रायामृतावली में से चतुर्थ आत्मज श्री गोकुलेशचरण, श्री बालकृष्ण जी, तिलकायत श्री गोवर्धनलालजी महाराजश्री, अहमदाबाद वाले, श्रीरणछोड़लालजी महाराजश्री और सब के अन्त में निवेदन - प्रसार - मंडल के उपाध्यक्ष के ही पितृचरण के भी (क्रमश: संख्या 3,6,8,12 और 18) अभिप्रायामृत का अवगाहन निश्चय ही विशेष हितकारी साबित होगा।

इन सब अपने शीर्षस्थ महापुरुषों को कोई ठोठम – ठोठ टर्रतृष्ण (जिनकी तृष्णा मेंढ़क की तरह निरन्तर टर्राती ही रहती हो) --- ''खोपड़ी के बल उलटे खड़े होकर'' कहें और हम सब पुष्टिमार्गीय निष्प्रतिवाद उन अपशब्दों के प्रयोग को सुन भी लेते हैं, वह भी केवल जघन्य द्रव्यलालसा को काबू में न रख सकने के कारण, तो इससे बढ़कर धिक्कारास्पद मनोवृत्ति दूसरी अपनी क्या हो सकती है!

प्रश्न (4) (क) ब्रह्मसंबंध करने के बाद सर्वस्व श्रीठाकुरजी का हुआ, फिर उसी में से जो गुरु को भी अर्पित किया जाता है --- उसको 'देवद्रव्य' नहीं कहेंगे?

(ख) क्या देवद्रव्य को गुरु अपने उपयोग में ले सकते हैं?

उत्तर (4) सर्वस्व – समर्पण का सिद्धान्तशुद्ध अर्थ तो इतना ही है कि व्यक्ति के अहं – मम के घेरे में आने वाली प्रत्येक वस्तु और व्यक्ति उस ब्रह्मसंबंध दीक्षा लेने वाले आत्मनिवेदी के अनन्य आधिदैविक स्वामी तरीके, उसके अपने घर में बिराजमान सेव्य स्वरूप की सेवा के लिए है। यदि ऐसा न हो तो मात्र सोने की कटोरी ही श्रीमहाप्रभुजी के घर में 'देव द्रव्य' किसलिए कहलाई? क्यों श्रीमहाप्रभुजी का सर्वस्व 'देवद्रव्य' नहीं कहलाया? कितने ही ठोठमठोठ टर्रतृष्ण कहते हैं कि नित्यसेवा में अर्पित करके उपयोग में आते वस्त्र – आभूषण – झारी – बंटा – कटोरी – सिंहासन – खण्डपाट – चौकी आदि देवद्रव्य बन जाने से अग्राह्य होते हैं। ठोठमठोठ की तरह बात करनी हो तो ब्रह्मसंबंध दीक्षा लेते समय सभी समर्पित कर दिया होने से, असमर्पित कुछ शेष न रहने से अलग से अर्पित करने लायक तो शेष कुछ रहता ही नहीं है। फिर भी समर्पित वस्तु को अर्पित करने से यदि समर्पण निरस्त होता हो तो सिद्ध हो गया कि सर्वस्वसमर्पण उपरांत भी सब कुछ समर्पित नहीं हो जाता

और यदि समर्पण निरस्त न होता हो तो सोने की कटोरी भी मूल में तो प्रत्येक वस्तु की तरह समर्पित ही थी,फिर उसको गिरवी रखने से मिले द्रव्य से सिद्ध सामग्री का प्रसाद लेने में बाधा कैसे आई?

हकीकत में प्रभुचरण तो इन सुन्दर शब्दों में आज्ञा करते हैं – दाने हि न स्वविनियोगो न तु निवेदने। अन्यथा निवेदितान्नादेर्भोजनं न स्याद्, अनिवेदितस्य निषिद्धत्वात्।' इसी तरह ''त्वयोपभुक्तस्रगं-धवासोऽलंकार – दासास्तव मायां जयेमहि (भाग. 11/6/46)'' वचनानुसार वस्त्राभूषण भी समर्पित करके ही सेवकों को अपने उपयोग में लेने चाहिए। अत: 5/50 वर्षों के लिए नित्यसेवोपयोगी तरीके रखने में भी आये हों, उससे कोई ऐसे वस्त्राभूषण या सोने-चांदी के पात्र देवद्रव्य नहीं बन जाते। उसी तरह एक बार सेवा में उपयोग में लेने के बाद में पुन: उपयोग में न ले सकें, ऐसे अन्न – वस्त्र – पुष्प – जलादि – सामग्री देव द्रव्य बनती ही नहीं है, ऐसा भी नहीं है। अथवा तो अर्पण करने में आई हुई वस्तुएँ ही देव द्रव्य बनती हैं और समर्पण करने में आई हुई वस्तुएँ नहीं, आदि सारे के सारे हेतु मनघड़ंत हेतु हैं। क्योंकि पुष्प – इत्र – वस्त्र – आभूषण – अन्न सामग्री भी यदि दान के रूप में प्रभु को दिए गए द्रव्य से सिद्ध की गई हो तो हम उसको 'प्रसाद' कह कर अपने उपयोग में नहीं ले सकते। पर अपनी मालिकी के वस्त्र – अलंकार – सोने के पात्र भी हम ने 5/50 वर्ष के लिए भगवत्सेवार्थ समर्पित किये हों, (जो सिद्धान्त अनुसार करने ही चाहिए) तो उपयोग में ले सकते हैं।

यह नियम कोई ''खोपड़ी के बल औंधे खड़े'' ठोठम – ठोठ टर्रतृष्ण हों या उसको ''पुष्टिसिद्धान्तों से अधिक संपृक्त होने से सुन्दर'' कहकर ''अहो रूपमहो ध्वनि'' न्याय के अनुसार बखान करने वाला हो – सभी पुष्टिमार्गीयों पर लागू होता है। ठोठम – ठोठों को ग्रन्थगत आज्ञाओं

की समझ तो धन लोभ के कारण होती नहीं, अत: ग्रन्थों के साथ स्नान - सूतक तक का संबंध नहीं रखने वाले नवनीत जैसी कोमल बुद्धि वाले वैष्णवों को उल्टी पट्टी पढ़ाते हैं:- ''परोसत गोपी घूंघट मारे। घर की सोंज मिलाय थाल में आगे लें जब धारे।'' इस कीर्तन में वर्णित भावनानुसार अपने माथे न बिराज कर मंदिरों में बिराजते ठाकुर जी को भोग धरकर, संकोच होता हो तो बिना मांगे और प्रेम की पराकाष्ठा में मांगकर, (या कोर्ट में दावा करके भी) प्रसाद लिया जा सकता है। यह तो शुद्ध टर्रतृष्णा के ढोंग हैं क्योंकि पद में किए गए वर्णन के अनुसार तो यशोदा के वहाँ गोपीजन खुद के घर में सिद्ध की हुई सामग्री श्री यशोदोत्संगलालित की आरोगने की थाल में परोसती थी, तदनुसार वैष्णवों को अपने घरों में सिद्ध की गई सामग्री सीधे नहाए बिना भोगमंदिर में घुसकर ठाकुरजी के आरोगने के थाल में परोसने की छूट क्यों देने में नहीं आती? अरे अपरस के कुछ लफड़े हों तो बैठकों की माफिक अपरस में स्नान कराकर तो छूट देनी चाहिए! किस कारण ''यह नित नेम यशादाजू मेरे तिहारो ही लाल लडावन को। प्रात समय उठ पालने झुलाऊ '' अथवा तो ''रानीजू एक वचन मोहे दीजे। पठवो सदन हमारे सुत कों कह्यो मान मेरो लीजे''-या ''आज गोपाल पाहुने आये, निरखत नैन अघायेरी'' पदों में वर्णित भावनानुसार मंदिरों में बिराजते ठाकुरजी को पलना झुला सकने या वैष्णवों के अपने घरों में भोग आरोगने के लिए पधराने की छूट क्यों नहीं देने में आती? कम से कम और कुछ नहीं तो, अपने खुद के माथे बिराजते ठाकुरजी के लिये तो ''अपरस में स्नान कर वैष्णव पलना झुला सकते हैं, इसी तरह भोग धरने खुद के घर पधराना चाहते हों तो, पधरा भी सकते हैं''। ऐसी आज्ञा ''पुष्टिसिद्धान्तों से अधिक संपृक्त होने से सुन्दर'' होने के कारण तो देनी ही चाहिए! पदों में वर्णित

लीलानुसार भगवत्सेवा के सिद्धान्त का हिसाब-किताब करने वाले, वास्तव में, जो ऐसी छूट भक्ति की व्यावसायिक फजीहत के भोग बने हुए वैष्णवों को देते हैं तो सौ में से अस्सी प्रतिशत वैष्णव पू.पा. गो.बालकों की माफिक व्यावसायिक नाटक तो ठाकुर जी का नहीं ही करेंगे, इतना विश्वास तो मुझे है।

''दत्तापहारवचनं --- भिन्न मार्ग परं मतम्'' वचन का ढोल पीटकर शोर मचाने वालों को प्रभुचरण के मधुर स्वर ''दाने हि न स्वविनियोग न तु निवेदने'' अदम्य धन लालसा के कारण ही सुनाई नहीं देते!

''न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्'' कहने वाले हरिजन मुसलमान या ईसाइयों को मंदिरों में क्यों नहीं नहवाते? अखिल देहधारियों में अंतरात्मा रूप प्रभु को खुद ही पू.पा. गो.महाराजश्री या प.भ.मुखियाजी बनकर पचा लेना चाहते हैं? अखिल देहधारियों के अन्तरात्मा का ठेका क्या कोई व्यक्ति या परिवार ले सकता है? अब तो ब्रजवासियों को भी मंदिर में मुखिया - भीतरिया बनाने में ये व्यावसायिक ढोंगबाज झिझकते हैं। अत: यह तो मात्र शास्त्र की पोथी के बैंगन हैं अन्य कुछ नहीं।

चतुर्थ आत्मज श्रीगोकुलेशजी, श्रीहरिरायजी, श्रीपुरुषोत्तमलालजी से लेकर आधुनिक महानुभावों में नि.ली.तिलकायत श्रीगोवर्धनलालजी महाराजश्री, नि.ली.श्रीरणछोड़लालजी और भूतल पर बिराजमान सप्तम पीठाधीश - श्रीघनश्यामलालजी आदि अनेक आदरणीय महापुरुषों को 'कापुरुष' कहने वाले ठोठम - ठोठ इस मार्ग में वास्तविक रूप में सच्चे कापुरुष हैं। इस संबंध में अब कहने को कुछ भी रह नहीं जाता है। इसीलिए कभी - कभी व्यावसायिक दुष्ट हेतु से

चलाई जाती बैठकों में (ऐसी बैठकें जिनकी प्रामाणिकता भी संदिग्ध हो) मुखियागिरी करने वाले श्री मुखियाजी भोले - भाले वैष्णवों को ''गोपियाँ जैसे रास में गई थीं वैसे आपको भी कभी - कभी बैठक जी में आना चाहिए'' ऐसे धार्मिक प्रलोभन से ललचाते रहते हैं !

प्रश्न (5) कहीं - कहीं आजकल ऐसा कहा जा रहा है कि ''मंदिरों की आवश्यकता ही नहीं है। वहाँ विराजमान ठाकुर जी पुष्टि पुरुषोत्तम ही नहीं हैं, इसलिए मंदिरों में ठाकुर जी को धराई सामग्री प्रसाद होती ही नहीं'' परन्तु श्रीआचार्यचरण, श्रीवल्लभ तथा परमदयाल श्रीगुसांईजी के देश - परदेश, देश के प्रख्यात मंदिरों में जाने का वर्णन अनेक मार्गीय ग्रन्थों में पढ़ने को मिलता है। श्रीमहाप्रभुजी भारत के प्राय: सभी मंदिरों में गए हैं। भोग भी धराया है। श्री गुसांई जी के छ: बार द्वारका जाने का उल्लेख है, जगन्नाथपुरी तथा डाकोर भी जाने का उल्लेख उपलब्ध है। मंदिरों की आवश्यकता न हो तो क्यों वे मंदिरों में गये और क्यों भोग धराया? जगन्नाथपुरी के मंदिर में तो श्रीमहाप्रभुजी का प्रसाद लेने का भी उल्लेख है - एकादशी होने से द्वादशी में लिया। यह क्या है?

उत्तर (5) ऊपर की गई छानबीन के बाद इस प्रश्न का अलग से उत्तर देने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। फिर भी कितने ही ठोठम - ठोठ टर्रतृष्ण (मेंढ़क की तरह टर्र - टर्र करने की तृष्णा वाले) खुद पारिवारिक विषमता के कारण पढ़ नहीं पाने से और लघुताग्रन्थि से पीड़ित होने के कारण ग्रन्थ वचनों पर आधारित प्रत्येक बात को 'पंक्ति लगाने का पाखंड' कह कर निंदा करते होते हैं। स्वयं का परंपरावादी के रूप में यशोगान कर घर में की जाती भगवत्सेवा को 'फ्लैटों में ठाकुरजी को सड़ाया जा रहा है' कह कर अपनी खानदानियत का प्रदर्शन करते होते

हैं! इसके अतिरिक्त कितने ही टर्रतृष्ण ऐसा भी कहते हैं कि - ''सच्चा पुष्टिमार्ग तो व्रज में रहकर भगवत्सेवा करने में है।''- तो महाप्रभुजी - प्रभुचरण या पांचवीं छठी पीढ़ी के हमारे अधिकांश पूर्वज व्रज में नहीं रहकर, अड़ेल या गढ़ा में रहते थे। अथवा व्रज छोड़कर जयपुर - उदयपुर - बीकानेर जाकर बस गये थे तो वे सब क्या पाखंडी थे? क्या अपने ठाकुरजी के 365 दिनों के, नई कंपनी की तरह शेयर बेचने वाले ही सच्चे पुष्टिमार्गीय हैं? अरे हकीकत में जो इतनी व्रजभक्ति हो तो कम से कम नये सिरे से कोई मंदिर तो ब्रज के बाहर नहीं खरीदना चाहिए! क्या श्रीनाथजी की सेवा व्रज में करने के बजाय सिंहाड़ में की जाती हो तो वह पाखंड है? मेरे बचपन में चेचक के टीके लगवाने की परंपरा गोस्वामी कुल में नहीं थी -- आज तो पू.पा. गोस्वामी बालक जात-पांत के भेद - भाव की परंपरा तोड़कर ऑपरेशन होने पर अन्य का रक्त अपने शरीर में तथा दूसरे मनुष्यों के अंग-प्रत्यंग का आरोपण कराने लगे हैं। अब विचारणीय यह है कि उस रक्त या अंग के साथ यदि सेवा में नहा सकते हैं तो जिस जाति के मनुष्य का रक्त या अंग-प्रत्यंग अपने भीतर आरोपित हुआ है उस जाति का मनुष्य परंपरा से करने में आती सेवा में नहा सकता है कि नहीं?

अत: स्वयं के देहपोषण-हेतु परंपरा को ऊपर टांग देने में रत्तीभर भी बाधा नहीं आती और भगवत्सेवा की यथाशक्य परवाह करने में परंपरा का बहाना लेकर उसकी निंदा करते हैं! इसके अतिरिक्त कभी यह भी कहते रहते हैं कि - ''श्याम मनोहर जी विलंबित मंगला कराकर मात्र एक समय की ही सेवा करते हैं। बाकी तो पूरे दिन पंक्तियाँ जोड़ने का पाखंड करते रहते हैं।'' यह आरोप हालांकि मेरे ऊपर एकदम सच है, परन्तु इस आरोप की प्रासंगिकता तब ही सच्ची मानी जायेगी - जब मैं

कोई ऐसा दावा करता होऊँकि ''मैं आठों याम समय से सेवा में पहुँचता हूँ''। यद्यपि श्रीमहाप्रभुजी - श्रीप्रभुचरण की कृपा से मैंने कभी भी ठाकुरजी को शृंगार धराते समय ऊँट, घोडा प्यादा से शतरंज के खानों को शृँगारित किया नहीं है। अथवा भोग धरने के समय ठाकुरजी के चरणों में तुलसी समर्पित करने की बजाय स्पोर्ट मैगेजीन्स या टी. वी. को मेरे नयन- समर्पित कतई नहीं किया है। फिर भी मंगला से लेकर शयन पर्यन्त तक की सेवा में स्वयं पहुँच सकने की सामर्थ्य मेरे में नहीं है, यह एक कहीकत है। मेरी इस न्यूनता का महाप्रभुजी के सिद्धान्त के सच्चे स्वरूप के साथ क्या लेना देना है? यदि यह कहो कि ऐसे सिद्धान्तों को कहने वाला मैं कौन? तो मैं भी पूछना चाहता हूँ कि सच्चे सिद्धान्तों को कहने से मुझे रोकने का किसी को क्या अधिकार है? यदि यह कहो कि मुझे पाखंड करने से रोकने के लिए कहा जा रहा है तो फिर यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि महाप्रभुजी के सिद्धान्तों से विरुद्ध के कृत्य जो निश्चित ही पुष्टिमार्ग में पाखंड ही हैं, उनको रोकने के लिए मैं भी सच्चे सिद्धान्त कह रहा हूँ!

दूसरे कुछ ठोठम - ठोम टर्र तृष्णा से पीड़ित होने के कारण कहते रहते हैं कि 'मंदिर' और 'घर' समानार्थी शब्द हैं। वे कहते हैं कि बड़े घर को 'मंदिर' कहा जाता है और छोटे मंदिर को 'घर' कहा जाता है। अत: मंदिरों का विरोध करने वाले सभी धेनुकासुर हैं जो प्रभु की सम्पत्ति हड़प कर जाना चाहते हैं। हकीकत में तो यह कहने वाले खुद यमुना किनारे बैठे पाखंडी बकासुर हैं! क्योंकि घर और मंदिर दोनों अलग - अलग न हों तो वैष्णवों को यह गलत उल्टी - पट्टी क्यों पढ़ाई जाती है कि घर में सेवा से पहुँच कर मंदिर दर्शन करने प्रतिदिन आना चाहिए, और कभी - कभी बैठकों में भी दर्शन करने और भेंट धरने आना चाहिए? अत: ऐसे दम्भी

बकासुर खुद ही ''श्रीयमुना, श्रीविट्ठल जपना और पराया माल अपना'' समझ कर द्रव्य के लोभ में पुष्टिप्रभु को ही निगल जाना चाहते हैं। गद्यमंत्र में, आगार =घर और वित्त=धन दोनों का एक साथ समर्पण करने का उल्लेख है। उसमें घर को अर्पित और धन को समर्पित मानने की मूर्खता भरी बात तो पाड़े को भी हंसी आने जैसी बात है। इसलिए ऐसे ठोठमठोठ कभी-कभी यह भी कहते हैं कि - ''मंदिरों को बेचकर नया घर बनाने वालों को जब देवद्रव्य का भक्षणकर्ता मानने में नहीं आता तो ठाकुरजी के नाम से जनता से भेंट - सामग्री लेने वालों को कैसे देवद्रव्य खाने वाला मानने में आता है? हकीकत में तो कौन देवद्रव्य खाता है और कौन नहीं खाता यह विचारणीय मुद्दा है ही नहीं? विचारणीय मुद्दा अपने सामने मात्र यही है कि किस प्रकार से स्वीकारने से वह देवद्रव्य बनता है और किस प्रकार से परधन लेने पर वह देवद्रव्य नहीं बनता। फिर भी सिद्धान्त को ध्यान में रखकर की गई छानबीन को यदि व्यक्ति को ध्यान में रखकर की जाने वाली बनाना ही हो तो इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यदि 'गृह' और 'मंदिर' समानार्थी शब्द माने जाते हों तो जो कोई पुष्टिमार्गीय होगा उसके घर में ठाकुरजी तो बिराजते ही होंगे, इससे कोई हर पुष्टिमार्गीय का घर देवसम्पत्ति नहीं हो जाता। क्योंकि फिर तो कोई भी पुष्टिमार्गीय अपना घर कभी बेच ही नहीं सकता! ठाकुरजी बिराजने के बावजूद यदि एक वैष्णव का घर देव को 'अर्पित' या भेंट धरी हुई संपत्ति न बनता हो तो गोस्वमियों की हवेलियों, मंदिर या घर को किसलिए देवार्पित या ठाकुरजी को भेंट धरी हुई सम्पत्ति मान लेनी चाहिए? अत: यदि कोई गोस्वामी अपना पुराना घर = (हवेली=मंदिर) बेचकर, नया फिर चाहे एयर कंडीशंड बंगला या छोटा फ्लेट ही बनवाए, उससे कोई भी फर्क नहीं पड़ता। पर आलू - बैंगन जैसा द्रव्य भी यदि

किसी दूसरे के पास से ठाकुरजी के नाम पर मांगा हुआ हो तो वह देवद्रव्य बन जाता होने से उसको अपने काम में लेने वाला तो निश्चित देवद्रव्यभक्षक होता ही है।

प्रश्न (6) **श्री ठाकुर जी अचल हैं। गुरु उनकी सेवा करते हैं तथा चल हैं। तो महत्ता किसकी अधिक समझनी चाहिए -- चल की या अचल की = गुरु की या ठाकुर जी की? ठाकुर जी को एक किनारे (साइड ट्रेक) करने का प्रयास होता हुआ मालूम पड़े, तो ऐसी स्थिति में हमें क्या करना चाहिये?**

उत्तर (6) सिद्धान्तानुसार जो गुरु स्वयं आजीविका कमाने या पद-प्रतिष्ठा कमाने के दंभ से भगवत्सेवा न करता हो, अपने ही घर में अपने तन-धन-परिजनों के विनियोग पूर्वक सार्वजनिक प्रदर्शन किये बिना भगवत्सेवा करता हो और खुद ठोठम - ठोठ न होकर, भागवत् तत्वज्ञ होने के कारण वैष्णवों को सच्चे धर्ममार्ग की तरफ ले जाता हो तो प्रारम्भ में उसकी कुछ महत्ता तो है ही। अंत में सच्ची और सर्वोपरि महत्ता तो प्रत्येक पुष्टिमार्गीय वैष्णव के लिए अपने घर में बिराजते सेव्य स्वरूप की ही है। किसी भी परिस्थिति में मंदिरों में व्यावसायिक हेतु से किए जाने वाले ठाकुर जी के व्यावसायिक पाखंड को प्रोत्साहन देने की तो कतई नहीं।

इस तरह ठोठम - ठोठ टर्र तृष्णों की निम्न स्तरीय बातों के सिद्धान्त शुद्ध समाधान हमने देखे।

हकीकत में तो स्वार्थ अज्ञान और अहंकार के हल्के से हल्के पायदान की मनोवृत्ति से लिखवाई गई ऐसी बुद्धिहीन बातों का समाधान देना भी आवश्यक न था। फिर भी ऐसे शीतला माता के वाहन - ठोठम - ठोठों को किराये के लेखक की तरह आगे करके महा(का) पुरुष

पुष्टिमार्ग के दिव्य सिद्धान्तों के साथ राजनीतिक दाव-पेंच का जो गंदा नाटक खेल रहे हैं, उनके पाखंड को अनावृत करने के लिए ये समाधान मुझे लिखने पड़े।

तासों ऐसे बकासुर अरू तिनसों अधिक संपृक्त रहिके संग करिवेवारेन की महिमा को बखान कहाँ तांई करिये!

समाप्त